काशी प्रतिमान

वार्षिकी

साहित्य और पत्रकारिता पर केन्द्रित

१९९८

धरोहर

क्रान्ति का अमर संदेश

शिवपूजन सहाय

ऐ भारतीय युवक ! तू सावधान हो जा, सम्हल जा, मैं आ रही हूँ- देख, तेरे सिर के ऊपर मँड़ला रही हूँ-आँखें खोल, तेरे चारो तरफ छा गयी हूँ- होशियार हो जा, दहल मत, कातर मत हो; कान देकर दसों दिशाओं में मेरा हाहाकर सुन ले। पहचान तो, मैं कौन हूँ ?

बेटा, अधीर मत हो, घबरा मत, शान्त हो; मैं तेरे ही लिए दौड़ी आ रही हूँ- अगाध सिन्धु की उत्ताल तरंगें पार कर मैं तुझी को गोद में भरने के लिए आई हूँ। आ बेटा, 'प्रताप' की आह मिटा बेटा, 'शिवा' का मोह छुड़ा बेटा, 'गोविन्द' की हाय हटा बेटा; मेरा लल्ला, मेरा हीरा! तू सकपकाता क्यों है ? तू सहमता क्यों है ?

मेरा कलेजा ! जरा दम धर, तनक ढाढ़स कर, मैं चुटकियों में तुझे चंगा कर दूँगी- ले, मेरी स्नेहधारा पी–च्वुः–च्वुः–पी-पी, मेरा बब्बो, पी; यह दूध की धार नहीं बेटा- अमृत की घुट्टी है–ले, पी; तेरी नसों में बिजली दौड़ जायेगी–तेरी कायरता काफूर हो जायगी- तेरी भीति खड़ी होगी–जरा अपने कम्पित अधरों को टिका कर इसकी एक घूँट भी तो पी सही; फिर देख, इसके करामात–पल-भर में काया पलट हो जायगा–बस अभी-अभी तेरे पैरों में अंगद-पैर की दृढ़ता होगी, तेरी भुजाओं में भीमार्जुन की सम्पुट-शक्ति होगी, तेरी छाती में विश्वविजयी रघु का रक्त होगा, तेरी आँखों में त्रिशूली त्र्यम्बक का तेज होगा, तेरी मुठ्ठी में वज्र-मुष्टि-प्रहारी हनुमान का अमोघ संघात होगा, तेरी वाणी में इन्द्रजित् के घन-घोष की तरह वज्र-निर्घोष होगा, तेरी ललकार में लड़ाके लक्ष्मण की सी फुफकार होगी, तेरी एकाग्रता में एकलव्य की सी अटलता होगी, तेरी हर एक साँस से झंझावात की सृष्टि होगी।

सच कहती हूँ, बात मान, तू सचमुच पल-भर में प्रलय का पुतला बन जायगा। तेरी आँखों से चिनगारियाँ बरस कर भीति-भर्त्सना को भस्म कर देंगी, तेरे भुजदंडों पर ताल की ठोक पड़ते ही दिशाएं थर्रा उठेंगी, तेरे ओठों के दाँतों से चाँपते ही तूफान बरपा हो जायेगा- हिमालय तेरे चरणों पर सिर टेकेगा, समुद्र की लहरें तेरे पैर पखारेंगी, मेघ उमड़-उमड़ कर तेरा अभिषेक करेंगे, बिजलियाँ तेरी आरती उतारेंगी, तारे टूट-टूटकर तेरे गले का हार आ बनेंगे, चाँद-सूरज तेरे विजय-मुकुट के मणि बनकर जगमगायेंगे और धरित्री तुझे धारण कर धन्य होगी।

अच्छा ! अब कहीं तेरी रगों में खून का दौरा हुआ ! हाँ, देख रही हूँ–तेरे हृदय का यह संजीव स्पन्दन, तेरे रोम-रोम का यह जीवन्त स्फुरण, मैं खूब अनुभव कर रही हूँ–तेरे भावों का यह ज्वलन्त जागरण, तेरे विचारों का यह उत्तुंग उत्थान मैं गौर से सुन रही हूँ- तेरी आकांक्षाओं का यह ताण्डव गान, तेरी आहों का यह प्रलय-संगीत बड़े ध्यान से परख रही हूँ- तेरे लक्ष्य की संवेग गति को, तेरे राष्ट्र की नाड़ी को, तेरी उद्वेग-भरी मनोवृत्ति को। अच्छा शान्त रह, मैं तुझी को अपना अस्त्र बनाकर अग्निमय खेल खेलूँगी। (१९२९ ई०)

आदरणीय मोदी जी को

काशी प्रतिमान

वार्षिकी

साहित्य और पत्रकारिता पर केन्द्रित

१९९७

सम्पादकीय सलाहकार

ज्ञानेन्द्रपति

डॉ. ओम निश्चल

डॉ. देव

प्रकाश उदय

सम्पादक

डॉ. सुरेश्वर

प्रकाशक एवं मुद्रक श्रीमती इन्दु के लिए प्रतिमान कम्प्यूटर्स, बी १/८४ डी अस्सी वाराणसी से कम्पोज होकर सहयोगी मुद्रणालय, बड़ा गणेश से मुद्रित एवं बी १/८४ डी, अस्सी, वाराणसी से प्रकाशित।

आर. एन. आई. पंजीयन संख्या—५८४४/६३

फोन—३१३२१२

इस अंक का मूल्य : ५० रुपये

काशी प्रतिमान का संपादन सहयोग अवैतनिक है।

आवरण छायाचित्र : सुरेश्वर

अनुक्रम

सम्पादकीय

काशी प्रतिमान की साहित्य और पत्रकारिता पर केन्द्रित वार्षिकी आपके हाथों में है।

इसका प्रकाशन ऐसे समय में हो रहा है जब लिखे गये शब्द का अस्तित्व संकट में है, क्योंकि पढ़त कम हो रही है, टी. वी.-वीडियो से टकटकी बाँधे जीवन-यापन करता मध्य वर्ग अब पठनीय नहीं, पलटनीय पत्रिकाओं को ही हाथ लगाता है, यदि उसके हाथ से रिमोट कंट्रोल छूटकर कभी कोई पत्रिका लग भी गयी। उसे यह जानने की फिक्र नहीं कि उसका अपना रिमोट कंट्रोल किन हाथों में है। वे कौन से हाथ हैं जो उसकी आशा-आकांक्षाओं को, स्वप्नों-संकल्पों को निर्मित-नियंत्रित कर रहे हैं--यह जानने की फिक्र यदि उसे नहीं है तो इस कारण भी कि सत्यार्थी बन कर अपनी आँखों को दाह देने की जगह मिथ्या छवियों के रुचिर संसार में जीना उसके सुविधापरस्त मानस को मुआफिक पड़ता है। कभी कार्ल मार्क्स ने धर्म को अफीम बताया था--जनता की विद्रोह-चेतना को कुंद करने वाली अफीम; आज धर्म की जगह विज्ञान ने ले ली है और सभ्यता के औद्योगिक दौर का विज्ञान पूँजीवाद की सर्वग्रासी बुभुक्षा के हाथों में काँटा-चम्मच बनने को विवश है। आज तो वह वृद्ध पूँजीवाद साम्राज्यवादी दैत्य बना बैठा है। तथाकथित संचार-क्रांति हुई तो है, सूचना-राजपथ आपके लिए खोल तो दिया गया है, पर जैसा कि इसके एक आरम्भिक अध्येता मार्शल मेक्लूहन ने कहा था 'माध्यम ही संदेश है', आप हमेशा ग्रहण करने वाले सिरे पर होते हैं और आपके लिए इसके पास हमेशा एक व्यावसायिक संदेश होता है। ऐसे में स्वाभाविक रूप से पहले तो साहित्य और फिर धीरे-धीरे पत्रकारिता की सामाजिक प्रासंगिकता छीजने लगती है। ऐसे नयनाभिराम जमाने में आपको विचार-बोझिल करने के दुस्साहसी इरादे के साथ यदि हम उपस्थित हुए हैं तो इस भरोसे के साथ ही कि ऐसे लोग हैं, बहुतेरे लोग, बौद्धिक निष्क्रियता की निश्चिंतता से भरा हुआ जीवन जिन्हें स्वीकार नहीं होता।

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, साहित्य और पत्रकारिता का एक दूसरे के अभिन्न साहचर्य में विकास हुआ है। हिन्दी के नवयुग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आज ज्ञानरंजन के सम्पादन में निकलने वाली 'पहल' तक इस सत्य की साखी मिलती है। यह सच है कि पूँजीवाद के अभ्युदय-काल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने वृहत्तर भारत के दमनकारी शोषण के द्वारा पश्चिम को वह समृद्धि दी जिसका घमंड उसे आज भी है, तो सहवर्ती सच यह भी है कि औपनिवेशिक दासता से भारतीय जनता के संकल्पित मुक्ति-प्रयत्नों के भीतर से ही हिन्दी पत्रकारिता ने अपना जुझारू स्वरूप पाया था और हिन्दी साहित्य ने नयी करवट ली थी। यहाँ रेखांकित किया जा सकता है कि उथल-पुथल के उन दिनों में अंग्रेजी पत्रकारिता का चरित्र मुख्यतया समझौतावादी और सत्ता-समर्थक था। यह हिन्दी पत्रकारिता ही थी जो जिस्म पर हजारों जख्म सहकर अपने सम्पूर्ण आत्म-बल से जनता की जुबान बनने को कृतसंकल्प थी। हिन्दी

पत्रकारिता का वह लोकोन्मुख और संघर्षशील चरित्र, आजादी के बाद पत्रकारिता के लाभकारी व्यवसाय बनते ही, धीरे-धीरे बिलाने लगा। पहले तो बड़े व्यावसायिक घरानों ने एक और लाभकारी उद्योग के रूप में अखबार निकाले और आज हालत यह है कि खुल्लमखुल्ला जनता की गाढ़ी कमाई का कपटदोहन करने वाली फायनान्स कम्पनियाँ अखबारों को शिरस्त्राण, कवच और गदा की तरह धारण कर रही हैं; ये अखबार अपने स्वामियों को सत्ता-केन्द्र तक पहुँचाने वाली सीढ़ी भी हैं। ये सब कुछ हैं, जनता की जुबान नहीं। जब कि आज देश के सामने दूसरी बार व्यवसायी साम्राज्यवाद के हाथों दासता भोगने का खतरा दरपेश है। यह दूसरी दासता दूसरी तरह की भी है। यह बड़ी मोहक है, इसका स्वाद चाकलेट की तरह मीठा है, इसकी छुअन मे कोकाकोला की दाहक शीतलता है। इसका चेहरा खूँखार नहीं, खुशनुमा है। इसमें पीड़ा नहीं उपजती, आनन्द उपजता है, क्योंकि आनन्द के मापदंड तय करना उनके हाथों में है। वे जो विश्व के वक्ष में शूल की तरह गड़े हुए हैं, जिनकी भोग-लालसा समृद्धि के सृजन के नाम पर पृथ्वी को उजाड़ रही है। वे जो पश्चिमी बहुराष्ट्रीय निगमों के चेयरमेन हैं, पश्चिमी मुल्कों के श.सनाध्यक्ष ही जिनके अर्थभोगी राजनीतिक कर्मचारी नहीं होते, बल्कि दूसरे 'गरीब' मुल्कों के प्रभुवर्ग भी जिनके क्रीतदास होते हैं—कमीशनखोर एजेण्ट।

ऐसे में पत्रकारिता नयनाभिराम और निष्प्राण होती है और एक पिछड़े देश के अगड़े मस्तिष्क पर अंतरिक्ष से उत्तरआधुनिकता चू पड़ती है; बौद्धिक वातावरण भ्रमतंतुओं से बुना होता है। उनके चालाक मुहावरों को निहायत भोलेपन से अंगीकार किया जाता है। उन्होंने हमें अविकसित कहा और हमने अपने को अविकसित मान लिया, उन्होंने हमें विकासशील होने का तमगा दिया और हम खुश हो लिये। अब वे विश्वग्राम की बात कर रहे हैं और हम उनके गँवमनई बनकर फूले नहीं समा रहे हैं। जिसे वे कभी भूमण्डलीकरण, और कभी वैश्वीकरण कहते हैं, वह भू-बाजारीकरण का बुद्धिजीवीजनप्रिय नाम है। ऐसे कपटी मुहावरों के मुखौटों को नोंच फेंकते हुए हमारे समय-समाज की जटिल सच्चाई को सहज-सरल भाषा में रखना हमारा अभिप्रेत है। जिस दुरभिसंधि के तहत पत्रकारिता को साहित्य से और साहित्य को विचार से काट कर हमारे मनोजगत का 'अनुकूलन' किया जा रहा है, हम उसके प्रति सचेत हैं, और यह चेतना ही हमारी मूल प्रेरणा है।

विशेष प्रस्तुति

धूमिल का अप्रकाशित लेख

छोटी पत्रिकाएँ और छोटे लोग

असली कारण तक जाने के लिए, बात बड़ी पत्रिकाओं से शुरू करूँ तो कैसा ?

अर्सा हुआ इसे चालू हुए कि पाठकों की रुचियों और आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना 'बड़ी पत्रिकाओं' का पुनीत कर्त्तव्य है। लेकिन सही बात भेद खोल देती है। रुचियों का सतहीकरण और आवश्यकताओं का सरलीकरण–व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का निशाचरी अनुष्ठान है। पूरे तौर पर भ्रष्ट रुचिबोध और 'अनावश्यक की आवश्यकता' का प्रचार करने की सफलता उन्हें एक हद तक सस्ते लेखन की ओर ले गयी है। ये तथाकथित 'बड़ी पत्रिकाएँ' साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक अंकों–विशेषांकों के रूप में लाल-पीले पन्नों पर जो कुछ फेंकती रही हैं उससे आज का अधिकांश भावुक पाठक अपने बोदे दिमाग की ठंढी नसें गरमाता रहा है और बौद्धिक खुराक के नाम पर बासी प्रेम कहानियाँ, साप्ताहिक राशि-फल, शिकार-वृत्तान्त, चुटकुले और कार्टून-कोने का सड़ा-गला राशन पाता है। कुल मिलाकर आज के पाठक को, बड़ी पत्रिकाओं के माध्यम से गलत रुचि, गलत आवश्यकता, गलत मनोरंजन, गलत आधुनिकता और गलत भाषा का शिकार बनाया गया। और इस 'हांके' में अक्सर जमे हुए और अधनये लेखक कभी मंच और कभी मचान बनाते रहे।

लेकिन हाल में ही नये लोगों ने इस आपाधापी को महसूस किया। ये नये सिर्फ लेखक ही नहीं, उनमें राजनीतिज्ञ, इंजिनियर, मजदूर, दुकानदार, सरकारी कर्मचारी, चित्रकार, कवि-कथाकार; वकील, यानी हर खेवे और हर पेशे के लोग हैं। मैं इन्हें आयु और आमदनी के लिहाज से अलग नहीं करता। ये समय के अनुसार नहीं बल्कि समय की मांग के अनुसार चलने वाले लोग हैं। इन तमाम लोगों ने महसूस किया कि देश का आदमी और देश की भाषा दो जगह बंटी पड़ी है, बीच में प्रजातंत्र की चौड़ी दरार है। इन तमाम लोगों ने महसूस किया कि व्यवस्था ने एक खास वर्ग को भ्रष्ट भाषा की अंधेरगर्दी में लूट की खुली छूट दे रखी है। हिन्दुस्तानी समाज आम आदमी और खास आदमी में बंट गया है। इस माहौल से छूटने की बेचैनी ने हर जगह की इस धोखाधड़ी के खिलाफ आवाज बुलन्द की है। छोटे-बड़े शहरों-कस्बों से कामकाजी जिन्दगी के कुछ टुकड़े काटकर, जेब से खर्च का पैसा बचाकर लिखित रूप से आदमी ने अपनी ऊब को आकार देना शुरू किया। पहली बार रचना के लिये अकेले होने का खतरा उठाकर उन्होंने अन्याय के विरुद्ध रचनात्मक युद्ध शुरू किया। मेरे मत से छोटी पत्रिकाओं की शुरुआत की यही बुनियाद है। छोटी पत्रिकाएँ मेरे लिये तबका नहीं हैं, वे गलत भाषा के खिलाफ 'लोग' की आवाज हैं। मैने कहा–छोटी पत्रिका का कार्यक्रम है–'समकालीन आदमी को सही भाषा में लाना'। उसके तेवर को, उसकी समूची नैतिकता और राजनैतिक

प्रतिबद्धता के साथ आज के संदर्भ में इस तरह रखना कि वह अपनी विसंगतियों का कोई समसामयिक और कारगर हल ढूंढ सके। मैंने अपने आदमियों से कहा कि हमें साहित्यिक आन्दोलन नहीं करना है। साहित्य की मुखालिफत में किया जाने वाला साहित्य-आन्दोलन हमें दूसरा साहित्यिक पाठ्यक्रम देता है। और अन्त में साहित्य को 'लाले हालरा' गाने वाले किंगरिहों की आमदनी का जरिया बनाता है। नहीं, हमें विद्रोह भी नहीं करना है। विद्रोह बड़ी बात है। बड़ा नाटक है। इसकी कोई व्यावहारिक इकाई नहीं है। जैसे आधुनिकता व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि मेरे विचार से आधुनिकता 'असंवाद की स्थिति' है जबकि जीने के लिये बातचीत जरूरी है। मेरे निकट, विद्रोह और आधुनिकता दोनों अप्रासंगिक हैं। आधुनिकता शौक है और विद्रोह-एक सहूलियत। विद्रोह में जब शौक शरीक होता है तो वह समारोह बन जाता है। इसलिए साहित्य और विद्रोह से अलग हटकर फटेहाली के इन करमजले दिनों में मैने कहा, हमें अपने परिवेश के संदर्भ में अपनी प्रासंगिकता, अपनी उपयोगिता और अपनी साझेदारी साबित करनी है, बिना किसी आवेश के, बिना किसी रियायत के। मुझे रोटी चाहिए। येल्लो, मैंने उठाली। तुम्हारे पास जरूरत से ज्यादा थी। इसके लिये मैं 'छीन लूंगा' की जगह 'ले लूंगा' इस्तेमाल करता हूँ, 'माँग लूंगा' नहीं। छीनना, हीनता जाहिर करता है, ले लेना हक। तुम्हारी कविता 'वेणी संहार' मेरे पल्ले नहीं पड़ती। येल्लो, मैं कक्षा से बाहर चला ! तुम्हारा सर्टिफिकेट नौकरी नही दता। खर्र खर्र खच्च.........। भाड़ में जाओ ! तुम्हारी संसद मेरे लिये सांसत-घर है। तुम मुझे लालच नहीं दे सकते, धमकी नहीं दे सकते। और धोखा भी नहीं दे सकते। इस तरह एक संवैधानिक आदमी ने बचने के लिये रचना शुरू किया, उसमें जितनी ईमानदारी थी उससे कहीं अधिक समझदारी के साथ उसने अपने वक्त लिखा। मेरी निगाह में छोटी पत्रिकाएँ जिंदगी के हर मोर्चे पर जुटे आज के ईमानदार और समझदार आदमी की जिह्वायें हैं।

रुचियों का सतहीकरण और आवश्यकताओं का सरलीकरण— व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का निशाचरी अनुष्ठान है।

आधुनिकता 'असंवाद की स्थिति' है जबकि जीने के लिये बातचीत जरूरी है। मेरे निकट, विद्रोह और आधुनिकता दोनों अप्रासंगिक हैं। आधुनिकता शौक है और विद्रोह-एक सहूलियत। विद्रोह में जब शौक शरीक होता है तो वह समारोह बन जाता है।

छोटी पत्रिकाएँ जिंदगी के हर मोर्चे पर जुटे आज के ईमानदार और समझदार आदमी की जिह्वायें हैं।

बच्चन, उनके लिये, साहित्यकार नहीं, दरार हैं। मतलब कि दीवार के उस पार जाने की सुविधा। और उसी दिन यह नया मुहावरा मिला था कि संवाद के दाँत और होते हैं और आशीर्वाद के और।

लेकिन यहीं मेरी जुबान दाँतों के नीचे आ जाती है। सवाल ईमानदारी का है। क्या आज सचमुच 'छोटी पत्रिकाएँ' अपनी साधारण प्रतिज्ञा पर खरी उतर रही हैं ? कल मेरी पीढ़ी के एक लेखक ने कहा कि चोरी करके भी छोटी पत्रिकाओं को निकालना जरुरी है। सही भाषा

के लिए नैतिक मूल्यों को दांव पर लगाना अपराध नहीं है। तुम मानते हो ? मैं भी नहीं मानता। वाकई, यह एक सही काम है। कुछ पत्रिकाएँ निकाली भी गयीं। एक माहौल ऐसा कि सब कुछ नये सिरे से आशानुकूल बदलता-सा लगा। लेकिन जैसे थोडे उफान के बाद सब कुछ फिर अपनी जगह थमक गया।

यह सही है कि व्यावसायिक पत्रिकाएँ बाजार को स्वीकार कर चलती हैं। छोटी पत्रिकाएँ संपादक की निजी पूँजी हैं। उनमें छपने वालों पर यह दावा ठोका जा सकता है कि उन्हें साहित्यिक बनाने का श्रेय संपादक जी को है। छोटी पत्रिकाएँ अधिकांशत: 'उखमज' हैं। भाषा का खून खराब हो गया है और उस पर फोड़े-फुंसियाँ उग आयी हैं।

शहर के दक्खिन एक विश्वविद्यालय है। वहाँ से एक पत्रिका प्रकाशित होती है-प्रज्ञा। शोध-छात्रों और विद्वान अध्यापकों की सुरुचि से अभिमंडित। मुझे उससे कुछ लेना नहीं। किसी भी कृतिकार को उससे कोई सरोकार नहीं और इसी से कोई शिकायत नहीं।

अब अपने पास ज्ञान है, मुद्रा है तो कोई एक प्रज्ञा क्यों न प्रकाशित करे।-खैर करे।

शहर के बीचोबीच यानी कि ठीक पेडू पर एक मकान है। उसमें एक पाँड़े हैं और एक पत्रिका है। छोटी पत्रिका है। उस दिन उसका उद्‌घाटन-समारोह था। एक रंगीन निमंत्रण-पत्र एक मित्र के पास था। कविता-कथा अपने लिए सतनारायण की कथा है, सो बिना बुलाये ही चला गया और आदतन ईमानदारी की रौ में, पत्रिका पर जब राय माँगी गयी, कुछ समझदारी की बातें कर गया। मसलन, उसमें बच्चन की बचकानी और मित्रों की चपकानी कविताएँ नहीं होनी चाहिये थीं। उस समय तो नहीं, मगर बाद में पता चला कि मेरी बेलौस सलाह गलत जगह जा गिरी थी। श्रीयुत संपादक जी दुखी हैं। तब पता नहीं था कि बच्चन, उनके लिये, साहित्यकार नहीं, दरार हैं। मतलब कि दीवार के उस पार जाने की सुविधा। और उसी दिन यह नया मुहावरा मिला था कि संवाद के दाँत और होते हैं और आशीर्वाद के और।

शहर की टाँग के नीचे एक और पत्र निकलता है। कभी उसके संपादक (जो अपने को लेखक भी कहते हैं) अपनी रचनाओं की बंगाली हिंदी मुझसे खड़ी करवाते थे और वादा करते थे कि दस प्रतियाँ बेचने पर दो प्रतियों का दाम फ्री। और कविता की छपाई मुफ्त। बिना एक शब्द बदले। उत्साह में हामी भर दी। पहले तो काफी लिफ्ट मिली। मगर जब पत्रिका बेचकर पैसा दिया तो मुँह लग गये। दूसरी बार बोले-"यार धूमिल ! तुम बहुत अच्छे हो।" मैंने कहा-"हूँ"। बोले-"अबकी कुछ मदद करो यार, कविताएँ तो मिल ही जाती हैं सो.....!" उन्होंने अर्थभरी आँखो से झाँका।

मैंने कहा-"हूँ।"

और मैने अर्थ-सहयोग नहीं दिया और उन्होंने कविता नहीं छापी। सहयोग किसी ने नहीं दिया था शायद, सो उन्होंने पूरा अपना उपन्यास ही पत्र में छाप दिया।....

(संभवत: अधूरा)

धूमिल की अप्रकाशित कविताएं

सहसा तुम पाते हो

सहसा तुम पाते हो
देह के खंडहर में अपना विजय-स्तंभ
और चौंक पड़ते हो
"अरे, इसका शीर्षक तो मैं ही हूँ''
एक बार फिर लौटने लगती है
हाथों में वही करामाती पकड़।

बीस वर्ष पहले की सुच्चा साहसिकता।
और क्या यह सीटी तुम्हारे ही
होठों से निकली है ?
कैसी चिकनी है पेड़ पर नाचती हुई
पलटनियाँ करतब दिखा रही है
और वह नन्हीं चिड़िया–कितनी फुर्तीली है
और उसकी पूँछ के नीचे
क्या सचमुच फुंसी है–मादा है।
और
धूप !
हवा !
भाषा !
सबके सब खुलने लगते हैं,
एक दूसरी तजबीज के साथ
हर चीज जैसे फिर से जिंदा होने पर आमादा है।

पीठ की दूसरी ओर गिरता है
एक गुन्नाटा हुआ लोहा
सूखते अंधेरे में दूर–बहुत दूर
कितना रोमांचक
यह दुबारा होने का सुख।
कहीं फास्फोरस के चिटने की गंध आती है।
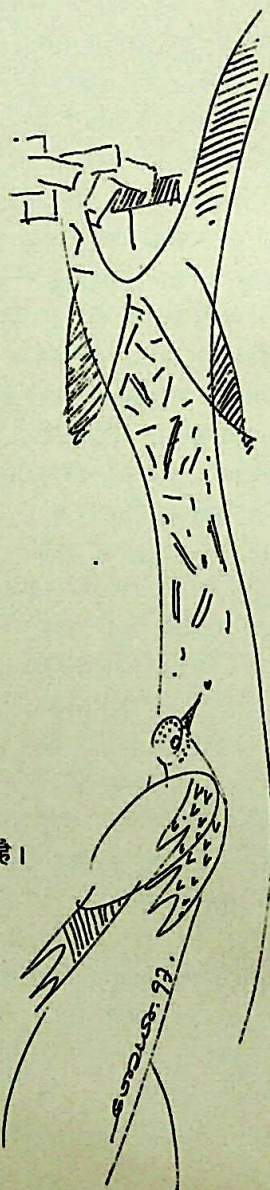
और तुम भूल जाते हो कि
अभी थोड़ी देर पहले–समय
उम्र की देहरी पर
नीलामी की आखिरी डुग्गी पीट रहा था
और जिन ठीहों पर तुम जिबह किये गये थे
मक्खियाँ अब भी वहाँ, ताजे खून का जश्न मना रही हैं।

कविता ! कविता !! कविता !!!
कितने खराब दिन हैं,
कितने अकेले और भयावह
जीवित रहने की इच्छा ही तुम्हें
जिन्दा रख सकती है
तुम जानते हो

मगर यह सोचते ही
तुम सड़ना शुरू कर दोगे,
और फिर जोड़ते हो
एक मामूली और ताजा धमनी
उस रुके हुये बंजर हिस्से से
और जीवन सिसकना बन्द कर देता है।

चित्रकार का वक्तव्य

मैं हूँ अपढ़ देहाती
शायद कुछ ऐसी तंगी थी
साफ-साफ ही कहूँ
कि घर की लाज
देहरी के भीतर नंगी थी
इसीलिये कुछ इतना ज्यादा पढ़ न सका
अंगूठे का मोह बहुत है
और इसी से
हठकर गुरु मैं गह न सका
कविताई कुछ 'जोक' नहीं है
फिर भी इसका शौक मुझे है
और आज की महंगी में भी
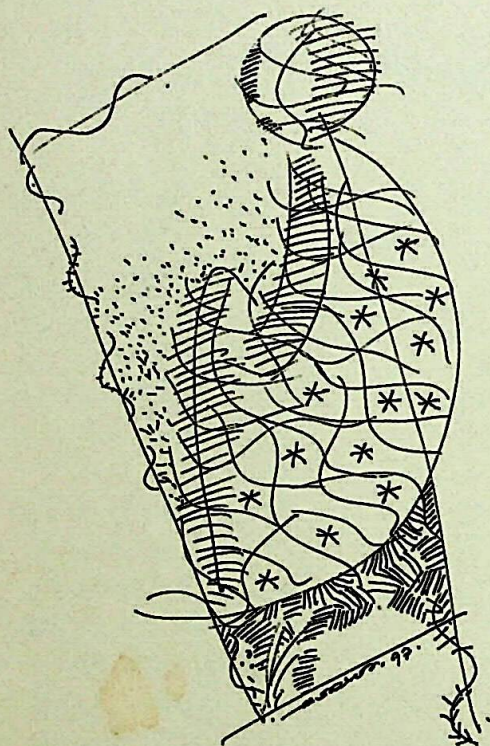
इस पर कोई रोक नहीं है
यद्यपि अभी पीठ पर कोई
आशीर्वादी हस्त नहीं है
किन्तु हौसला पस्त नहीं है
तन्दुरुस्त हूँ
यद्यपि मुझे पड़ाइन कहती हैं कि
सुस्त हूँ
यह सब रही इधर की–हाँ तो
मतलब की बातों पर आयें
जो वादा था किया आप से
अपनी वह तस्वीर दिखायें
बात समझ में आये सीधी
पहले पृष्ठ-भूमि बतला दूँ
दिन भर की हाहा-हूती से
बचकर पत्नी की जूती से
पिटकर आफिस की ड्यूटी से
खंडित मन की मजबूती से
जब जुटते साहित्यिक सज्जन
करते हैं दँत किच किच मंजन
सड़क नदी के तीर
हम बैठे चुप साधिके
उतारी गई तसवीर।

चाँदनी रात में कर्फ्यू

पहली बार तुम शहर को खुला हुआ देखोगे
और खुश नहीं होगे। चाँदनी
गश्त करते सिपाहियों के लौह टोपों पर
घिसी हुई नाल-सी चमकती है।
और शहर जहाँ खुला है, तुम्हें लगेगा
कि पुराना और बहुत बड़ा पेड़
कट गया है।
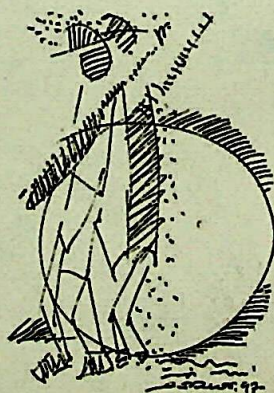
तुम उस आदमी से डरते हो जिसका एक हाथ
आड़ में है

तुम्हारी बगल में, किसी दुकान का फाटक
तेज आवाज करता हुआ गिरता है
और घड़ी की सुइयां अचानक उछलकर
एक सुरक्षित मकान बन जाती हैं
औरतें अब हरी छुरियां नही फेकतीं
और न पोस्ते के दाने।
न रोशनी किसी का चेहरा बिगाड़ती है।
वारदातें और नाई की बिसात से उड़ा हुआ
बालों का एक गोला
हत्याओं को एक धार्मिक शीर्षक दे दिया गया है
युवतियां बाँहों पर
भीड़ के धक्कों का ताबीज बांधती हैं

बंद दरवाजे की दस्तकें

शाम–
सडकों से बचाकर
अपने को
जब मैं लौटता हूँ
और जैसे खोलना ही चाहता हूँ–
बंद कमरा
बर्फ में डूबी
अंगुलियों की तहों को छू
अंगुलियाँ ऐंठ जाती हैं।
कई ध्वनियाँ
फ्यूज बल्बों के सहारे
झूलती–सी खिलखिलाती

मुझे लगता है–
बहुत पहले यहाँ कुछ लोग आये थे,
जिन्होंने छोड़ दी है
जान या अनजान में
एक काली जिल्द वाली
लाल पुस्तक

जो हवा में खूँटियों
पर व्यर्थ-सी यूं-ही पड़ी है
क्या उठा लूँ
दस्तकों का अनपढ़ा इतिहास
पन्नों-सी किवाड़ें खोल दूँ
जिन पर लगा है
सिटकिनी का स्याह पुस्तक-चिह्न
और कमरे के तरल अपनाव में
दुखता हुआ-सा एक परिचय घोल दूँ।
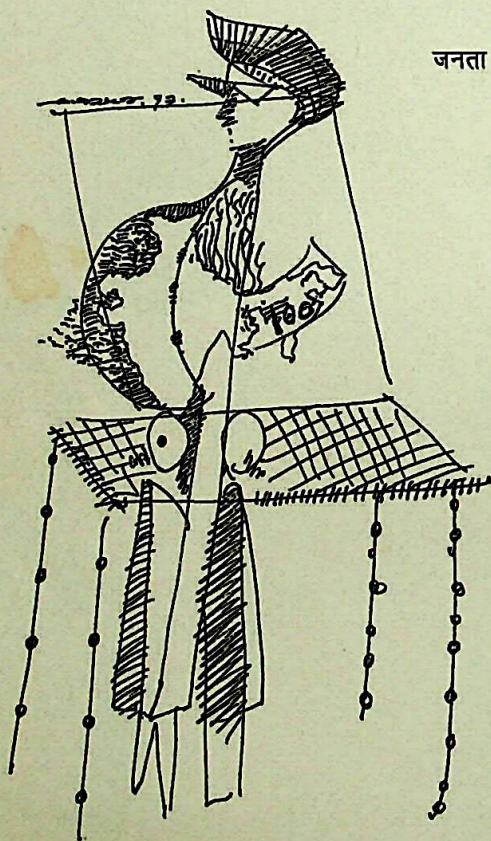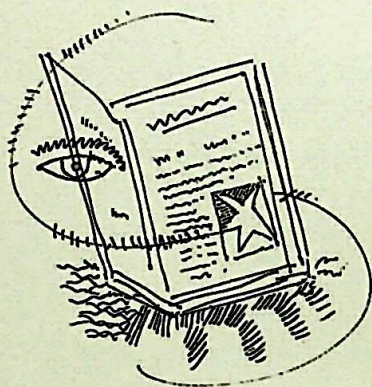
बीस मैकेनिकल बिम्ब

जनता नहीं समझती राजनीति के पेंच
दोस्ती और दलाली के बीच
सत्ता कुर्सी के पायों पर
जम्हाई लेती रहती है
और पेचकस
कसता रहता है
धीरे-धीरे
और स्क्रू से पूछता भी जाता है
'दर्द तो नहीं हुआ ?
चोटें तो नहीं लगीं ?'
जनतंत्र कलाबाजियां खाता है

भठ्ठी के सामने
कल्लू का चेहरा
कोयले-सा दमकता है
मगर कल्लू का हृदय शांत है
चीजें बदल सकती थीं
दूसरी शकलों में
महज ऐन मौके पर
वहाँ चोट की जरूरत थी
और हथौड़े
निहाई पर रखे हुए
लोहे का मुंह नहीं देखते

पत्रकारिता : परम्परा

नागर हिंदी के जमाने में एक नागरी–चिंतक की याद

डॉ० गायत्री शुक्ल

समाज में निरंतर गिरते जा रहे मानव-मूल्यों के इस युग में अब यह बात शायद हमें आश्चर्य में नहीं डालती कि हमारी भाषा अप-संस्कृति के कितने घातक दौर से गुजर रही है कि उसकी अस्मिता अंग्रेजी माहौल में पनप रही पीढ़ी के बुदबुदाते होठों से निकली सुविधानुकूल अंग्रेजी मिश्रित भाषा बन जाने के लिए नियतिबद्ध है। हाँ, अपनी संस्कृति, सभ्यता और सहज बोलचाल से कटते तथा आज के चाक्षुष माध्यमों की देख-रेख में पलने वाले समाज को देखकर इस बात पर क्षोभ अवश्य होता है कि जहाँ एक जमाने में देवनागरी की चिंता करने वाले तथा उसके प्रचार-प्रसार के लिए जीवनपर्यन्त प्रतिबद्ध साहित्यसेवियों ने 'निज भाषा' की उन्नति को सदैव अपने लेखन-लक्ष्यों में शामिल रखा तथा नागरी की बेल को अपनी रचनात्मक ऊर्जा से संवर्धित किया, वह भाषिक अप-संस्कृति के इस दौर में एक सदी के भीतर ही मुरझाने-सी लगी है तथा उसके उन्नत, अग्रतर भाषिक रूप के बजाय हमें चहुँ ओर 'हिंग्रेजी' के बोल सुनायी पड़ने लगे हैं।

भाषिक अप-संस्कृति के इस दौर में हिन्दी (नागरी) के जिन उन्नायकों की तरफ हमारा ध्यान जाता है, उनमें बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का योगदान अन्यतम है। प्रेमघन अपने जमाने के न केवल एक समर्थ कवि एवं गद्यकार थे बल्कि समाज की लोक-लय से अवगत तथा हिन्दी जाति के विकास के लिए सतत् सन्नद्ध थे। वे भाषा की ताकत से परिचित एक ऐसे स्वाभिमानी रचनाकार थे जिन्होंने नागरी को इस योग्य बनाया कि उसमें विजातीय शब्द भी घुलमिलकर एकाकार हो जाएँ। संभवतः उस युग (भारतेन्दु युग) की यह विशेषता ही रही है कि साहित्यकारों ने देशहित के लिए, भाषाहित के लिए अपने स्वाभिमान को सदैव अप्रतिहत बनाये रखा और प्रेमघन तो केवल कहने भर के चौधरी नहीं थे, उनकी रचना में भी इसकी गहरी धमक सुनायी देती है:

हमें जो हैं चाहते निबाहते हैं प्रेमघन, उन दिलदारों से ही मेल मिला लेते हैं।
दुत दुतकार देते अभिमानी पशुओं को, गुनी सज्जनों की सदा नेह नाव लेते हैं।।
आस ऐसे तैसों की करें तो कहो कैसे, महाराज वृजराज के सरोज पद सेते हैं।।
मनमानी करते न डरते तनिक नीच, निन्दकों के मुँह पे खँखार थूक देते हैं।।

(प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ-२०।)

आश्चर्य होता है कि आज हिन्दी के निरन्तर विकृत होते रूप के प्रति बौद्धिकों में कोई चिंता नहीं है। कुछ मुट्ठी भर लोग इसका अपवाद हो सकते हैं, किन्तु जो शक्तियाँ आज भी हिन्दी को उसकी संवैधानिक हैसियत दिये जाने के खिलाफ हैं, उनके लिए तो शायद यह बेहतर ही है कि भाषिक अप-संस्कृति का कारोबार फूले-फले और उन्हें यह कहने का अवसर मिले कि सौ साल में हिन्दी फिर अंग्रेजी की शरणागत हो चली है। उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जहाँ तक हिन्दी के लिए लेखकीय स्वाभिमान की बात है, ऐसे लोगों का निरन्तर अभाव होता जा रहा है। कुछ गिने-चुने साहित्यिकों के लिए आज यह भले ही जीवन-मरण का प्रश्न हो, बहुतेरे कथित हिन्दी-सेवियों के लिए हिन्दी-सेवा एक प्रदर्शन भर है। उसके व्यावसायिक इस्तेमाल के अलावा उसकी अस्मिता के अनुरक्षण का सवाल उनकी चिंता अथवा कार्यभार में शामिल नहीं है। नागर हिंदी के इस जमाने में प्रेमघन जैसे एक सच्चे नागरी चिंतक की याद स्वाभाविक ही है।

प्रेमचन्द के समय में खड़ी बोली उठकर खड़ी हो रही थी। हिन्दी का विकास आज जहाँ तक हुआ है उसके साथ प्रेमघन के समय की हिन्दी को मिलाकर देखने से अंतर का पता साफ चलता है। खड़ी बोली पर ब्रजभाषा की छाप प्रायः दिखायी पड़ती है। यह बात केवल कविता में ही नहीं बल्कि गद्य में भी मिलती है। भाषा के प्रति प्रेमघन बड़े सजग थे। 'नागरी भाषा' से हमारा तात्पर्य 'हिन्दी' से है। प्रारम्भ में हिन्दी के अस्तित्व पर बहुत लोग आक्षेप करते थे। प्रायः हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' से संबद्ध कर देखा जाता था। प्रेमघन ने इस बात पर विचार किया था कि हिन्दी यदि हिन्दुस्तान की भाषा नहीं, तो क्या यूरोप की है ? उन्होंने कहा है-

"बंगाल देश की बोली बंगला, गुजरात की गुजराती, ओड़ीसा की ओड़िया और तेलंग की तेलंगी, महाराष्ट्र की महाराष्ट्री, इसी प्रकार अंग्रेजों की अंगरेजी, जरमनियों की जर्मनी, और अरब की भाषा अरबी होने में क्या प्रमाण अपेक्षित है। अन्त में इस प्रश्न का यही उत्तर है कि 'हाथ के कंगन को आरसी क्या', जो भाषा जहाँ की है, वहाँ बोली और बरती जाती है। समाचार और पत्र उसी भाषा में लिखे जाते हैं, फिर क्या कारण है कि हमारी भाषा जिसका अर्थ ही बोली है, हमारी भाषा न समझी जाय।"

(प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, पृष्ठ-४)

'आनंद कादम्बिनी' के संवत् १९३८ के भाद्र पद वाले अंक में "नागरी भाषा" नाम से प्रेमघन ने एक लेख लिखा था। इस लेख में उन्होंने माना था कि नागरी संस्कृत रूपी वृक्ष की एक शाखा है। यह नागरी भाषा धीरे-धीरे परिमार्जित होती गयी। प्रेमघन ने नागरी भाषा का जन्म मनुष्य के जन्म के साथ-साथ माना है। प्रेमघन मानते हैं कि कोई शब्द मानने से ही सार्थक बनता है, न मानने से नहीं। भाषा के विकास की कहानी मनुष्य के विकास की कहानी के साथ आरम्भ हुई। *'नागरी नीरद'* नामक पत्रिका संवत् १९५१ के कार्तिक महीने वाले अंक में 'हमारी प्यारी हिन्दी' नाम से प्रेमघन ने एक छोटा लेख प्रकाशित करवाया था। उस लेख के प्रारम्भ में ही प्रेमघन ने लिखा है, "अनेक जनों के कान में हमारी नागरी भाषा की भाँति भारतीय भाषा का प्रयोग भी खटकेगा, परन्तु यह भी केवल उसी अक्षम अभ्यास का

आनन्द कादम्बिनी
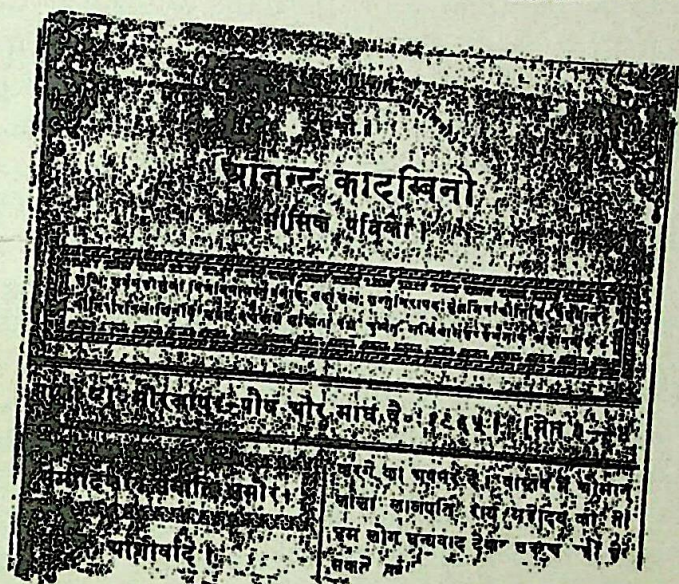
आभास है कि जो दुर्भाग्य से अद्यापि हिन्दी को उर्दू बनाए हुए है, नहीं तो हिन्दी और भारतीय भाषा में भी उतना ही भेद है कि जितना आफ्ताब और सूर्य्य में। अब यदि कोई सूर्य्य के स्थान पर आफ्ताब ही कहता और नहीं चाहता कि सूर्य्य शब्द उसके कानों को दुख दे, तो किसी का क्या चारा है ? नहीं तो जिस मूल पर आज यह भाषा सचमुच एक भाषा कही जाने योग्य हुई, या हो रही है, वह यही है, और केवल यही कुविचार उसका उन्नति-अवरोधक भी है।

प्रेमघन के भाषा संबधी विचार क्रांतिकारी तथा सुस्पष्ट हैं। उनका मानना था कि हिन्दी बोलने वाले संख्या में अधिक हैं, इसलिए उसी को ही स्थिरता पाना चाहिए। भारतेन्दु मानते थे कि हिन्दी में अन्य भाषा के उपयोगी शब्दों को पचाने की बड़ी शक्ति है। भाषा के संदर्भ में भी प्रेमघन आर्यों की असावधानी और कार्यशिथिलता को कोसते हैं। अरबी और उर्दू भाषा की कमियों की ओर भी प्रेमघन ने ध्यान दिया है। वे उर्दू के अच्छे जानकर थे। किन्तु कचहरियों में लिखी जाने वाली फारसी-युक्त उर्दू को प्रेमघन अव्यावहारिक मानते थे। प्रेमघन तो भाषा के लिए आन्दोलन चलाने के पक्ष में भी थे। उनकी मान्यता है कि यदि अपनी मातृभाषा के लिए कुछ भी कष्ट उठाना पड़े तो उठाया जाना चाहिए। प्रेमघन 'हमारे देश की भाषा और अक्षर' नाम अपने लेख में कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह को याद करते हैं जो हिंदी का अखबार 'हिन्दोस्थान' अपने देश के लिए इंग्लैण्ड से छपवाकर मंगवाते थे। प्रेमघन ने भारतीय नागरी भाषा पर विस्तार से विचार किया है। वे भाषा के इतिहास पर विचार करते हुए भाषा-समस्या की जड़ तक पहुँचते हैं और उसके निदान के लिए अपने दो-टूक विचार प्रस्तुत करते हैं।

'नागरी' के प्रति प्रेमघन का उत्कट प्रेम उनकी कविताओं में भी प्रखरता से प्रकट हुआ है। 'आनंद बधाई' शीर्षक से लंबी कविता जो 'रोला' छंद में उपनिबद्ध है, में उन्होंने नागरी

भाषा के प्रति अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं। उनका मानना है कि हिंदी ही भारत वर्ष की राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि नागरी ही राष्ट्रभाषा हो। प्रेमघन कहते हैं, "बड़े भाग्य से वह घड़ी आई है जब देवनागरी को बधाई देना चाहते हैं। तुम्हारे पुत्र अनेक प्रकार से तुम्हारी उन्नति करने में लगे हुए हैं। राजसभा से अलग होकर तुमने कई सौ वर्ष का समय बिताया है, किन्तु दीन और प्रवीण की कुटियों के बीच तुम शोभा पाती रही हो। ज्ञान, हरिभक्ति और धर्म का प्रचार सदैव तुम्हारे माध्यम से होता रहा है। शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में तुमने बड़ी उन्नति की है। राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने के अवसर पर लोग आनंद से उमंगित हैं। भय, रोग, शोक और दुष्काल आदि की चिंता छोड़कर लोग तुम्हारा गुणगान कर रहे हैं। परस्पर एक-दूसरे से मिलकर जय-जयकार का स्वर निकाला जा रहा है। लोग एक दूसरे के गले लग रहे हैं। जगदीश को धन्यवाद है। जिन्होंने यह शुभ घड़ी दिखायी है कि हिन्दी अपने उचित स्थान को पा सकी।''

इस कविता में विक्टोरिया और लार्ड कर्जन आदि की प्रशंसा भी की गयी है। मैक्डानल को अति उत्साह में उन्होंने महात्मा और 'महामान्यवर' भी कह डाला है। राजभक्ति की प्रशंसा में भी प्रेमघन ने इस कविता में बहुत कुछ कहा है। किन्तु ऐसे प्रसंगों को प्रस्तुत करते हुए कवि को अवध के विकास का भी ध्यान है। वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि अपनी कृपा-दृष्टि से वह अवध के कण-कण को प्रकाशित कर दें। पश्चिम और उत्तर में प्रजा को अशिक्षित जानकर प्रशासन ने वहाँ पहले शिक्षा का प्रकाश फैलाया। विद्यालय और विश्वविद्यालय खोले। न्यायालयों में 'नागरी वर्णों' का प्रयोग करने के लिए १८ अप्रैल सन् १९०० में एक अनुशासन पत्र निकाला गया था। कई अंग्रेज और भारतीय विद्वानों ने नागरी वर्णमाला की वैज्ञानिकता पर अपने विचार व्यक्त किये थे। प्रोफेसर मोनियम विलियम्स, आइजेक पिटम्यान, रेवरेण्ड केलॉग, मिस्टर पिकॉट, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा मिस्टर ग्राउस आदि ने हिन्दी के पक्ष में अपनी बातें कहीं थीं। अनेक प्रयत्नों के आधार पर हिन्दी को कचहरियों में स्थान मिला था। उर्दू और अरबी की कमियों की ओर भी प्रेमघन ने ध्यान दिलाया है: किसी हकीम ने अरबी में दवाई का नाम 'आलू बोखारा' लिखा है किन्तु मौलवी ने उसे 'उल्लू बेचारा' पढ़ा। मेम साहिबा को जब बड़ी-बड़ी मोती की जरूरत पड़ी, तहसीलदार ने तब बड़ी-बड़ी मूली भिजवायी।

प्रेमधन ने इस कविता में यह सिद्ध किया है कि नागरी वर्ण सर्वगुणसम्पन्न है। उन्हें जैसा लिखा जाता है, वैसे ही बोला जाता है। इसे कवि बड़े भाग्य की बात समझता है कि उसकी भाषा के अक्षर बदलें नहीं। प्रेमघन खिचड़ी भाषा के पक्ष में नहीं थे। बहुत से फारसी कागजात उस जमाने में ऐसे हुआ करते थे जिन पर अंग्रेज अधिकारी बिना पढ़े या समझे हस्ताक्षर कर देते थे। अनेक आंधियों और तूफानों के बीच हिन्दी का दिया निष्कंप भाव से जलता रहा। अपनी भाषा में इतिहास, धर्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, न्याय मीमांसा, व्याकरण, साहित्य आदि के ग्रंथ पाये जाते हैं।

प्रेमघन ने विश्वास व्यक्त किया है कि हम एक न एक दिन पूरी सफलता अवश्य प्राप्त

करेंगे। एक बार जो 'देवनागरी' के वर्ण और हिन्दी के गुण को समझ जायेगा वह इसे अवश्य सीखेगा। जब रेल, डाक, शिक्षा-दीक्षा और रक्षा आदि देश और समाज को एक करने के लिए हैं, तब भाषा यह काम क्यों न करेगी। समय के प्रवाह में स्थितियाँ अनुकूल अवश्य बनेंगी। थोड़ा श्रम करने पर भी अधिक फल की प्राप्ति होगी। यह सब कुछ ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर है-

गुनि यह न विलम लगाय हिय हरखाय सब कोऊ अहो।
निज जननि भाषा जननि हित-हित चेति-चित साहस गहो।
करि जथारथ उद्योग पूरन फल अभल अस जग लहो।
लहिकै कृपा जगदीस जय-जय नागरी नागर कहो।।

-प्रेमघन सर्वस्व : प्रथम भाग, पृष्ठ ३२०

किन्तु नागरी को लेकर प्रेमघन तथा अन्य तद्युगीन कवि-साहित्यकार नियतिवादी नहीं थे। भाषा के परिष्कार को लेकर, उसके प्रयोग को लेकर वे सदैव प्रयत्नशील रहते थे। हम देखते हैं कि प्रेमघन व उनके समकालीन अनेक साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा व साहित्य के परस्पर का कार्यभार खुद अपने ऊपर लिया तथा पत्रिकाओं के प्रकाशन में आगे आए। लालाश्री निवास दास, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास तथा राधाचरण गोस्वामी के नाम इस दिशा में अग्रगण्य हैं। इस दौर में निकली पत्रिकाओं के नाम इस प्रकार हैं- अल्मोड़ा अखबार, हिन्दी दीप्ति प्रकाश, बिहार बन्धु, सदादर्श, काशी पत्रिका, भारतबन्धु, भारत मित्र, मित्रविलास, हिन्दी प्रदीप, आर्य दर्पण, सारसुधा निधि, उचितवक्ता, सज्जन कीर्ति सुधाकर, भारत सुदशा प्रवर्तक, आनंद कादंबिनी, देश हितैषी, दिनकर प्रकाश, धर्म दिवाकर, प्रयाग समाचार, ब्राह्मण, शुभचिन्तक, सदाचार मार्तण्ड, हिन्दोस्थान, पीयूष प्रवाह, भारतजीवन, भारतेन्दु, कविकुल कंज दिवाकर आदि। ये पत्र-पत्रिकाएँ भारतेन्दु काल के साहित्य को समृद्ध करती रहीं। अनेक आर्थिक कठिनाईयाँ झेलकर भी हिन्दी के लेखकों ने ये पत्रिकाएं निकालीं। 'हिन्दोस्थान' पत्र तो कालाकांकर (प्रतापगढ़ अवध) के राजा रामपाल सिंह इंग्लैण्ड से छपवाते थे। लेखकों और सम्पादकों ने हिन्दी साहित्य को आगे बढ़ाने का बहुत प्रयास किया। कुछ पत्रिकाएं हिन्दी और उर्दू में एक साथ निकलती थीं। इन पत्रिकाओं में देशोद्धार, देशप्रेम, जनजागरण और लोकमंगल जैसे विषयों पर साहित्य छपता था। स्वयं भारतेन्दु ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई कई पत्रिकाएं निकाली थीं।

कुछ पत्रिकाएं भारतेन्दु काल में ऐसी भी निकलीं जिनका संबंध किसी विशेष जाति से था। जैसे-सन् १८८१ में बांकीपुर से 'क्षत्रिय पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ हुआ जो बाद में 'द्विज पत्रिका' के रूप में बदल गयी थी। मिर्जापुर से सन् १८८९ में 'खिचरी' नाम का समाचार पत्र संपादित हुआ था। प्रेमघन का पत्र *'नागरी नीरद'* मिर्जापुर से ही निकला था। राजनीति, समाज, धर्म, ऋतु वर्णन, इतिहास आदि विषयों पर इन पत्रिकाओं में सामग्री छपती थी। बाबू तारामोहन मिश्र द्वारा सन् १८५० में *'सुधाकर'* नाम का पत्र काशी से प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु बाबू की पत्रिका *'कवि वचन सुधा'* सन् १८६१ में निकली थी, जिसकी सौ प्रतियाँ

सरकार भी खरीदती थी। इस पत्रिका का उल्लेख फ्रांस के भारतीय भाषा के विद्वान गार्सा द तासी ने भी किया है। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से एक नया साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण भारतेन्दु युग में बन गया था। इनमें राजनीतिक चेतना भी कम नहीं थी। खुद प्रेमघन ने जिनकी पत्रिका *'आनंद कादम्बिनी'* में सर्वाधिक उन्हीं की रचनाएँ छपती थीं, समय-समय पर अपने दौर की साहित्यिक तथा राजनीतिक स्थितियों पर चुटीली टिप्पणियाँ की हैं। उनके साप्ताहिक पत्र *'नागरी नीरद'* के शीर्षकों से उनकी संपादकीय सुरुचि का आभास मिलता है: 'संपादकीय सम्मति समीर', 'प्रेरित कलापिककलरव', 'हास्य हरितांकुर', 'वृत्तांत बकुलाकावलि', 'काव्यामृत वर्षा', 'विज्ञापन वीर बहूटियाँ', 'नियमनिर्घोष' आदि। यही लीक उन्होंने 'आनंद कादंबिनी' के शीर्षकों में अपनाई। 'आनंद कादम्बिनी' में प्रकाशित समाचारों की अपनी छटा होती थी। स्थानिक संवादों का रसाकर्षण लोगों को अपनी ओर खींचने वाला होता था। इस पत्रिका के हीं पृष्ठों पर अपने समय की बेहतर समालोचनाएँ निकलीं। बल्कि कहा जाय कि हिन्दी में टीका-टिप्पणियों, समालोचनाओं आदि का मार्ग प्रेमघन ने भी प्रशस्त किया तो यह अत्युक्ति न होगी। मिर्जापुर में संवत् १९१२ में जन्मे प्रेमघन अद्‌भुत साहित्य प्रेमी व काव्यरसिक थे। मिर्जापुर में 'रसिक समाज' नामक संस्था के साथ अन्य अनेक स्थानीय संस्थाओं का गठन उन्होंने किया था तथा उस दौर में भी समाज से गहरा संवाद बनाये रखने में उनकी तल्लीनता देखते बनती थी। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन कार्य सुकर न होने के बावजूद आर्थिक दिक्कतें सहकर भी उन्होंने वर्षों तक 'आनंद कादम्बिनी' व 'नागरी नीरद' नामक पत्रिकाएँ निकालीं।

आज मिर्जापुर जाने पर नगर में उनका निवास स्थान जीर्णशीर्ण रूप में दिखायी पड़ता है। जिस पर अब स्वामित्व भी किसी दूसरे का है। इस दुमंजिले मकान में लगी 'प्रेमघन निवास' की पट्‌टी तथा उस गली के मुहाने पर लगी 'प्रेमघन मार्ग' की पटिट्‌का को देखकर इस नागरी चिंतक का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। क्षोभ होता है कि हमने अपने पुरखे साहित्यकारों, कवियों के घरों को नयी पीढ़ी की विरासत के तईं भी सुरक्षित नहीं रखा। जिन साहित्यकारों के स्मारक बने भी, वे भी उपेक्षित ही पड़े हैं। कदाचित कहीं जायसी (जायस), प्रेमचंद (लमही), निराला (गढ़ाकोला, उन्नाव), महावीरप्रसाद द्विवेदी (रायबरेली) तथा रामचंद्र शुक्ल (वाराणसी) के नाम पर कुछ पटिट्‌काएँ या कि कालोनियाँ अवश्य नजर आएँ किन्तु इन साहित्यकारों की कर्मस्थलियों व कृतित्व का सम्यक् अनुरक्षण सरकार की प्राथमिकता-सूची में नही दिखता। यहाँ तक कि इन साहित्यकारों के नाम पर अध्ययन केन्द्र तक स्थापित नहीं हैं, जहाँ जा-बैठकर इन नागरी चिंतकों के कृतित्व का अवलोकन-आकलन किया जा सके। साक्षरता के नाम पर करोड़ों रुपये हवा में उड़ा देने वाली शासन व्यवस्था को इन साहित्यिकों के स्मारकों की सुरक्षा का तनिक भी ध्यान नहीं है जिन्होंने सरकारी प्रयत्नों से कहीं आगे जाकर समाज को शिक्षित व साक्षर बनाया है। ऐसे में यदि प्रेमघन की कोठी आज बिककर किसी की निजी जायदाद बन गयी है तथा कुछ दिनों में उसका नामोनिशान भी नहीं रहे तो आश्चर्य क्या ! क्योंकि सरकार की तरह ही लोग भी अपने साहित्यकारों को भूल गए हैं।

पत्रकारिता : परम्परा

बँधे हाथों की तीरंदाजी

डॉ० देव

जब हाथ से कलम छीन लिया जाता है
या खुद हाथ ही कलम कर दिया जाता है
और शब्द को परखने का अधिकार
केवल सिपाही के लिए सुरक्षित कर दिया जाता है
तब जुबान ही नहीं
समूचे जिस्म का रोम-रोम बोलता है
खौलता हुआ खून बन जाता है रोशनाई
और कटे हुए हाथ का कसमसाता ठूँठ कलम
और तब इबारत को कागज पर नहीं
सीधे दिलों पर लिखना होता है..........

(एमरजेंसी के दौरान लिखी गयी कविता : रमेश गौड़)

इतिहास में ऐसे दौर आते रहे हैं, जब आजादी की भाषा बोलने वाली जुबानों पर ताले जड़ दिए जाते हैं, सच लिखने वाले हाथ बाँध दिए जाते हैं, तभी सही मायने में 'कहने की ताकत' का, शब्दों की ही नहीं, चुप्पी की ताकत का भी इम्तहान होता है।

इस सदी में हम दो बार ऐसे हालात से रू-ब-रू हुए हैं। एक तो एमरजेन्सी का दौर था, जब बड़े-बड़े इन्कलाबी जांबाज 'सिले हुए होंठों से अविराम अभिनंदन' बाँचने लगे, मगर अनेक शायरों और पत्रकारों ने जान की परवाह न करने वाली जुबानदराजी के करिश्मे दिखाए। दूसरा दौर आजादी की लड़ाई का था।

१९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान ब्रिटिश सरकार ने 'आज' दैनिक में सम्पादकीय लिखे जाने पर रोक लगा दी। उस वक्त के सम्पादक बाबू विष्णुराव पराड़कर के हाथ रोक दिए गए, लेकिन उन्होंने चुप्पी से ही इतना कुछ कहा, दो-चार-दस शब्दों से भी इतना कुछ कहा कि हजारों शब्दों में भी नहीं कहा जा सकता। उन्होंने बँधे हाथों से तीरंदाजी की और सरकार परशुराम की स्थिति में छटपटाती रही-'बढ़हि न हाथ दहई रिस छाती।'

अग्रलेख नहीं प्रकाशित करना था तो यह नहीं हुआ कि खाली जगह समाचारों से भर दी जाये या मेनचेस्टर के कपड़ों की तारीफ में विशेष लेखमाला आयोजित कर दी जाए या ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्मृति में अश्रुबूंदें टपका दी जायें या और कुछ नहीं तो वायसराय के नाम सरकारी विज्ञापन दिलवाने की अपील छाप दी जाये। उन्होंने जंजीर की शक्ल की रेखाओं से कागज को घेर दिया और बीच की जगह, लगभग पूरा पृष्ठ खाली छोड़ दिया। इस तरह इबारत कागज पर नहीं, सीधे दिलों पर लिख दी गयी।

एमरजेन्सी के दौरान एक कवि वीरेन्द्र कुमार जैन ने लिखा था-

नहीं...
रुको...
कलम रख दो
मत लिखो आज कुछ
इस कोरे कागज पर
यह उदग्र है।
हो सके तो देखो, सुनो
इस कागज को
....
ये कैसी लिपि उभर रही है
इस कागज की श्वेत शून्यता में
जैसे पहले कभी नहीं लिखी गयी
जो, कोई नहीं लिख पाया आज तक

और उस वक्त पराड़कर ने चुप्पी से जो लिख दिया वैसे कोई नहीं लिख पाया आज तक। शायद ही दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण मिले।

मौन की भाषा हमारे देश में बहुत पुराने जमाने से कही, सुनी, पढ़ी जाती रही है। भारतीय मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से जब सारे शब्द चुक जाते हैं, तभी अपनी आस्तित्विक वास्तविकता का पता चलता है, उस स्थिति में शब्दों के मूल स्रोत की आकस्मिक अनुभूति होती है, तब वहाँ अपनी नि:शब्दता में 'सम्पूर्ण' को अभिव्यक्त करता मौन अनुभूत होता है या अनाहत नाद यानी एक संगीतमय स्वर का नैरन्तर्य।

भारतीय मनोविज्ञान मानता है कि जितने भी स्वर होते हैं वे आहत नाद होते हैं अर्थात् आघात या तन्त्रिका घात से उत्पन्न होते हैं, जबकि स्वरों का मूल स्वर अनाहत होता है, जिसमें से सृष्टि का मूल शब्द 'ॐ', फारसी 'आमीन' तथा लैटिन 'ओमनी' ढूंढ़ा गया है। इस तरह अस्तित्व की मूल भाषा है- मौन, उपपन्नत: प्रेम और विद्रोह की मूल भाषा भी मौन है, चुप्पी है। फर्क इतना है कि प्रेम का मौन जीवनदायी संस्पर्श में अभिव्यक्त होता है और विद्रोह विध्वंसक संघर्ष में। पराड़कर ने खाली पृष्ठों पर विद्रोह की इसी मूल भाषा को आकार दिया है। उन पृष्ठों की शून्यता में साफ पढ़ा जा सकता है-

हम न पिट्ठू हैं, न पक्षधर हैं
हम हम हैं और हमें
सफाई चाहिए, साफ हवा चाहिए
और आत्म सम्मान चाहिए जिसकी लीक
हम डाल रहे हैं
हमारी जमीन से हट जाओ (अज्ञेय)

एक बहुप्रचारित सूत्र है- मौन स्वीकृति का लक्षण है। पराड़कर के अग्रलेखीय मौन को अग्रलेख न छापना स्वीकार कर लेने के अर्थ में स्वीकृति का लक्षण तो कहा जा सकता है, लेकिन अग्रलेख की जगह कुछ पक्षधर किस्म का न छापना तथा बाद में, कभी-कभी दो पंक्तियों, एक शेर, श्लोक या सम्पादकीय विचार के रूप में एक लम्बे वाक्य को प्रकाशित कर देने में विद्रोह का मौन जब सीमा तोड़कर शब्दों में उतरा तब संक्षिप्ति की प्रतीकात्मक शैली में समुद्र को जलाकर खाक कर देने वाली बड़वाग्नि प्रकट हुई। इसलिए पराड़कर का अग्रलेखीय मौन स्वीकृति की नहीं विद्रोह की चुप्पी है। यहाँ साबित किया गया है कि मौन हमेशा स्वीकृति का पर्याय नहीं होता।

देशों और मनुष्यों और भाषाओं के बीच
जितना और जो कुछ खाली है वहीं और वहीं
कविता है
तुम उसे आत्मा का अनुवाद और मैं
अन्तिम समय तक
मनुष्य के साथ रहने वाला निर्णय कहता हूँ।

पराड़कर जब बोलते थे तो लगता था समय का सबसे समझदार आदमी बोल रहा है। जब उनकी जुबान पर ताले जड़े गए, तब अग्रलेख के खाली पृष्ठ पर एक छोटी पंक्ति, शेर, श्लोक या श्लोकार्ध से ही सब कुछ कह दिया। कभी दो-तीन वाक्यों में शोषक तत्वों की भाववाचक संज्ञाएँ गिनाते हुए अन्त में इतना जोड़ दिया कि ऐसी स्थिति में एक देश भक्त स्वतंत्रताप्रेमी, अहिंसावादी जो कहेगा, वही मेरा भी कहना है। चूँकि अग्रलेख नहीं लिखा जा सकता था, अतः चतुराई से ऐसे वाक्यों के लिए उन्होंने एक नया शीर्षक बनाया–सम्पादकीय विचार।

आजादी की लड़ाई में शामिल छद्मवेषियों तथा योग्यता की कमी के बहाने आजाद न करने की बात कहने वाली ब्रिटिश सरकार के लिए तुलसी की इस चौपाई से तन्ज का काम लिया-

उघरहिं अन्त न होहिं निबाहू
कालनेमि जिमि रखन राहू।

डोमिनियन स्टेट के प्रश्न पर एक श्लोक लिखा, जिसका अर्थ था–दुर्भाग्यवश गधों के साथ रहने लगने पर भी सिंह कभी बोझा नहीं ढोता, कभी घास नहीं खाता। जब-जब भारतीय अस्मिता लहूलुहान हुई, पराड़कर ने सिर्फ एक वाक्य लिखा-

'विषम परिस्थिति को बलि'

यह वाक्य उन्होंने कई बार दुहराया है और जितनी बार दुहराया है, उतनी बार यह वाक्य तत्कालीन इतिहास का शीर्षक बन गया है।

सम्पादकीय विचार के रूप में इस वाक्य को १९४३ ई. की ८ जनवरी, ९ जनवरी, २९ फरवरी और २४ फरवरी को लिखा गया। उस समय पूरे भारत में भारत छोड़ो आन्दोलन

की दावाग्नि फैली हुई थी। तबसे पहले इतनी तूफानी क्रान्ति नहीं हुई थी, न इतना कठोर दमन ही दिखा था। तमाम नेता जेल में थे, कांग्रेसी, समाजवादी भूमिगत थे और हिंसा-अहिंसा गले मिलकर क्रान्ति के रक्तपथ पर बढ़ रही थी।

सारा संसार विश्वयुद्ध की आग में झुलस रहा था। देश की अनिच्छा के बावजूद भारत के धन-जन को ब्रिटिश शासन युद्ध में झोंके जा रहा था, दूसरी तरफ भारत छोड़ो...के 'न भूतो न भविष्यति' तूफान को दबाने के लिए भयंकर दमन-चक्र चलाया जा रहा था।

फरवरी में ब्रिटिश शासन अनशनरत गांधी की क्रमिक मृत्यु की सोल्लास प्रतीक्षा करने लगा था, गांधी को बचाने के लिए जनता मृत्यु से आँखें मिला रही थी, सच बोलने वाली जुबान और सच लिखने वाले हाथ काट दिए जाते थे, तब पराड़कर ने लिखा—विषम परिस्थिति कीं बलि।

पराड़कर के छोटे-छोटे परिच्छेदों में तत्कालीन भारत की समूची पीड़ा और समूचा संघर्ष अभिव्यक्त हो गया है। उनके सादे पृष्ठों पर विद्रोह का आकाशव्यापी विस्तार उभरा है, चुप्पी से दिगन्तव्यापी विद्रोह अभिव्यक्त हुआ है। वे जब बोले तो तीनों कालों का सच बोल गये और जब चुप हुए, तब भी तीनो कालों में हमेशा गूँजती रहने वाली आवाज के रूप में छा गए।

'रणभेरी' के रूप में उन्होंने एक और कमाल दिखाया था। 'रणभेरी' एक पत्रिका थी। ब्रिटिश खुफियां विभाग को कभी पता नहीं चल पाया कि यह पत्रिका कहाँ से, कब, कैसे निकलती है और किस जादू के जोर से सर्वत्र वितरित हो जाती है। 'नाक के नीचे' वाला मुहावरा शायद उन्हीं के इस कमाल के चलते बना होगा। सरकार की अतिरिक्त घ्राणशक्तिपूर्ण नासिका के नीचे उन्होंने अदृश्य घुआँ उठाकर छोड़ दिया। छटपटाती रही ब्रिटिश सरकार और वे रणभेरी बजाते रहे। उनके लिए 'फैज' के ये शब्द कितने मौजूँ हैं-

मता-ए-लौहो-कलम छिन गयी तो क्या गम है
कि खूने दिल में डुबो ली हैं उँगलियाँ हमने
जबाँ पे' मुहर लगी है तो क्या कि रख दी है
हर एक हल्का-ए-जंजीर पर जुबाँ हमने
(पाकिस्तान में मार्शल लॉ लागू होने पर)

उस वक्त तक अगर कहा गया होता तो 'फैज' का यह कता अपने सम्पादकीय विचारं में वे जरूर रखते-

आ गयी फस्ले-सकूँ चाक-गिरेबाँ वालो
सिल गये होंठ कोई जख्म सिले या न सिले
दोस्तों बज्म सजाओ कि बहार आई है
खिल गये जख्म कोई फूल खिले या न खिले
(पाकिस्तान में मार्शल लॉ लागू होने पर)

चिन्ता

जनसंचार और साहित्य का सिमटता संसार

देवेंद्र इस्सर

किसी सुबह हम जागें और खबर मिले कि होमर, कालिदास, फिरदौसी, शेक्सपीयर, गालिब, जयशंकर प्रसाद आदि की कृतियाँ किसी भूकंप या आग में नष्ट हो गयी हैं तो शायद कुछ 'सनकी' लोगों को छोड़कर किसी को गम नहीं होगा कि कोई दुखद मानवीय दुर्घटना हो गयी है। समाचार-पत्रों में भूकंप अथवा आग की खबर और किसी राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या राजनेता का संवेदना संदेश अवश्य छप जायेगा।

साहित्य की जरूरत किसी को भी नहीं। नाई, धोबी, किसान, मजदूर, अभियन्ता, सरकारी कर्मचारी, सैनिक, सिपाही डॉक्टर, रिक्शावाला, राजनीतिज्ञ–किसी के लिए मेघदूत, हेमलेट, शाहनामा, ओडीसी, दीवाने-गालिब या कामायनी की जरूरत नहीं। सब लोग अपने-अपने क्षेत्र में इनके बगैर काम कर सकते हैं। जीवन में सफलता प्राप्त कर सकते हैं और सुख-सुविधा की जिन्दगी बसर कर सकते हैं।

साहित्य जीवन की महत्वपूर्ण समस्या नहीं। सामान्य लोगों के लिए जिनमें अभिजात वर्ग भी शामिल है- धनी-निर्धन, मध्य वर्ग, शिक्षित-अशिक्षित, युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष किसी के लिए भी साहित्य का कोई महत्व नहीं। शायद कुछ लेखकों को छोड़कर साहित्य किसी को ख्याति, पद प्रतिष्ठा, धन, लोकप्रियता, सुख-सुविधाएँ कुछ भी नहीं दे सकता जब तक कि लेखक किसी समृद्ध, शक्तिशाली व्यवस्था से संयुक्त न हो जाये या साहित्य को मनोरंजन की सतह पर न ले जाये। यही कारण है कि लेखक और जनसाधारण में प्राय: एक सामाजिक और मानसिक फासला रहा है। स्पष्ट है जब किसी राष्ट्र की संस्कृति क्रिकेट, फिल्म और टेलीविजन तक सीमित हो जायेगी तो परिस्थिति इससे बेहतर नहीं हो सकती है।

लेखक और कलाकार सामान्य लोगों से यदि श्रेष्ठ नहीं तो भिन्न अवश्य समझे जाते हैं। लेखक और जनता के बीच एक मानसिक फासले के बावजूद लोगों के मस्तिष्क में उनकी सृजनात्मक हैसियत के साथ-साथ उनकी एक रूमानी छवि भी होती है कि वे समाज के प्रबुद्ध और संवेदनशील व्यक्ति हैं, जिसके कारण साहित्य और कला को अपने युग की संस्कृति का दर्पण माना जाता है। सामन्ती युग में इन्हें राजाओं, सामन्तों और अभिजात वर्ग का संरक्षण प्राप्त था। इन कुलीन लोगों के पास धन था, शिक्षा थी, अवकाश था और वे रसज्ञ और कला-पारखी समझे जाते थे। जनसंचार के आधुनिक माध्यमों से पूर्व लेखक और कलाकार

चेतन या अवचेतन तौर पर प्राय: अपने संरक्षकों की मानसिकता से ही प्रभावित होते थे। लिहाजा उनके चिन्तन और कृतियों पर उनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। साहित्य की विषयवस्तु ही नहीं बल्कि इसकी शैली और रूप भी इनसे प्रभावित होते थे।

आधुनिक युग में जनसंचार के माध्यमों की लोकप्रियता के कारण संस्कृति दरबारों और महलों की दीवारों से बाहर निकलकर साधारण लोगों के घरों में प्रवेश कर रही है। जनता की चेतना के साथ उनकी सामाजिक हैसियत में भी परिवर्तन आया है। अब 'जनता' भी समाज में शामिल हो रही है। इससे पूर्व समाज का अर्थ था विशिष्ट अभिजात वर्ग। इस वर्ग के साहित्य और कला को जहाँ आधुनिकता के दबाव से जूझना पड़ा है वहाँ इसे जनता की नयी उभरती हुई संस्कृति की चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। लोक संस्कृति और साहित्यिक विरसे ने भी इसके प्रभाव को सीमित करने में कोई कम भूमिका नहीं निभायी। जब जनसंचार के माध्यमों का प्रसार होने लगा और जनता को साहित्यिक एवं कला कृतियाँ उपलब्ध होने लगीं तो लोकप्रिय संस्कृति का प्रचार तेजी से होने लगा। लोकप्रिय संस्कृति शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है- सामान्य, सरल, सुबोध, साधारण, जनप्रिय, सतही, निकृष्ट आदि। यह इस पर निर्भर है कि हम लोकप्रिय संस्कृति के प्रति कौन-सा रवैया अपना रहे हैं।

लेकिन साहित्यकार और कलाकार, चिन्तक और दार्शनिक, बुद्धिजीवी और अभिजात वर्ग और कुछ मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री लोकप्रिय संस्कृति से बड़े परेशान हैं। उन्होने प्राय: इस संशय को व्यक्त किया है कि कला और साहित्य के उच्च मूल्यों का ह्रास हो रहा है। ललित कलाएँ भ्रष्ट हो रही हैं। साहित्य और कला के पाठकों, दर्शकों अथवा श्रोताओं का दायरा

सिमटकर बहुत ही सीमित होता जा रहा है। इसलिए आज जीवन के संबंध में मूल और महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं पूछे जा रहे और न ही उनके उत्तरों की गंभीरता से तलाश की जा रही है। शिक्षा का व्यापक प्रसार भी सौन्दर्य अभिरुचि को परिष्कृत करने में पूरी तरह यदि असफल नहीं तो प्रभावहीन अवश्य ही सिद्ध हुआ है। इसलिए शिक्षा भी साहित्य और संस्कृति की परवरिश में सहायक सिद्ध नहीं हो रही है और न ही मनुष्य की संवेदना को गहन एवं सक्रिय बना रही है। एक जमाने में यह धारणा आम थी कि लोगों में शिक्षा का प्रसार हमारे सांस्कृतिक दारिद्र्य को दूर कर देगा। यदि शिक्षा आम हो जाये तो संस्कृति का विकास और साहित्यिक मूल्यों का प्रसार संभव हो सकता है। लेकिन शिक्षा के व्यापक प्रसार के बावजूद यह आशा भी पूरी होती दिखायी नहीं दे रही।

यह सही है कि अब अधिक लोग पुस्तकें और पत्रिकाएँ पढ़ते हैं। लेकिन क्या यह सौन्दर्यानुभूति या आध्यात्मिक तुष्टि के लिए है या मनोरंजन और विलास के लिए ? मानसिक दबाव को दूर करने या समय बिताने और 'नींद' लाने के लिए ? इनमें साहित्यिक पुस्तकें या पत्रिकाएँ बहुत ही कम होती हैं। विज्ञान, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में सस्ती पुस्तकें भी प्रकाशित हो रही हैं, लेकिन रुचि का परिष्कार नहीं हो रहा। रिचर्ड हैगर्ड ने अपनी पुस्तक 'दि यूजिज ऑफ लिट्रेसी' में इस समस्या का गहन वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उसने लिखा है कि यह धारणा गलत सिद्ध हुई है कि जो लोग आर्थिक विषमता के कारण सौन्दर्यानुभूति से वंचित रह जाते हैं शिक्षा उनके लिए ऐसे अवसर उपलब्ध करेगी जिनसे वे साहित्यिक अभिरुचि की तुष्टि कर सकें। लेकिन यदि आज हम जनसाधारण और सुसंस्कृत लोगों की भाषा का तनिक गौर से अध्ययन करें तो ऐसा मालूम होगा जैसे वह बिगड़े हुए शहरी लोगों की भाषा है। इस प्रकार जहाँ एक ओर लोकप्रिय संस्कृति के विकास के लिए सामाजिक और तकनीकी वातावरण तैयार हो रहा है तो वहाँ दूसरी ओर उसके विरुद्ध बौद्धिक परिवेश भी विस्तृत हो रहा है।

आखिर लोकप्रिय संस्कृति के विरुद्ध दायर केस के मूल तर्क क्या हैं ?

१. प्रत्येक समाज में कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जिनकी रुचि परिष्कृत होती है या जिनमें साहित्य और कला की रचनात्मक प्रतिभा होती है। ऐसे लोग एक विशिष्ट मिजाज के होते हैं और वे साहित्य और कला के सृजन के लिए उपयुक्त माहौल तैयार करते हैं। शिक्षा के प्रसार से यह आवश्यक नहीं कि यह दायरा विस्तृत हो जायेगा। सृजनात्मक शक्ति और कला की उपज हर किसी को नसीब नहीं होती और न ही हर किसी को साहित्यिक परख और उसके मूल्यांकन और उससे रस लेने की क्षमता ही प्राप्त होती है। मानसिक तौर पर अवयस्क लोग सृजन के मूल्यों से अलग होकर एक ऐसी सभ्यता को सीने से लगाये हुए हैं जो तुच्छ और भ्रष्ट हो चुकी है। क्योंकि जब प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति के गुण-अवगुण, रवैये और चरित्र का पैमाना अधिक धन है तो भौतिक और सौन्दर्यात्मक मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं। और यह सब कुछ हमारे जीवन में इतना गहरा पैठ चुका है कि इसके बाहर का वातावरण हमें अजनबी, अर्थहीन और अरुचिकर लगता है। यदि किसी क्षण यह सब कुछ रुक जाये तो ऐसा महसूस होगा कि हमारे

पास अपने मन और आत्मा में कुछ नहीं जो हमारे जीवन को भर सके, जीवित रख सके–सिवाय एक व्यापक भयानक शून्य के, भीतर भी और बाहर भी।

२. जनसंचार और लोकप्रिय संस्कृति में मौलिकता नहीं होती (यहाँ जनसंचार माध्यम और लोकप्रिय संस्कृति को समान अर्थ में इस्तेमाल किया गया है यद्यपि कम्युनिकेशन के सिद्धांतों के अनुसार यह ठीक नहीं)। चिन्तन और अभिव्यक्ति में कोई विविधता नहीं होती, इनमें सामूहिकता और सामान्यता का समावेश अधिक होता है। एकरूपता के कारण इसमें नवीनता, वैयक्तिकता और गहराई संभव नहीं। हम एक प्रकार के गाने सुनते हैं, एक ही तरह की फिल्में देखते हैं, एक ही किस्म की पत्रिकाएँ पढ़ते हैं। प्रकट अथवा प्रच्छन्न प्रचार और विज्ञापन के कारण हमारी रुचि एक-समान होती जा रही है। हमारी निजी पसन्द और संवेदना धीरे-धीरे इसका शिकार बनकर या तो नष्ट हो रही है या अमल में नहीं आ पा रही और हम एक घातक निष्क्रियता का शिकार बनकर रह गये हैं। धारावाहिक नाटक जो दूरदर्शन पर प्रस्तुत किये जाते हैं वे कुछ बँधे-टिके फार्मूलों पर आधारित होते हैं। पात्र 'टाइप' बन जाते हैं, कथानक और संवाद बार-बार दुहराये जाते हैं। यह 'सोप आपेरा' या 'सिटकाम' व्यावसायिक फिल्मों की तरह ही दर्शक को 'विवेक-शून्य रोबो' में बदल रहे हैं।

३. लोकप्रिय संस्कृति लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों के बजाय 'शोबिज़' के अदाकारों को महत्व देती है। यदि बुद्धिजीवी इन कार्यक्रमों में भाग लेते भी हैं तो वे भी एक प्रकार का रोल प्ले करते हैं। फिल्म और दूरदर्शन 'हीरो' को लोकप्रियता प्रदान करते हैं। हीरो कोई भी हो सकता है। फिल्म अभिनेता, राजनीतिज्ञ, अपराधी, छद्म घटनाएँ, झूठे किस्से-कहानियाँ मस्तिष्क पर हावी हो जाते हैं। यह युग उस हीरो का नहीं जो कोई विशेष महत्वपूर्ण कार्य करता है- मानवता और क्रान्ति के लिए शहीद हो जाता है या अपना समस्त जीवन अर्पित कर देता है। यदि कोई हीरो है तो मनोरंजन के संसार का कोई ग्लेमर ब्वाय या 'शोबिज' का रसिया। जनसंचार के माध्यम किसी को भी हीरो बना सकते हैं। इसके लिए विशिष्ट प्रतिभा की जरूरत नहीं। संवेदनशीलता की नहीं, शरीर के आकर्षण की जरूरत है। बुद्धि की नहीं, प्रदर्शन की जरूरत है। सांस्कृतिक पतन की एक निशानी यह भी है कि आज कोई विलक्षण व्यक्तित्व पैदा नहीं होता। सब साधारण व्यक्ति होते हैं। इसलिए यह दौर 'एण्टी हीरो' का दौर है जो हालात को अपने आदर्श के अनुकूल मोड़ने के बजाय स्वयं हालात के अनुरूप ढल जाते हैं।

४. कहा जाता है कि साहित्य और कला के विरुद्ध यदि सबसे बड़ा कोई अस्त्र प्रयोग में लाया गया है तो वह जनसंचार के माध्यम-फिल्म, रेडियो, दूरदर्शन और व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएँ हैं। वैसे ये साहित्य के नाम पर बहुत कुछ प्रसारित प्रकाशित करते रहते हैं। मासमीडिया ने एक अ-नैतिक, अ-सौंदर्यात्मक, विलासपूर्ण, मनोरंजक साहित्य के प्रसार में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हम क्या खाएँ, क्या पहनें तथा खरीदें, क्या सोचें-क्या देखें, किसका अनुकरण करें, किससे घृणा करें, क्या पसन्द करें क्या नापसंद, क्या पढ़ें-सब कुछ मासमीडिया तय करता है और यह सब कुछ मनोवैज्ञानिक तौर पर प्रच्छन्न और कई बार

चेतन रूप से किया जाता है। इसका एक अध्ययन वान्स पेकर्ड ने अपनी पुस्तक 'दि हिड्डन पर्स्युएडर्स' में प्रस्तुत किया है। लोकप्रिय संस्कृति में, सेक्स, प्रेम, जीवन, मृत्यु, मनुष्य और सृष्टि, व्यक्ति और समाज की धारणाएँ बदल गयी हैं। भावनात्मक और आध्यात्मिक जीवन से शून्य ये लोग वर्तमान समाज के ऐसे प्रवासी हैं जिनकी जड़ें नहीं, वे भीड़ या हुजूम से अलग नहीं रह सकते। साहित्यिक कृतियाँ जीर्ण रीति-रिवाजों और प्रचलित रूढ़ियों को चुनौती देती हैं। जिसका खतरा जनसंचार के माध्यम लेने के लिए तैयार नहीं क्योंकि उन्हें प्रत्येक वर्ग को प्रसन्न करना होता है। विशेषकर प्रतिष्ठित वर्ग, सत्ता-व्यवस्था और व्यावसायिक वर्ग को जो इन संचार-माध्यमों के स्वामी होते हैं या उन पर उनका नियंत्रण है या जिनसे उनको रकम या अनुदान मिलता है। और इस प्रकार जनसंचार माध्यम यथास्थिति बनाये रखने में सहायता देते हैं। इन माध्यमों की पहुँच दूर-दूर तक फैले हुए क्षेत्रों, नगरों, गाँवों और आदिवासी बस्तियों तक है। ये माध्यम उनकी रोजमर्रा की परिस्थितियों को नजर-अंदाज करके उन्हें सर्कस का तमाशा पेश करता है।

५. लोकप्रिय संस्कृति लोगों का ध्यान उनकी जटिल और विषम समस्याओं से हटाकर सतही बातों की ओर ले जाती है और हर बात को सतही तौर पर प्रस्तुत करती है। समस्या का अध्ययन भी सतही और उनका समाधान भी सतही। इस प्रकार ये समस्याएँ और भी उलझती चली जाती हैं, समाधान से बाहर होती चली जाती हैं। इसलिए जब तक किसी देश में कोई संकट की स्थिति उत्पन्न नहीं होती जनता सक्रिय नहीं होती। बुद्धिजीवी लोगों का ध्यान उनकी रोजमर्रा की समस्याओं की ओर दिलाते हैं। लेकिन जनसंचार के माध्यमों से प्रभावित लोग यथार्थ से पलायन करते हैं। वे हकीकत को सहन नहीं कर सकते। वर्तमान युग ने एक ऐसे आध्यात्मिक शून्य को जन्म दिया है जिसमें भोग-विलास, अर्धविकसित भावनाओं और प्रवृत्तियों की निर्बाध तुष्टि को ही जीवन का ध्येय समझा जाने लगा है। मूलत: यह रवैया एक भौतिक, विलासपूर्ण, ऐश्वर्ययुक्त संस्कृति का पोषण करता है जो न केवल साहित्य और कला के मूल्यों और आध्यात्मिक जीवन को नकारता है बल्कि उसे तिरस्कार की दृष्टि से भी देखता है। वास्तव में लोकप्रिय संस्कृति नवयुवकों, नव-धनाढ्यों और अर्ध-शिक्षित लोगों की संस्कृति बनती जा रही है।

६. लोकप्रिय संस्कृति में बहुमत को अल्पमत के चिन्तन पर तरजीह दी जाती है। वह लोगों के मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाती बल्कि इसके विपरीत यह विश्वास दिलाने का प्रयास करती है कि अन्त में सब कुछ ठीक हो जायेगा। अपने मस्तिष्क, विवेक और आत्मा पर बोझ डालने की जरूरत नहीं।

७. फिल्मों और लोकप्रिय पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में घटनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि जनसाधारण भ्रष्टाचार, अपराध, हिंसा, दमन, अन्याय और सक्रिय जीवन के अभ्यस्त हो जाते हैं। वे प्रतिकार नहीं करते। यथार्थ से जूझने का समस्त बल और संकल्प शिथिल हो जाता है जिसमें प्रवेश करने का रास्ता तो उन्हें मिल जाता है लेकिन उससे बाहर निकलने के तमाम रास्ते बन्द हो चुके होते हैं। ज्ञान, साहित्य और कला अनावश्यक हो

जाते हैं। रुचि और पसंद में एकरूपता पैदा हो जाती है। जनसंचार माध्यम उन लोगों के आक्रमण का अस्त्र बन जाते हैं जो धनसंग्रह, प्रतिष्ठा या लोकप्रियता के लिए इनका प्रयोग करते हैं और अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को व्यवसाय के लिए इस्तेमाल करते हैं। संचार के साधन इतने व्यापक और विस्तृत हो जाते हैं कि लोग बिरादरी और निजी रिश्तों से कट जाते हैं, यहाँ तक कि अपने आप से भी।

८. यहाँ विख्यात मनोचिकित्सक डेविड रोनल्ड लेंग (जिसे 'पागलों का मसीहा' कहा जाता है और जिसे 'एण्टी साइकेट्री' के प्रवर्तक के रूप में याद किया जाता है) का उल्लेख आवश्यक है-एक तेरह वर्षीय लड़की के माता-पिता ने लेंग से शिकायत की कि वह उनके हाथों से निकली जा रही है। वह असामान्य व्यवहार करती है। क्योंकि जब हम टेलीविजन देखते हैं तो वह अपने कमरे में जाकर खाली दीवार पर नजरें गाड़ देती है। लेंग ने कहा कि मेरा ख्याल है कि लड़की इतनी देर तक दीवार नहीं देखती जितनी देर तक उसके माता-पिता टेलीविजन स्क्रीन देखते हैं। उन्हें लड़की के दीवार देखने पर आपत्ति है अपने टेलीविजन देखने पर नहीं। यह महज अपनी-अपनी पसंद है। रोगी कौन है- वह लड़की जो बगैर कुछ बोले खाली दीवार देखती है या उसके माँ-बाप जो घंटों टी.वी. स्क्रीन पर दृष्टि जमाये रहते हैं। ये निष्क्रिय तौर पर परछाइयाँ देखते हैं जबकि लड़की खाली दीवार पर चित्रकारी की कल्पनाशील और सृजनात्मक प्रक्रिया से गुजरती है।

९. 'सोप आपेराज' की यही विशेषता है कि वह जीवन की समस्त समस्याएँ बड़ी सरलता से सुलझा देते हैं। व्यक्ति और परिवार जो कठिनाइयों में जकड़े जाते हैं किसी न किसी तरह इन कठिनाइयों का कोई न कोई समाधान ढूँढ ही निकालते हैं, जो रोजमर्रा की जिन्दगी में प्रायः संभव नहीं होता। क्योंकि कहानी को जारी रखना होता है इसलिए नयी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहती हैं और हल होती रहती हैं। निर्माता यह दावा करते हैं कि वे अपने धारावाहिकों की विषयवस्तु जनसाधारण की रोजमर्रा की जिन्दगी से लेते हैं और उसे एक ऐसी सामान्य और व्यापक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करते हैं जिससे अधिक से अधिक लोग उससे लाभ उठा सकें। वे लोगों को पलायन की ओर नहीं ले जाते बल्कि उन्हें सोचने के लिए मानसिक खुराक देते हैं। 'सिटकाम' (सिचुएशन कामेडी) के निर्माता यह दावा करते हैं कि वे लोगों को उनकी रोजमर्रा की जिन्दगी की तल्खियों से दूर फुर्सत और मनोरंजन के कुछ क्षण उपलब्ध कराते हैं जो उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए बेहद जरूरी है।

१०. जनसंचार माध्यम यदि साहित्य को भी प्रस्तुत करता है तो इस प्रकार कि उससे साहित्य लुप्त हो जाता है। क्या यह संभव है कि साहित्यिक मूल्यों को भ्रष्ट किये बगैर उसे लोगों तक पहुँचाया जा सके। क्या इससे साहित्य का मय्यार इतना नहीं गिर जायेगा कि उसका मूल्यांकन करना भी मुश्किल हो जायेगा। क्या जनसंचार के युग में साहित्यिक गतिरोध या पतन रोका जा सकता है ?

११. मास उत्पादन के कारण लोकप्रिय संस्कृति उत्कृष्टता के मय्यार को कायम नहीं रख सकती। उसके सामने श्रोताओं/दर्शकों/पाठकों का एक विशाल समूह होता है न कि मूल्य,

मय्यार और सुरुचि। लोकप्रिय माध्यम संस्कृति के उत्कृष्ट मूल्यों पर आधारित विषयवस्तु को लेकर उसे लोकप्रिय बनाने के लिए उसके तत्व, मूल्य और कलात्मक गुणों को खत्म कर देते हैं। यहाँ तक कि उन लोगों को भी लोकप्रिय संस्कृति के निर्माण के लिए इस्तेमाल किया जाता है जिनमें सृजनात्मक प्रतिभा और मौलिकता होती है। धीरे-धीरे यह सब कुछ एक खास ढाँचे में ढल जाता है। हर्बर्ट मारकूज के विचार में मासमीडिया सत्ता-लोलुप राजनीतिज्ञों और तानाशाहों के हाथ में एक घातक अस्त्र है जिसका प्रयोग लोगों के दमन और शोषण के लिए किया जाता है। मारकूज ने लोकप्रिय संस्कृति को सत्ता और पूँजीवाद का फैलाया हुआ जाल कहा है जिसे परिवर्तन और क्रान्ति के विरुद्ध दमन और हिंसा के लिए इस्तेमाल में लाया जाता है। मासमीडिया, टेक्नोलॉजी और लोकप्रिय संस्कृति लोगों के लिए विरेचन-प्रक्रिया है जिसके कारण प्रोटेस्ट का जज्बा कमजोर पड़ जाता है। यह एक नशा है जो उन पर हावी हो जाता है और उन्हें परिवर्तन की प्रक्रिया से दूर रखता है। जिन्दगी की हकीकत से दूर उन्हें सपनों के संसार में ले जाता है।

१२. मास मीडिया सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक और भावनात्मक तौर पर हानिकारक है। वे लोग जो मानसिक तौर पर 'विघटित' होते हैं मासमीडिया उनकी तुष्टि का साधन बनता है। उन्हें अणु में बदल देता है। यह भी एक नशा है जिससे मुक्ति संभव नहीं, जो मनुष्य की पहचान को ही नहीं उसकी आत्मिक शक्ति को भी नष्ट कर देता है।

...और यह सूची बहुत लम्बी है।

मासमीडिया, समाज और संस्कृति के आलोचकों में वे बुद्धिजीवी अधिक सक्रिय हैं जो नयी टेक्नालॉजी और इलेक्ट्रानिक्स को मनुष्य के अस्तित्व और उसके स्वाभाविक विकास के लिए घातक समझते हैं। स्पेनी समाजवेत्ता ख़ोसे ओर्तेगा इ गासेत् ने १९३२ में प्रकाशित अपनी विख्यात पुस्तक 'रिवोल्ट ऑफ दि मासेस' में यह विचार व्यक्त किया है कि आधुनिक युग मे जिस संस्कृति का पोषण हो रहा है उसमे वैयक्तिक विचार अनुभूति और रुचि को एक सामूहिक ढाँचे में ढाला जा रहा है। मनुष्य की आत्मा और संस्कृति को भौतिक जगत का शिकार बनाया जा रहा है। जनता अपनी महान विरासत से विमुख होती जा रही है। वह मास मीडिया, टेक्नोलॉजी और संगठन की परस्पर प्रक्रिया के अन्तर्गत एकरूप और रेजमन्टेशन का शिकार बनती जा रही है। इसीलिये संस्कृति और कला तथा जीवन की सुख-सुविधाएँ जो कल तक विशिष्ट सम्पन्न वर्ग तक सीमित थीं अब सामान्य होती जा रही हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में उनकी वैयक्तिक-रचनात्मक भूमिका भी खत्म होती जा रही है। इन हालात में समाज में तनाव और कशमकश की स्थिति पैदा हो गयी है जिसके कारण हिंसात्मक शक्तियों को बल मिल रहा है और इस प्रकार आधुनिक सभ्यता गहरे संकट का शिकार होकर विघटन और विनाश की ओर अग्रसर हो रही है। याद रहे कि इस पुस्तक को प्रकाशित हुए अर्ध-शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है और इसके प्रकाशन के अगले दस पन्द्रह वर्षों तक टेक्नालॉजी पर निरन्तर प्रहार किये गये। गासेत् के अनुसार आज लोगों को अधिक स्वतन्त्रता, शिक्षा और अवकाश उपलब्ध हैं। लेकिन इसका सही उपयोग नहीं हो सका। आज भी लोग यीशु पर बारबस को

तरजीह देते है।

बुद्धिजीवी बड़ी दुविधा की हालत में हैं। एक ओर तो वे प्रजातंत्र और संस्कृति के विस्तार की बात करते हैं तो दूसरी ओर वे प्रजातंत्र को, जिसे जनता पसन्द करती है, निकृष्ट घोषित करते हैं, यानी लोकप्रिय संस्कृति की भर्त्सना जो प्रजातंत्र और शिक्षा के प्रचार का तकाजा है। लेकिन.....

ये जनसंचार के माध्यम ही हैं जिन्होंने साहित्य और कला को सामान्य जन तक पहुँचाया है, राजदरबारों, महलों, और मन्दिरों से निकालकर नगरों के गली-कूचों गाँवों और दूरदरांज क्षेत्रों तक लोगों के घर-आँगन में पहुँचाया है। चाहे वह कैलेण्डर हो या कैसेट, टेलीविजन हो या रेडियो या फिल्म। साहित्य और कला का एकाधिपत्य और अभिजातीय स्वामित्व खत्म हो रहा है। जो लोग वैयक्तिक अभिरुचि और सृजनात्मक प्रतिभा की बात करते हैं, वे भूल जाते हैं कि सभ्यता, संस्कृति, शास्त्रीय और लोक संगीत, नृत्य, साहित्य एवं कला के पतन को टेक्नॉलाजी के द्वारा ही रोका जा सकता है। मास मीडिया की अवहेलना या भर्त्सना करना जनता को साहित्य और कला से वंचित रखना है। आज रेडियो, ट्रांजिस्टर, टी. वी., उपग्रह, कैसेट, चलते-फिरते सिनेमा घर, वीडियो, पेपरबैक्स आदि द्वारा टैगोर, प्रेमचन्द, गालिब, रविशंकर, ओंकारनाथ ठाकुर, बड़े गुलाम अली खाँ, सुब्बलक्ष्मी, हुसैन, बेगम अख्तर-कितने ही नाम हैं जो देश और दुनिया के कोने-कोने में पहुँच चुके हैं। क्या यह सांस्कृतिक पतन है या सांस्कृतिक विस्तार ? लोकप्रिय संस्कृति ने लोगों को गुमनामी और अवरोध से निकालकर उनकी रचनात्मक शक्ति को सक्रिय किया है। उन्हें अपनी पहचान और दृष्टि दी है, अभिव्यक्ति का अवसर प्रदान किया है। यह आवश्यक नहीं कि संख्या या मात्रा में वृद्धि का परिणाम मय्यार में कमी ही हो। मासमीडिया और टेक्नोलॉजी के कारण जो तब्दीली आयी है वह महज सतही या अस्थायी नहीं। यह हकीकत है, जिसे नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता है और न ही लोकप्रिय संस्कृति की बाढ़ को रोका जा सकता है। साहित्य और कला अभिजात वर्ग के सीमित परिवेश वे बाहर निकलकर समाज में प्रविष्ट होकर आम लोगों के पास पहुँच रही है। प्रत्येक कलाकृति का सामाजिक पहलू होता है। उस कृति की रचना-प्रक्रिया कितनी ही निजी क्यों न हो जब उसकी नुमाइश हो जाती है या कोई रचना छपकर सामने आती है, संगीत समारोह होता है या चित्रों की प्रदर्शनी लगती है या पुस्तक को प्रकाशन या मासमीडिया द्वारा प्रसारित किया जाता है तो वह कलाकृति सामाजिक रूप धारण कर लेती है। जब वह अपने निजी मित्रों, प्रशंसकों या संरक्षकों की महफिल से बाहर आती है तो उसको प्रस्तुत करने के लिए कई अन्य लोगों, विशेषज्ञों, संगठनों और धन की आवश्यकता होती है।

यह सोचना कि आम लोग मंदबुद्धि होते हैं या उनमें सौंदर्याभिरुचि नहीं होती, एक सामंती और प्रतिगामी विचार-पद्धति है। संस्कृति के क्षेत्रों में सूचना, ज्ञान, मनोरंजन ओर सौंदर्य तुष्टि, कई बातें शामिल हैं। हमें देखना यह है कि किसकी क्या भूमिका है ? लोगों की भूमिका में विविधता होती है इसीलिए किसी एक वर्ग की अभिरुचि को उत्कृष्ट या परिष्कृत मानकर किसी अन्य वर्ग को तुच्छ या निकृष्ट घोषित नहीं किया जा सकता। और न ही किसी

एक सांस्कृतिक मूल्य को कसौटी मानकर दूसरे मूल्यों को नकारा जा सकता है। प्रत्येक संस्कृति में कई स्वर होते हैं, पक्ष होते हैं। यदि अभिजात वर्ग की संस्कृति को ही संस्कृति की चरम सीमा समझते हैं तो यह संस्कृति लोगों के जीवन का अंग कभी नहीं बन सकती है। परिणाम यह होगा कि समाज में हमेशा सांस्कृतिक अलगाव और तनाव रहेगा। केवल शिक्षा के प्रचार से ही उत्कृष्ट मूल्यों का विकास नहीं हो सकता। जिस मास सोसाइटी में हम रह रहे हैं उसमें किसी कालिदास, फिरदौसी, शेक्सपीयर या गालिब की परिकल्पना संभव नहीं। आज सृजनात्मक शक्ति भी समाज के विभिन्न वर्गों में प्रवेश कर चुकी है। यह सब कुछ सामाजिक परिवर्तन जनसंचार के माध्यमों और लोकप्रिय संस्कृति के कारण ही संभव हो सका है। अभिजातीय संस्कृति के स्थान पर मध्य वर्ग की संस्कृति अधिक विस्तृत हो रही है जो लोकप्रिय संस्कृति के अधिक निकट है और अभिजातीय संस्कृति में वैयक्तिक संवेदना, सौंदर्याभिरुचि और बौद्धिक उपज अधिक प्रबल है। लोकप्रिय संस्कृति का केन्द्र दर्शक, श्रोता और पाठक हैं, जिनकी सामाजिक पृष्ठभूमि, वर्ग चेतना, मूल्यों और संवेदनाओं को मद्देनजर रखकर कृति प्रस्तुत की जाती है। लोकप्रिय संस्कृति बहुसंख्यक के सौन्दर्यदर्शन, रुचि और जरूरतों को पूरा करती है। जरूरी नहीं कि यह संस्कृति व्यावसायिक ही हो। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि इस बात का निर्णय वह स्वयं करे कि उसे किस प्रकार की संस्कृति चाहिए। क्या साधारण लोगों को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वे भी सांस्कृतिक विकास के भागीदार हो सकें ? वे किसी भी तरह अभिजातीय संस्कृति में अवरोध का कारण नहीं। यदि कहा जाये कि रचनात्मक साहित्य के सृजक स्वयं ही सामान्य संस्कृति की लोकप्रियता और लाभ के कारण रचनात्मक साहित्य का त्याग कर रहे हैं तो अधिक सही है। वे जनता की अल्पबुद्धि, परिस्थितियों और समय को कोसते हैं। यह प्रतिरक्षात्मक और दंभपूर्ण व्यवहार है।

आज का युग सांस्कृतिक जनतंत्र और बहुवाद का युग है। उत्कृष्ट संस्कृति के समर्थक चन्द लोगों को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता है कि वे बहुमत की संस्कृति के बारे में अपनी राय और पसंद को लोगों पर लादें। लोकप्रिय संस्कृति आम लोगों के लिए हानिकारक नहीं। लोकप्रिय संस्कृति पूरे समाज में फैले हुए सम्प्रेषण का बहुत ही कम लेकिन महत्वपूर्ण भाग है। समाज में जारी दूसरी दूसरे प्रभावों को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है। एक दूसरी पुस्तक 'रिवोल्ट अगेन्स्ट दि मासेस' में एवान वाइल्डावस्की नयी परिस्थितियों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखता है-"नया अभिजात वर्ग और तथाकथित क्रांतिकारी लोग और सांस्कृतिक प्रदूषण के विरोधी संस्कृति को उन लोगों तक नहीं ले जाने देना चाहते जो अभी तक संस्कृति से वंचित रखे गये हैं। नयी संस्कृति ने सामंती प्रथा के मुकाबले में मध्य वर्ग की शक्ति को बढ़ाया है। जनसंचार के प्रभाव को कम या खत्म नहीं किया जा सकता। यह हमारे युग की सभ्यता का अभिन्न अंग है। शास्त्रीय संगीत, साहित्य और कला को लोकप्रिय संस्कृति से हमेशा खतरा रहा है। लेकिन हम इस बात को भूल नहीं सकते कि शास्त्रीय संगीत, साहित्य या कला पूरे समाज की संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकते। यह कुछ वर्गों तक ही सीमित रहेंगे। जैसे-जैसे लोग समाज के सक्रिय सदस्य बनते जायेंगे, लोकप्रिय संस्कृति की माँग और इसका

प्रसार बढ़ता जायेगा। शास्त्रीय संगीत, साहित्य और कला पर इसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। यदि लोगों की बहुसंख्या सौंदर्यात्मक कृतियों से रस नहीं लेती तो क्या इन लोगों को हम संस्कृति के दायरे-से बाहर कर दें ? समाज में रंगारंग प्रवृत्तियों और सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्तियों के कारण लोगों की सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए लोकप्रिय संस्कृति रहेगी। लोकप्रिय संस्कृति के बारे में हमारा रवैया विरोध का नहीं, सहयोग का है। हम स्थिति के अनुसार इसके बारे में कई रवैये अपना सकते हैं- लोकप्रिय संस्कृति को रद्द या अस्वीकार कर देना, स्वीकार करना, बेहतर बनाना, बदल देना या इसके बारे में लोगों को सचेत करना, लेकिन किसी भी सूरत में हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हमें लोकप्रिय संस्कृति के किस भाग के बारे में कौन सा रवैया अपनाना है, न कि समस्त लोकप्रिय संस्कृति को ही नकार देना। लोकप्रिय संस्कृति उस शून्य को भरती है जिसे अभिजात संस्कृति ने पैदा किया है। इसलिए उसकी बढ़ती हुई बाढ़ का अभिप्राय यह नहीं कि वह अभिजात संस्कृति पर हावी होना चाहती है या उसका स्थान प्राप्त करना चाहती है। बल्कि इसका अर्थ यह है कि वह संस्कृति से वंचित लोगों को अपने प्रभाव क्षेत्रों में लाना चाहती है। मास संस्कृति का मयॢार कम हो सकता है लेकिन वह समाज और सभ्यता के लिए खतरा नहीं और फिर वह इतनी तुच्छ भी नहीं जितना कि हम इसे सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं। जब संस्कृति का प्रचार जनसंचार माध्यमों द्वारा होता है तो वह निजी सृजनात्मक प्रक्रिया से आगे निकलकर सम्मिलित प्रक्रिया बन जाती है। इस कारण प्राथमिक रचना में कुछ नये तत्व भी शामिल हो जाते हैं। कुछ में तब्दीली आ जाती है, कुछ कम हो जाते हैं। जब कोई साहित्यिक रचना किसी विशेष माध्यम द्वारा प्रसारित होती है तो उसमें उस माध्यम के तत्व भी शामिल हो जाते हैं। इसीलिए मार्शल मेकलूहान, जो इस युग के इलेक्ट्रानिक मसीहा माने गये हैं, ने कहा है-'मीडियम इज दि मैसेज'-अर्थात माध्यम ही संदेश है। जनसंचार के माध्यम अवकाश के क्षणों की रिक्तता को भरते हैं। हम अवकाश का क्या इस्तेमाल करते हैं, इससे हमारी जीवन शैली निश्चित होती है। जनसंचार माध्यमों के महत्व और प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता है और न इनसे पलायन ही संभव है। नयी पीढ़ी, जिसकी परवरिश इलेक्ट्रानिक मीडिया के युग में हुई है, लोकप्रिय संस्कृति की सबसे बड़ी सरपरस्त है। मासमीडिया के प्रभाव को रोका नहीं जा सकता चाहे उसे हम अपनी जिन्दगी और समाज को बेहतर बनाने के लिए इस्तेमाल में लायें या धन, मनोरंजन, सस्तेपन, विज्ञापन या प्रचार के लिए। यदि हम सही तौर पर लोकप्रिय संस्कृति की ओर ध्यान दें जिसकी जड़ें हमारी भूमि और सभ्यता में गहरी हैं, जो सामाजिक समस्याओं को अपने अन्दर समेटती हैं और भविष्य की ओर संकेत करती हैं तो हमें लोकप्रिय संस्कृति के के क्षेत्र में भी प्रशिक्षण देना पड़ेगा, उसी तरह जैसा कि साहित्य की शिक्षा हमारे पाठ्यक्रम में शामिल है। साहित्य और लोकप्रिय संस्कृति टकराव से नहीं, परस्पर सहयोग से ही नये युग की नयी मानसिकता का विकास कर सकते हैं।

देशान्तर

एमिली डिकिंसन की पच्चीस कविताएँ

अनुवाद : डॉ. चन्द्रबली सिंह

एमिली डिकिन्सन (१८३०-१८८६) संसार के उन कवियों में हैं जो जीवित रहते हुए वह ख्याति और स्वीकृति नहीं पा सके जिसके वे हकदार थे। आज उनका नाम वाल्ट ह्विटमैन के बाद लिया जाता है। इमर्सन ने वाल्ट ह्विटमैन के बारे में कहा था कि उसने पहली बार अमेरिकी साहित्य को योरोपीय परम्पराओं से अलग किया था। एमिली डिकिन्सन जो अंशतः ह्विटमैन की समकालीन हैं, अपनी मौलिक काव्य-प्रतिभा के कारण अपने युग में उपेक्षित रहीं। भाषा, छन्द, लय, बिम्बों में उसके द्वारा किये गये साहसिक प्रयोग उस जमाने तक की अमेरिकी कविता और न अंग्रेजी या योरोपीय कविता में मिलते हैं। उसकी कविता की वस्तु का बहुत ही विस्तृत आयाम है, जिसमें उसने अपने युग में जीवन के बहुत सारे पहलुओं को प्रतिबिम्बित करने के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों को भी अभिव्यक्ति दी। गहरी धार्मिक आस्था के साथ-साथ उसमें प्रेम की ऐसी अनुभूति है जो हमारे यहाँ सूफी कविता की तरह पारलौकिक होने के बावजूद अत्यन्त मानवीय और गीतिमय है। अमेरिका के न्यू इंग्लैण्ड में जन्मी एमिली डिकिन्सन की कविता उसके जीवन की एक लम्बी अन्तर्यात्रा है जिसकी फलश्रुतियां हैं उसकी १७७५ कविताएं।

१

उनके पास सुघरता ही सुघरता है,
किंतु वह, इतनी अल्प प्रदर्शित होती–
एक कला पहचान की आवश्यक है,
दूसरी कला–प्रशंसा करने की।

२

इस तरह उसका सूर्य तुझमें अस्त हुआ
कौन दिन अब मेरे लिए स्याह–
कौन-सी दूरी–दूर–
ताकि मैं वे नौकाएं देख पाऊँ,
जो स्पर्श करती हैं–हाय, कितना कम–
तेरे तट ?

३

उसने अपने पंखों के लिए संकट मोल लिया–
उड़कर चाप अंकित किया–तर्क किया–पुनः चढ़ी–ऊपर–
इस बार ईर्ष्या अथवा मनुष्यों के
अनुमान के बाहर–
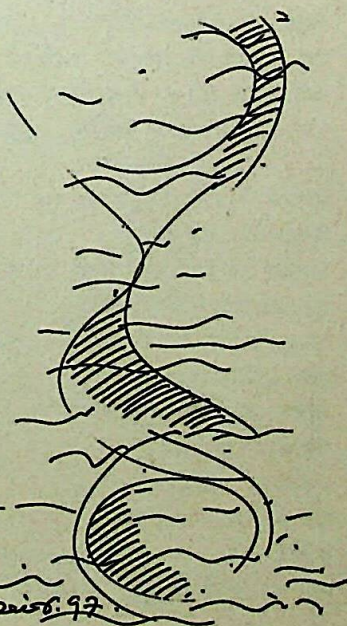
तथा अब परिधि में
उसकी स्थिर नाव दृष्टिगोचर है
अभ्यस्त तरंगों से—जैसे कि
शाखों से- जहाँ जन्म लिया उसने—

४-

दूरी—लोमड़ी का प्रदेश नहीं—
और न वह पक्षी के क्रमिक आरोहण
से घटती—दूरी है
जब तक तुम नहीं, मेरे प्रिय!

५

पश्चाताप—जाग्रत—स्मृति है
उसके पक्ष पूर्णत: आंदोलित—
वातायन पर—तथा द्वार पर—
विदा हुए कर्मों की उपस्थिति—

उसका अतीत रखा हुआ आत्मा के समक्ष
तथा दियासलाई से जलाया हुआ—
ताकि उसे देखने में—सुविधा हो—
तथा विश्वास में विस्तार पैदा हो—

असाध्य है पश्चाताप—ईश्वर भी
इस रोग का उपचार करने में—अक्षम है—
क्योंकि यह उसी की संस्थापना है—तथा
पर्याप्तता में नरक के सम है—

६

प्रभंजन ने घास को यों गूँदना शुरू किया—
स्त्रियाँ जैसे आँटे को—
कसकर एक हाथ उसने मैदान पर मारा—
एक हाथ कस कर नभ को—
पल्लव वृक्षों से टूट गिरने लगे—
तथा चतुर्दिक उड़ने लगे—
धूलि ने हाथों-सा अपने को उलीचा—तथा
पथ को उछाल फेंका—
सड़कों पर गाड़ियाँ तेज़ हुईं—
वज्र मंद-मंद गपशप करने लगे—
दामिनी ने पीत शीश दिखलाया—
तथा पुन: पाँवों की क्षुब्ध उँगलियाँ —
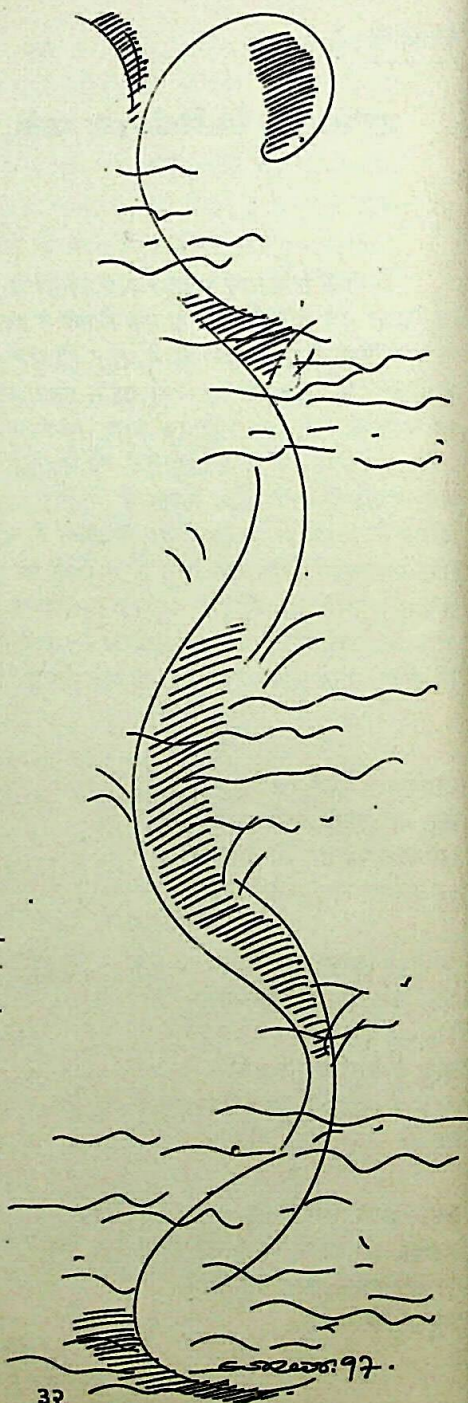
खगों ने घोसलों की सलाखें लगा दी–
अन्न-भण्डारों की ओर पशु भागे–
तत्पश्चात् भीमकाय वर्षा की एक बूँद आयी–
तथा पुनः, मानो उन हाथों ने, जिन्होंने
बाँध पकड़ रक्खे थे, अपनी पकड़ ढीली की–
जल की तरंगों ने नभ को ध्वस्त कर डाला–
किंतु मेरे पिता के गृह को मुक्त रखा–
जहाँ एक पादप था–

७-

कोई जलपोत नहीं पुस्तक की भाँति,
जो हमें दूर के देशों तक ले जाता–
तथा न कोई अश्व–नृत्यरत कविता के पृष्ठ सा

यह यात्रा विपन्नतम के लिए सम्भव है,
कर की यातना के बिना–
कितना मितव्ययी यह रथ है,
जो वहन करता है मानव की आत्मा का–

८-

मौन के महान् पथों ने
विराम के पड़ोसों तक पहुँचाया
कोई न सूचना थी यहाँ–कोई असहमति नहीं–
कोई विश्व नहीं–कोई नियम न था–

घड़ियों से–सुबह थी–और रात्रि
का आवाहन दूर की घंटियों ने किया–
किंतु युग के हेतु, यहाँ कोई आधार न था,
क्योंकि काल उच्छ्वसित था।

९-

यदि मैने सूर्य का न दर्शन किया होता
छाया को सह लेती,
किंतु आलोक ने मेरी विजनता,
एक नयी विजनता में बदल दी।

१०-

कुछ का कथन है कि
उच्चरित होने के साथ
शब्द मृत होता है।
मेरा कथन है कि
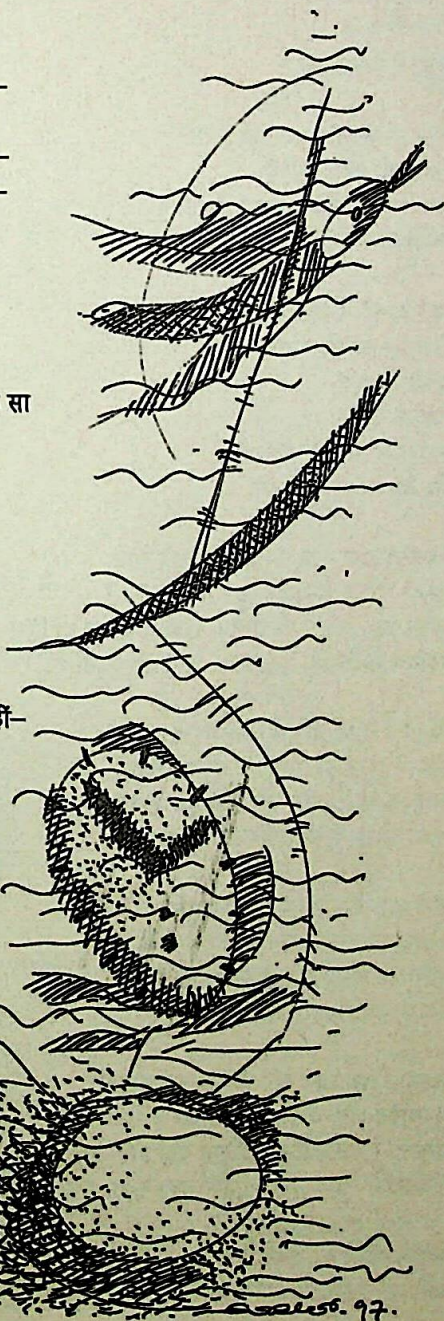
उसी दिन से
वह जीने लगता है।

११-

सौन्दर्य की परिभाषा यह है कि
कोई परिभाषा नहीं है–
स्वर्ग की व्याख्या सरल हो जाती है
क्योंकि स्वर्ग तथा वह एक ही हैं।

१२-

कलाकारों ने यहाँ मल्लयुद्ध किया!
देखो! काश्मीरी रंग!
देखो! गुलाब!
वर्ष के छात्र!
पटल के आधार को यहाँ
विश्राम करने को कहो!

१३-

कितनी लघु नाव थी–कितनी लघु नाव
खाड़ी में जो डगमगाती हुई बाहर चली !
कैसा वह छबीला प्रणयी था–छबीला प्रणयी था सिंधु
संकेतों में जिसके बुलावे पर आगे वह बढ़ती गई !

कितनी लोभी–कितनी लोभी लहर थी
जिसने चूम कर उसे तट से दूर किया–
तथा न इसका कि मेरी नाव डूब जाएगी
भव्य पालों ने भी अनुभव किया !

१४-

मैने आखेटक को यह कहते सुना है–
आहत मृग की छलांग उच्चतम होती है–
मृत्यु का यह आह्लाद मात्र होता है–
उसके बाद झाड़ी शांत होती है !

आहत शिला धारा बन कैसे फूट पड़ती है !
पदमर्दित लौह कैसे उछल पड़ता है !
कपोलों पर सर्वाधिक लालिमा वहाँ होती है
ठीक जहाँ क्षय-ज्वर का डंक चुभा रहता है।

आमोद पीड़ा का कवच है–
जिसे वह सावधान धारण करती है,
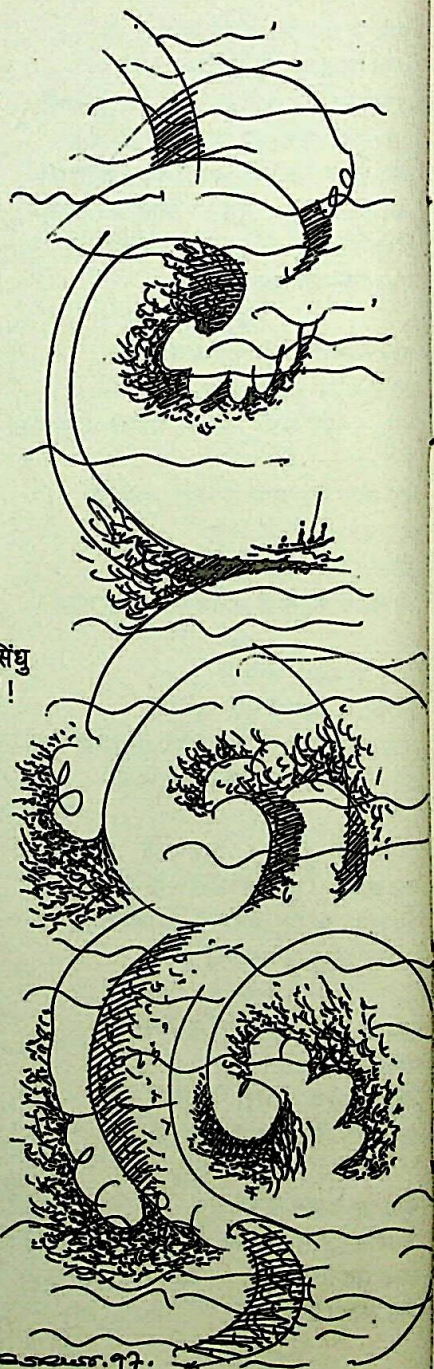
ताकि कोई व्यक्ति देख न पाये रक्त
और यह बोल उठे "तुम्हें चोट लगी है'

१५-

अन्ततः पहचान में आना !
अन्ततः तुम्हारे पार्श्व में जलते दीप
शेष जीवन भर उन्हें देखते जाना !
मध्यरात्रि के अंत होने पर ! शुक्रतारा के अंत होने पर !
सूर्योदय के अंत होने पर !
आह, कितने योजन रहे
हमारे पांवों तथा दिन के बीच !

१६-

ऐसे ललित-विनत शीलों से
जैसे कि एक पुष्प; अथवा एक पुस्तक,
मुस्कराहटों के बीज बोये जाते हैं-
अंधेरे में जो खिलते हैं।

१७-

तनिक-सी सुगंध उनमें है-मेरे निकट जो
छंद है-नहीं, नहीं-संगीत-
म्लानता में अधिकतम सुगंधपूर्ण-संकेतित है-
स्वभाव-एक कवि का-

१८-

यदि मैंने उत्सव के दिन
गुलाब लाना बंद किया
तो यह इसलिए होगा कि कि गुलाब के पार से
आयी किसी पुकार ने मुझको बुला लिया।

यदि मैं बंद कर दूँ उन नामों का लेना
जिनकी याद में मेरी-कोपलें उत्सव मनाती हैं
तो यह इसलिए होगा कि मृत्यु ने मेरे अधरों पर
अपनी उंगली रख दी है।

१९-

प्रत्येक वह जिसे हम खोते हैं हमारा कोई अंश-ले जाता है,
अर्द्धचंद्र अभी शेष रहता है,
जिसे चंद्रमा की भाँति, किसी क्षुब्ध रात्रि
सागर का ज्वार आहूत करता है।
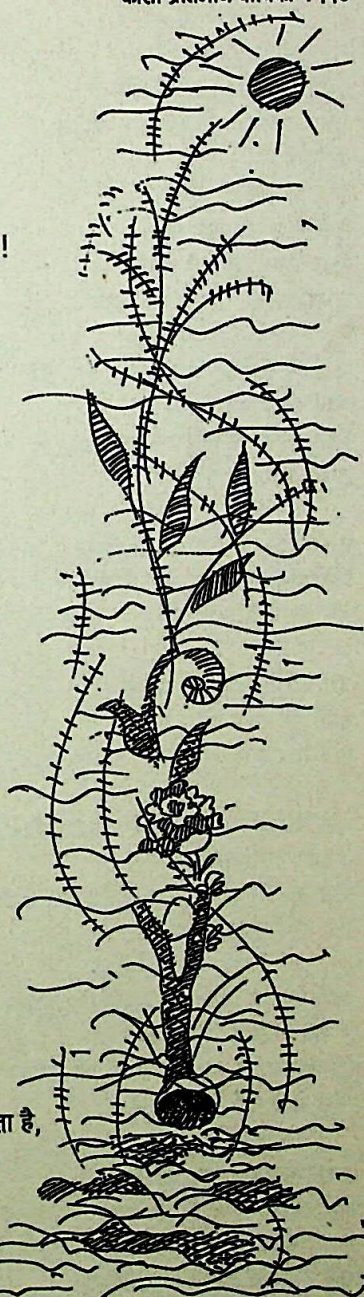
२०-

उसे देखना एक चित्र है–
उसे सुनना एक रागिनी है–
उसे जानना एक ज्येष्ठ-सा अबोध
असंयम है–
उसे न जानना–पीड़ा है–
उसे मित्र की तरह पाना
ऐसा निकट ताप है मानो
तुम्हारे हाथों में सूर्य का चमकना।

२१-

इन्द्रधनु के धन का हम पता कर लेंगे–
कोई संदेह नहीं इसमें है।
किंतु प्रणयी के अनुमान का चाप
हमारे शोध के परे है।

२२-

बांधो मुझे, फिर मैं गा सकती हूँ
निष्कासित कर दो, मेरा मैण्डोलिन
मेरे अंतर में झंकृत है–

वध करो–और मेरी आत्मा
गाती हुई स्वर्ग को उठेगी–
बार-बार तुम्हारी ही।

२३-

मेरी आँखें मेरे फूलदान से ज्यादा लदीं–
उनका माल–ओस का–
और तब भी–मेरा हृदय–मेरी आँखों से भारी है–
देख लो–ईस्ट इंडिया!

२४

यह हृदय जो दीर्घकाल तक विदीर्ण हुआ–
ये पाँव शिथिल न हुए कभी जो–
यह आस्था जो व्यर्थ ही नक्षत्र की प्रतीक्षा करती रही–
स्नेह से दे दो–दिवंगतों को–

आखेटक श्वान उस शशक को
नहीं पकड़ सकता है, जो यहाँ उच्छ्वसित उड़ता फिरा–
अथवा न कोई छात्र यह नीड़ ध्वस्त कर पायेगा
जिसे स्नेह ने वहाँ निर्मित किया।
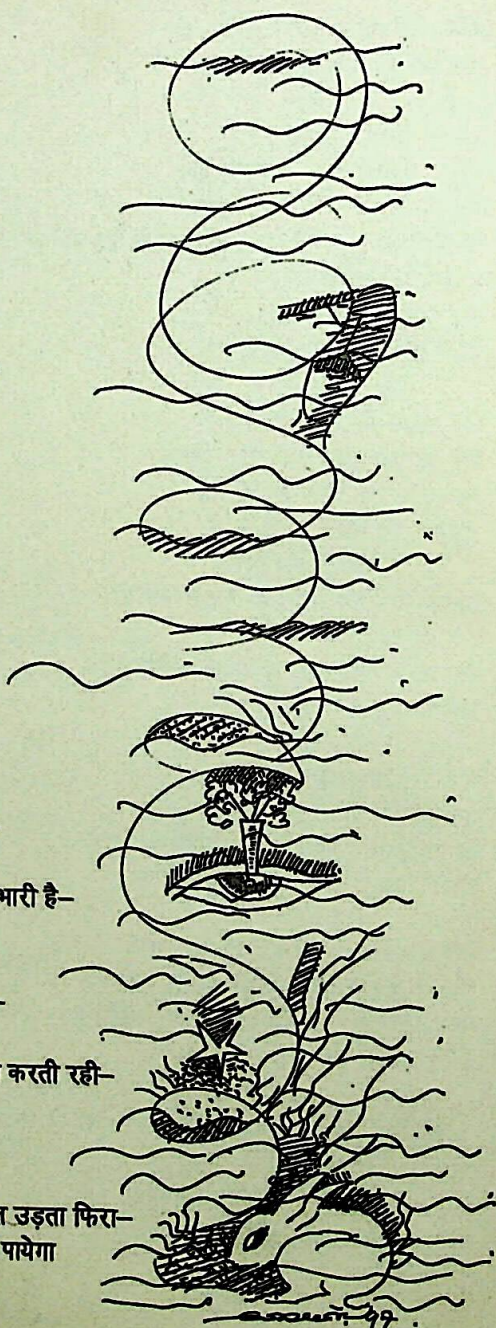
२५-

उसके पास जा रहे ! खुशी से भरे खत !
उसे बताना–
उसे बताना वह पृष्ठ जिसे मैंने नहीं लिखा–
उसे बताना–मैंने वाक्य-रचना की–
और क्रिया और सर्वनाम बाहर छोड़ दिया–
उसे बताना बस उंगलियों में कैसी त्वरा थी–
और फिर कैसे वे आगे चलती रहीं–आहिस्ता-आहिस्ता–
और तब तुम्हारी इच्छा हुई तुम्हारे पृष्ठों में आँखें हुई होतीं–
ताकि तुम देख पाते–क्या था जो उन्हें चलाये जा रहा था–

उसे बताना मैं कोई सिद्धहस्त लेखिका नहीं थी,
तुमने यह देखकर कि कैसे शब्दों ने श्रम किया–अनुमान लगाया–
तुमने अपने पीछे चोली को कसमसाते सुना था–
जैसे कि उसमें सिर्फ एक बच्चे की ताकत हो–
तुम्हें उस पर रहम-सा आया–तुम्हें–इस तरह काम में वह जुटी थी

उसे बताना–नहीं–यहाँ तुम मुकरियों की भाषा में बोल सकते हो–
क्योंकि इसे जानकर उसका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा–
और तब तुम और मैं–पहले से ज्यादा चुप हो गए।

उसे बताना–हमारे काम के खत्म होने के पहले ही रात ख़त्म हुई–
और बूढ़ी घड़ी हिनहिनाती रही–'दिन'
और तुम्हें नीद आने लगी और तुमने ख़त्म होने की विनती की–
क्या बाधा हो सकती है–इसे कह देने में ?
उसे बताना इतना भर–कैसे उसने तुम्हें मुहरबंद किया–सावधानी से !
लेकिन–अगर वह पूछ बैठे–तुम कल तक–
कहाँ छिप कर रहोगे–खुशी से भरे ख़त !
नखरों में इशारा करना–और सिर हिला देना !
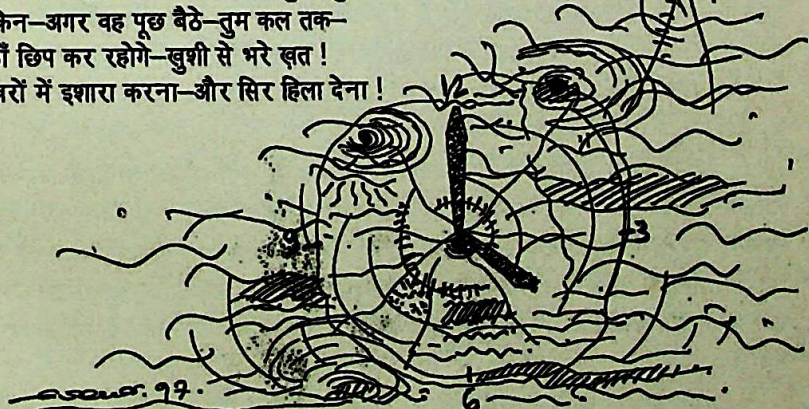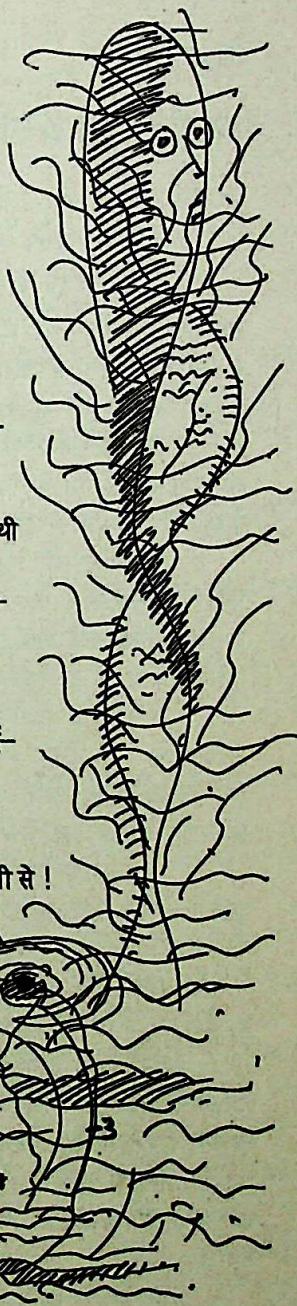
अर्थगणित

नयी अर्थनीति का चरित्र : जनविरोधी

डॉ. सोहन शर्मा

साम्राज्यवाद की लाक्षणिक विशेषताओं की चर्चा करते हुए लेनिन ने अन्य बातों के साथ-साथ यह भी बताया था कि अकूत मुनाफा कमाने की साम्राज्यवादी पूँजी की लालसा विश्व में नये-नये बाजारों की तलाश में रहती है, ताकि वहाँ पूँजी निवेश करते हुए वहाँ के सस्ते श्रम, संसाधन तथा बाजार-सुविधाओं का शोषण किया जा सके।

वर्तमान नव-औपनिवेशिक दौर में साम्राज्यवादी पूँजी ने इसी लालसा के साथ भारत सहित तीसरी दुनिया के पिछड़े हुए देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों तथा विश्व बैंक एवं आई.एम. एफ. जैसे संस्थानों के माध्यम से अपने शोषण-चक्र को व्यापक रूप देने के प्रयत्न किए हैं।

तथाकथित नयी आर्थिक नीति, जो 'वैश्वीकरण' के विचार पर केन्द्रित है, साम्राज्यवादी पूँजी की मुनाफाखोर नीयत की ही उपज है। भारत तथा तीसरी दुनिया के देशों की सरकारें इस तथाकथित नयी आर्थिक नीति या सार्वभौम अर्थव्यवस्था को लागू करते हुए साम्राज्यवादी पूँजी के हितों का ही पोषण कर रही हैं।

अपने साम्राज्यवाद-परस्त चरित्र के अनुरूप ही भारत का शासक दल भी इस सार्वभौम अर्थव्यवस्था के तहत एक लुभावनी तथा जनता को बरगलाने वाली तस्वीर पेश करता रहा है। साम्राज्यवाद समर्थक भारत के दलाल पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि कांग्रेस सरकार की ओर से जोर-शोर से यह दावा किया गया था कि:-

"अर्थव्यवस्था में शानदार सुधार हुआ है। औद्योगिक उत्पादन काफी बढ़ गया है। कृषि-उत्पादन में रिकार्ड उत्पादन हुआ है। विदेशी मुद्रा प्रारक्षित निधि २० बिलियन डालर से भी अधिक हो गयी है। भारी तादाद में विदेशी पूँजी निवेश हुआ है। संक्षेप में कहें तो वर्ष १९९१ में नयी आर्थिक नीति के तहत शुरू किए गये आर्थिक सुधारों के अब अच्छे परिणाम आने लगे हैं, देश की जनता की खुशहाली बढ़ी है।''

तीसरे मोर्चे या यूँ कहें कि देवगौड़ा के नेतृत्व में बनी संयुक्त मोर्चे की सरकार के वित्तमंत्री चिदंबरम ने कांग्रेस की आर्थिक नीतियों की सराहना की है। नये वित्त मंत्री वैसे भी कांग्रेसी शासन के कामयाब वाणिज्य मंत्री रहे हैं, इसलिए आज यदि वे अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बताते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। संयुक्त मोर्चा सरकार का न्यूनतम साझा कार्यक्रम कांग्रेस की नयी अर्थनीति पर ही टिका है। जाहिर है कि संयुक्त मोर्चे का भी कांग्रेसीकरण हो गया है।

यह जान लें कि नयी अर्थनीति का चरित्र पूरी तरह जन विरोधी है। नयी अर्थनीति

के पैरोकार खुशहाली की जो तस्वीर पेश करते रहे हैं वह महज धोखा है।

हकीकत खुशहाली के इन तमाम दावों के ठीक विपरीत है।

हकीकत यह है कि नयी आर्थिक नीति और उसके तहत शुरू किए गये तथाकथित बाजारोन्मुख आर्थिक सुधारों, ढांचागत बदलावों और उदारीकरण ने देश की आम जनता के जीवन को और भी बदहाल बना दिया है। मेहनतकशों, किसानों और मध्यवर्ग के सामान्य लोगों की तकलीफें बढ़ी हैं और समाज में आर्थिक विषमता की खाई और भी चौड़ी हो गयी है। गरीबी और बेरोजगारी में, विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में, अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुई है।

सरकारी झूठ का पर्दाफाश करने वाली सर्वे रिपोर्टों के तथ्य-

खुशहाली के दावों का झूठ उजागर करने वाले जो तथ्य सामने आए हैं, वे किसी विरोधी दल के प्रयत्नों से नहीं बल्कि कांग्रेस सरकार द्वारा समर्थित और प्रायोजित 'नेशनल सैम्पल सर्वे ऑर्गनाइजेशन' के निष्कर्षों ने ही सरकारी प्रचारतंत्र के झूठ का भंडाफोड़ किया है।

सरकार के जनविरोधी चरित्र का खुलासा करने वाले 'नेशनल सैम्पल सर्वे ऑर्गनाइजेशन' (नासो) के निष्कर्ष इस प्रकार हैं:-

❑ वर्ष १९८७-८८ में कुल ३९.३ फीसदी जनता गरीबी रेखा से नीचे थी। जुलाई-दिसम्बर १९९२ में ४०.६९ फीसदी लोग गरीबी रेखा के नीचे जी रहे थे।

❑ग्रामीण क्षेत्रों में पुरुषों की बेरोजगारी, जो वर्ष १९८९-९० में २.१ प्रतिशत थी, वर्ष १९९२-९३ में बढ़ कर २.३ प्रतिशत हो गयी। ग्रामीण महिलाओं की बेरोजगारी का आंकड़ा इसी अवधि में ०.४ प्रतिशत से बढ़कर ०.९ प्रतिशत तक पहुँच गया।

❑यह गौर करने की बात है कि 'नासो' के इसी निष्कर्ष को केन्द्र सरकार के श्रम मंत्रालय की वर्ष १९९४-९५ की वार्षिक रिपोर्ट में दूसरे शब्दों में रखा गया है।

❑मंत्रालय की रिपोर्ट कहती है कि वर्ष १९९४-९५ में रोजगार बढ़ोत्तरी की दर २.२ प्रतिशत ही रही, जबकि वर्ष ९१-९२ में यह २.५ प्रतिशत थी।

आर्थिक उदारीकरण के तथाकथित सकारात्मक नतीजों के तमाम परिणामों के बावजूद नयी अर्थ नीति ने आर्थिक असमानता में इजाफा ही किया है। 'पब्लिक इंटरेस्ट रिसर्च ग्रुप' के आर्थिक विशेषज्ञों के निष्कर्ष भी सरकारी झूठ का भंडाफोड़ करते हैं।

'पी. आई. आर. जी.' की रिपोर्ट की निम्नलिखित टिप्पणियाँ गौर करने लायक हैं:-

❑ सरकारी सर्वेक्षण में विकास दर ५.३ फीसदी बतायी गयी है लेकिन क्षेत्रवार विकास के आंकड़े विकास में असमानता को उजागर करते हैं। इस पर गौर किया जाना चाहिए कि वर्ष १९९४-९५ के दौरान अच्छी फसल के बावजूद कृषि-उत्पादन में केवल २.२ फीसदी वृद्धि हुई जबकि औद्योगिक विकास की दर लगभग ८ फीसदी बढ़ी है। जाहिर है कि इन दोनों क्षेत्रों के विकास में भारी असमानता है। साथ ही, औद्योगिक उत्पादन की यह विकास दर भी महज बड़े उद्योगों तक ही सीमित है। जहाँ तक औद्योगिक निवेश का सवाल है यह मुख्यत: पूँजी आधारित उद्योगों तथा धनी तबके की उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में ही हुआ है। बैंकिंग तथा वित्तीय

सेवाओं के अन्य क्षेत्रों ने उत्पादन को बढ़ावा देने के बजाए सट्‌टेबाजी की प्रवृत्ति को ही प्रोत्साहन दिया है।

मुद्रास्फीति की दर ने गरीब तबके पर जबर्दस्त घात किया है। थोक मूल्य सूचकांक के आधार पर आकलित मुद्रास्फीति की वार्षिक दर १९९३-९४ में बढ़ कर १०.८ फीसदी हो गयी।

❑क्षेत्रवार मूल्य-वृद्धि के आंकड़े बताते हैं कि सरकारी मूल्य-निर्धारण वाली वस्तुओं के ही दाम सबसे ज्यादा बढ़े हैं। वर्ष १९९३-९४ और १९९४-९५ के मूल्यों की तुलना करें तो सरकारी आंकड़ों के अनुसार आवश्यक खाद्य-सामग्री के मूल्यों में वृद्धि की दर जो ३.७ प्रतिशत थी, बढ़ कर १३.७ फीसदी हो गयी। इसी बीच तिलहनों के दाम ६.१ फीसदी से बढ़ कर २५.७ फीसदी हो गये। खाद्य तेलों के दामों की वृद्धि-दर जो १९९३-९४ में ०.४ फीसदी थी, वर्ष ९४-९५ में २० फीसदी हो गयी।

जाहिर है कि मुद्रास्फीति की मार सबसे ज्यादा गरीब तबके पर ही पड़ी है। यही नहीं सरकार ने सार्वजनिक वितरण-प्रणाली के जरिए बेचे जाने वाले चावल और गेहूं जैसे अनाजों के दाम भी बेतहाशा बढ़ाए। इसी तरह, बचत की दर में भी खासी गिरावट आई है। वर्ष १९९०-९१ में बचत की दर जो सकल घरेलू उत्पादन का २३.७ फीसदी थी, ९३-९४ में घट कर २०.२ फीसदी रह गयी। दरअसल विदेशी पूँजी के प्रवाह और कई क्षेत्रों में विदेशी पूँजी के निवेश को खुली छूट मिलने से भी आर्थिक विषमता को बढ़ावा मिला है।

❑सरकारी आंकड़ों के अनुसार गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करने वालों की संख्या घटी है। वास्तव में वर्ष १९८७-८८ के आंकड़े १९९३-९४ में दोहरा दिए गए हैं। नेशनल सैम्पल सर्वे ऑर्गनाइजेशन के अध्ययन के अनुसार वर्ष १९८७-८८ में कुल ३९.३ फीसदी लोग गरीबी रेखा के नीचे जी रहे थे।

❑इस रिपोर्ट के अनुसार सरकारी नीतियों की दिशा और आर्थिक विकास का ढांचा यह बताता है कि भूमंडलीकरण, सुधारीकरण, उदारीकरण, बाजारोन्मुखता और ढांचागत समायोजना जैसे बड़े-बड़े भरमाने वाले विकास के नारों के साथ सरकार आम जनता को धोखा दे रही है और यह सिद्ध कर रही है कि नयी आर्थिक नीति का चरित्र पूरी तरह जनविरोधी है।

यह जानकर आश्चर्य नहीं होता कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व विकास रिपोर्ट में दिए गये आंकड़े भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि कांग्रेस सरकार की नयी अर्थनीति से देश के जनसामान्य को कुछ हासिल नहीं हुआ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की अद्यतन रिपोर्ट बताती है कि भारत में ४० करोड़ २० लाख लोग भुखमरी के शिकार हैं। २२ करोड़ के लिए पीने का पानी उपलब्ध नहीं है। शहरी आबादी का ४८ और देहाती आबादी का ५६ फीसदी निरक्षर है। लगभग ७० करोड़ लोग बुनियादी जरूरतों-सुविधाओं के अभाव में दोयम दर्जे की जिन्दगी बसर कर रहे हैं और देश के अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रों में डाक, सड़क और संचार की सहूलियतें उपलब्ध नहीं हैं।

❑साम्राज्यवादी शोषणचक्र के भूमंडलीकरण का परिणाम है विश्वव्यापी गरीबी और

बेरोजगारी।

अंतरराष्ट्रीय वित्तपूँजी के मालिक साम्राज्यवादी देशों ने अधिकाधिक लाभ कमाने की लालसा से अपने वित्तीय हितों के अनुरूप अपनी नवऔपनिवेशिक शोषण पद्धति के तहत भारत तथा तीसरी दुनिया के अन्य पिछड़े हुए देशों में अपनी पूँजी की अदृश्य सत्ता स्थापित कर रखी है। विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष तथा एशियन विकास एजेंसी जैसी संस्थाएं साम्राज्यवादी नवऔपनिवेश शोषण पद्धति के परिचालन-माध्यम या 'आपरेशनल-मीडिया' हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियां सामूहिक वित्त निगमों और सामुदायिक ऋण संस्थानों (कंसोर्सियम क्रेडिट इंस्टिट्यूशंस) की व्यापक संरचना के जरिए अंतरराष्ट्रीय वित्तपूँजी 'आपरेट' करती हैं। पिछड़े देशों में पूँजी प्रवाह इसी व्यापक संरचना से होता है। इस पूँजीप्रवाह या पूँजी-निवेश को अबाध गति देने के लिए ही उदारीकरण और भूमंडलीकरण जैसे आर्थिक सूत्र-नारे गढ़े गये हैं। साम्राज्यवादी पूँजी के आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन आर्थिक सूत्रों के भी काफी पहले बुर्जुआ-साम्राज्यवादी चिंतन ने 'विश्व-ग्राम' (वर्ल्ड-विलेज) और अंतरराष्ट्रीय-समुदाय (इंटरनेशनल कम्युनिटी) जैसी अमूर्त अवधारणाएं प्रस्तुत की थी।

आज विश्व भर में साम्राज्यवादी नवऔपनिवेशिक पद्धति ने आर्थिक सुधारों का ही भूमंडलीकरण नहीं किया है बल्कि शोषणचक्र का भी भूमंडलीकरण कर दिया है। भारत का जनसामान्य गरीबी, बेरोजगारी और मंहगाई की मार से जिस तरह त्रस्त है उसका उल्लेख हमने किया है। दुनिया के दूसरे देशों में भी आम आदमी की जिन्दगी बद से बदतर होती गयी हैं। अकेले अमेरिका में ६ करोड़ गरीब हैं। १ करोड़ निरक्षर हैं। लाखों लोग बेरोजगार-बेघर हैं और दो करोड़ लोगों को एक ही वक्त का खाना नसीब होता है।

पिछले दिनों 'जी-७' देशों की रोजगार-समिति की रिपोर्ट आई। उक्त रिपोर्ट में कहा गया है कि 'जी-७' के सात देशों में ३० मिलियन से भी अधिक लोग बेरोजगारी के शिकार हैं। जी-७ के सातो देशों—कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जापान के वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों ने यह स्वीकार किया है कि भूमंडलीकरण की बढ़ती गति ने उत्पादन व लाभप्रदता पर ध्यान केन्द्रित किया है, बावजूद इसके विश्वभर में बेरोजगारी में बेतहाशा वृद्धि हो रही है। व्हाइट हाउस अमेरिका के आर्थिक सलाहकार राबर्ट रूबिन, जर्मनी के श्रममंत्री नोर्बर्ट ब्लुएम तथा फ्रांस के वित्तमंत्री एडमंड अलपेन्ड्री जैसे लोगों ने हिचकिचाहट भरे स्वर में ही सही, पर यह स्वीकार किया है कि विश्वव्यापी आर्थिक सुधारों के परिणाम कोई बहुत आश्वस्त करने वाले नहीं रहे हैं।

मार्च १९९५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में 'विश्व सामाजिक विकास सम्मेलन' का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में विश्वस्तर पर जो समस्याएं निर्धारित की गयी हैं वे हैं- गरीबी, बेरोजगारी, और सामाजिक बिखराव। सम्मेलन के आकलन के अनुसार वर्तमान विश्व-जनसंख्या {५५० करोड़} में से करीब १०० करोड़ लोग भयंकर गरीबी के शिकार हैं और इनमें से आधे से अधिक को एक समय का खाना भी नसीब नहीं होता। दुनिया भर में १२ करोड़ लोग पूरी तरह बेरोजगार हैं।

पिछले वित्तीय वर्ष के दौरान कई अंतरराष्ट्रीय संगठनों एवं संस्थानों की रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं। इनमें अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष की 'मिड-इयर वर्ल्ड इकॉनोमिक आउट लुक-रिपोर्ट', बैंक ऑफ इंटरनेशनल सैट्लमेंट्स {बी. आई. एस.} की वार्षिक रिपोर्ट, संयुक्त राष्ट्रसंघ की 'वर्ल्ड इकॉनॉमिक सर्वे रिपोर्ट' तथा इंटरनेशनल लेबर आर्गनाइजेशन की 'सेवेंथ वर्ल्ड लेबर रिपोर्ट' प्रमुख हैं।

इन तमाम रिपोर्टों के निष्कर्षों और टिप्पणियों का सारांश यही है कि विकसित देशों द्वारा दी जा रही तमाम वित्तीय सहायता के बावजूद पिछड़े हुए विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था में अपेक्षित प्रगति नहीं हुयी है, वहाँ के लोगों के जीवन-स्तर में कोई गुणात्मक सुधार नहीं हुआ है, रोजगार के अवसर भी नहीं बढ़े हैं, लोगों को गरीबी और बेरोजगारी से छुटकारा नहीं मिला है। यह स्थिति लम्बे समय तक चली तो सहायता प्राप्त करने वाले देशों के जनसामान्य का असंतोष तीव्र हो सकता है। वहाँ जन आंदोलनों व जन-प्रतिरोध की स्थितियाँ बन सकती हैं जिससे कानून और व्यवस्था की समस्याएं खड़ी होंगी और समृद्ध तथा विकसित देशों के वित्तीय हितों को खतरा पैदा हो सकता है। इन सभी रिपोर्टों में लगभग चेतावनी भरी सलाह दी गयी है कि सहायता प्राप्त करने वाले देशों की सरकारों को विदेशी सहायता-राशि का समुचित उपयोग करते हुए संभावित जन असंतोष व जनप्रतिरोध की रोकथाम के लिए कारगर कदम उठाने चाहिए।

इन कारगर कदमों का अर्थ है, जन आंदोलनों को कुचलने की तैयारी और जरूरी हो तो आपातकाल या उसी तरह की दमनपरक 'फासिस्ट स्थितियों' को लागू करना।

वस्तुतः साम्राज्यवादी देशों ने ब्रेटनवुड संस्थाओं के त्रिगुट–विश्व बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से भारत सहित तीसरी दुनिया के देशों और अन्य पिछड़े हुए देशों को अपनी नयी विश्व व्यवस्था की गिरफ्त में ले रखा है। इससे इन देशों की पूरी आर्थिक संरचना में परिवर्तन आ गया है। विशेषकर संरचनात्मक-समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट) के तहत साम्राज्यवादी पूँजी ऋण समस्याओं को सुलझाने के नाम पर तथाकथित विकासशील देशों का बजट नियंत्रित करती है और स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कृषि के लिये दिये जाने वाले राजकीय अनुदानों और इनके विकास के लिये आबंटित की जाने वाली राशि में भारी कटौती के लिये दबाव डालती है। साथ ही, उदारीकरण और भूमंडलीकरण के अंतर्गत निर्यातोन्मुख विकास को प्राथमिकता दे कर अर्थव्यवस्था को बाजारोन्मुखी बनाया जा रहा है। इन नीतियों के दबाव के अंतर्गत पिछड़े हुए देशों को यह आजादी नहीं रह गयी है कि वे अपनी जरूरतों के मुताबिक अपनी अर्थव्यवस्था का निर्माण करते हुए विकास-कार्यक्रम तय कर सकें। इसलिए भारत सहित सभी पिछड़े देशों की साम्राज्यवादी पूँजी की दलाल सरकारें विदेशी पूँजी के हितों के अनुरूप अपनी व्यवस्था को स्वरूप दे रही हैं। तथाकथित उदारीकरण की सार्वभौमिकता ने उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा दे कर सांस्कृतिक प्रदूषण फैलाया है। 'मीडिया-जगत' ने विज्ञापन की भ्रामक दुनिया का निर्माण करके मनुष्य को सब कुछ पा लेने की एक चूहा-दौड़ में उलझा दिया है। आदमी महज एक दर्शक और भोक्ता रह गया है। सक्रिय रचनात्मकता नष्ट

हुई है।

सार्वभौम अर्थव्यस्था के परिणामस्वरूप आम जनता की हालत बद से बदतर होती जा रही है। आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो अंधेरा व्याप्त हुआ है वह अभी और गहरा और मारक होता जायेगा। वैसे यह भी तय है कि इस अंधेरे के खिलाफ निश्चित ही जन प्रतिरोध का प्रचंड ज्वार उठेगा। दिसम्बर १९९२ में बंगलूर के किसानों द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनी किरगिल का विरोध हुआ। सन् १९९४ में भारत के नौ हजार किलोमीटर लम्बे समुद्री तट पर ८२ विदेशी या विदेशी सहयोग की कम्पनियों के मशीनीकृत विशालकाय 'फैक्टरी जहाजों' को मछली पकड़ने के लाइसेंस देने का व्यापक प्रतिरोध देश के तमाम मछुआरा संगठनों ने किया। महाराष्ट्र में हुआ एनरान का विरोध आदि घटनाएं बताती हैं कि भारतीय जनता सार्वभौम अर्थव्यवस्था के नाम पर होने वाले शोषण को बर्दाश्त नहीं करेगी।

जाहिर है कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने के नाम पर जन प्रतिरोध को कुचलने के लिये सरकारी दमनचक्र भी चलेगा। परोक्ष रूप में आपातकाल की वापसी के प्रयत्न हो सकते हैं। परोक्ष काररवाई के रूप में औद्योगिक विवाद कानून में संशोधन तथा बैंक व वित्तीय संस्थानों को सेवा-संस्थान घोषित करते हुए वहाँ हड़ताल को गैर कानूनी बनाने जैसी सरकारी काररवाइयों से इसके गहरे और मारक होते जाने की पूरी आशंकाएं हैं।

इस सार्वभौम अर्थव्यवस्था के साम्राज्यवादी शोषणचक्र से मुक्त होने के लिये जरूरी है कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के कारगर तरीके के रूप में आई. एम. एफ. तथा विश्व बैंक जैसी तमाम संस्थाओं से लिया गया साम्राज्यवादी ऋण खारिज किया जाए, बहुराष्ट्रीय निगमों के लिये अर्थव्यवस्था के दरवाजे बंद किये जाएं और कृषि एवं लघु उद्योग को आर्थिक प्राथमिकता मानते हुए देशी साधन-संसाधन के विकास पर आधारित एक विकेन्द्रीकृत अर्थव्यस्था की आधारशिला रखी जाए। इसके लिये तमाम देशभक्त, प्रगतिशील तत्व एकजुट होकर एक देशव्यापी आंदोलन की तैयारी करें यही समय की मांग है।
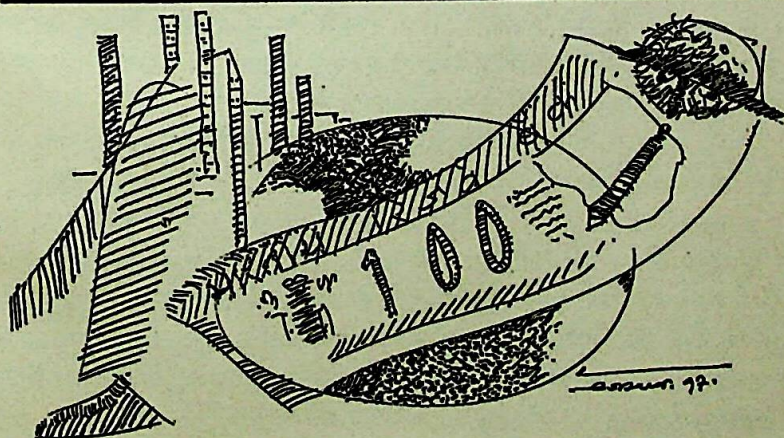
अर्थगणित

विश्व बाजारवाद का गणित

बद्रीनारायण राव

एक दशक या शती मात्र नहीं वरन् एक सहस्राब्दी के अन्तर पर खड़ा मनुष्य पहली बार अपने को विचारहीनता की स्थिति में पा रहा है। यद्यपि पहले भी विचारकों द्वारा समय-समय पर 'सिद्धान्तों की इति' और 'इतिहास का अन्त' की घोषणायें की जाती रही हैं, तथापि पिछले दशक में हुए पूर्वी यूरोप में व्यवस्था परिवर्तन ने जहाँ बाजारवाद की अप्रतिम जीत कायम कर दी, वहीं दुनिया भर के चिन्तकों, विचारकों को एक ऐसे चौराहे पर खड़ा कर दिया है जहाँ से सारे रास्ते अश्लील-उपभोक्तावाद की तरफ ही जाते हैं। विकास की पश्चिम की रैखिक-अवधारणा ने भविष्य हेतु कोई उम्मीद भी नहीं छोड़ी है, जो प्राचीन पूर्वी चिन्तन के चक्रीय पथ में निहित थी। अंकों के जाल में उलझे मनुष्य के लिये वे सभी चीजें हाशिये पर चली गयी हैं जिनका गणितीय मूल्याँकन नहीं किया जा सकता। कला, साहित्य, दर्शन यहाँ तक कि विज्ञान भी आज अर्थशास्त्र के गुलाम बनकर रह गये हैं।

तो आज का स्वयंभू बाजार नचा रहा है मनुष्य को। हर तरह का नाच–कहीं रम्बा-सम्बा, फाक्सट्राट, डिस्को, ब्रेकडांस, तो कहीं गरबा, भांगड़ा, कत्थक। कहीं जाज, कैलिप्सो और हार्डमेटल की धुन पर, तो कहीं तबला, सारंगी पर। आखिर अर्थव्यवस्थाओं का भूमण्डलीकरण हो रहा है और दुनिया एक 'ग्लोबल विलेज' बनने वाली है। कितनी छोटी हो गयी है दुनिया– अब पड़ोस की बुढ़िया ठंढ से मर गयी, यह भले न मालूम हो मगर रिमोट के एक बटन दबाने से डेमी मूर अपने कपड़े उतारकर फौरन टी. वी. में आ जायेगी। यह बात गौड़ है कि उसी प्रकार का एक बटन पेंटागन में दबाने से किसी टापू में छिपे अस्त्रागार से निकली मिसाइलें कुछ ही क्षणों में इराक के किन्हीं निरीह बच्चों के नजदीक भी उतनी ही शीघ्रता से पहुँच जाती हैं। और फिर अभी 'एड्स' का भी तो भूमण्डलीकरण होना है।

भू-बाजारीकरण ने अर्थशास्त्र के मौलिक सिद्धांतों को सिर के बल उल्टा खड़ा कर दिया है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', बीते दिनों की बात है। अकियो मोरिता ने अपनी आत्मकथा 'मेड इन जापान' में सोनी कारपोरेशन की प्रगति के पीछे जो प्रमुख कारण बताये हैं, उनमें से एक है- प्रौद्योगिकी के नवीनतम अनुसंधानों से बाजार में आवश्यकतायें उत्पन्न करना। आत्मरक्षा के लिए हथियार बनते तो अमरीकी हथियार उद्योग बहुत पहले ही बन्द हो गये होते। फिर, पश्चिम एशिया का तेल-धन अमरीका कैसे पहुँचता ? 'इण्टरनेट' के बिना, लगता है देश लौह-काल में चल रहा था। हाइड्रोजन बम, विषाणु हथियार, ब्लू फिल्में किस आवश्यक आवश्कता की पूर्ति हेतु आविष्कृत की गयी हैं ?

अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण के पक्षधर पश्चिम के अन्धानुकरण में नव-साम्राज्यवाद के बूटों की धमक नहीं सुन पा रहे हैं। उन्हें यह नहीं दीख रहा है कि इस उदारवाद में परस्परावलम्बिता नहीं वरन् एकाधिकारवाद का प्रसार हो रहा है। विकसित देशों के संतृप्त बाजार पूँजी-निवेश हेतु लाभदायक नहीं रह गये हैं, इसलिये कम्पनियाँ अपने पूँजी रूपी अस्त्र से सज्जित निर्धन देशों के श्रम रूपी हिरण के आखेट पर निकली हैं और चालीस प्रतिशत गरीबी रेखा से भी नीचे का जीवन स्तर काट रही जनसंख्या की वैशाखी पर खड़े देश के नेता चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं–हम उनका मुकाबला करने में सक्षम हैं। परन्तु हमें अपनी बहादुरी पर गर्व है और हम वीर सिराजुद्दौला की तरह पलासी की लड़ाई एक बार फिर लड़ने से पीछे नहीं हटेंगे। अन्ततः देश में शीतल पेय के कभी शाहंशाह रहे रमेश चौहान की तरह 'कोक' की 'बाटलिंग' करने पर मजबूर होंगे।

एक और दलील दी जा रही है विदेशी पूँजी के पक्ष में, कि देश की आधारभूत संरचनाओं के विकास में जो पूँजी अपेक्षित है, वह घरेलू संसाधनों से जुटाई नहीं जा सकती। यानी हम अपना विकास करने में स्वयं समर्थ नहीं हैं। मतलब, जो बात ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समय में शासकों द्वारा कही जाती थी कि–उपनिवेशों का विकास गोरों का दायित्व है, वह अब हम स्वयं कह रहे हैं। तो कितने मूर्ख थे हमारे स्वतंत्रता संग्राम सेनानी ? अगर स्वतंत्रता नहीं आई होती, तो गोरे लोग देश को विकसित कर अपने समकक्ष तो बना ही दिये होते।

उत्पादन के साधन एक साथ चौतरफा हमला करते हैं। न केवल स्थानीय उद्योग-धन्धों को पुरावशेषनुमा बना देते हैं वरन् संस्कृति, भाषा एवं सामाजिक सम्बन्धों को भी अपने रूप में ढाल देते हैं। तो बकरी और शेर की इस लड़ाई में मिट्टी के बर्तन और खिलौने प्लास्टिक से, हथकरघे सिन्थेटिक यार्न से, टिकिया, समोसे फास्ट-फूड से और तीजनबाई माइकेल जैक्सन से लड़ाई लड़ रहे हैं। पहले ही चक्र में नतीजा भी दीख रहा है। जो वस्तुयें कभी रोजमर्रा की आवश्यकतायें थीं, हमारे दैनिक उपभोग में रची-बसी थीं, अब वे डिजाइन वाली चीजों के रूप में प्रदर्शन की वस्तु बन गयी हैं। बेल-बूटेदार चोली-घाघरा एथनिक के नाम पर कभी-कभी पहने जाने वाला और मिट्टी के कलात्मक बर्तन टेराकोटा के नाम पर प्रदर्शन हेतु रहेंगे। हम रोज पहनेंगे आयातित सिन्थेटिक यार्न और उपयोग में लायेंगे प्लास्टिक उपकरण। सैकड़ों, हजारों वर्षों से पारंपरिक एवं पुश्तैनी व्यवसाय में लगे लोगों हेतु कोई बाजार नहीं है। केवल पश्चिम से आयातित वस्तुओं के लिये है। इसलिये यह स्वरोजगारी एवं स्वावलम्बी तबका अपने ही प्रतिद्वंद्वी की गुलामी करने को विवश है।

संस्कृति के क्षेत्र में भी हम विकसित हो रहे हैं। 'हमलोग' से शुरू करके बे वाच' तक पहुँच चुके हैं। हमारे अन्दर विश्वसुन्दरी प्रतियोगिता एवं माइकेल जैक्सन शो कराने की क्षमता आ चुकी है। हम नोबल पुरस्कार या ओलम्पिक मेडल भले न जीत सकें, विश्वसुन्दरी और ब्रह्माण्ड सुन्दरी का खिताब तो घर ला सकते हैं। हम डिस्को के रिद्म पर रामधुन गा रहे हैं। जैसे-जैसे उदारवाद का विकास हो रहा है, उसी के अनुपात में हमारा चारित्रिक पतन हो रहा है। वित्तीय घोटालों पर महापुराण लिखा जा सकता है। परन्तु डरने की कोई बात नहीं,

भ्रष्टाचार हमारे देश का ही नहीं, एक अन्तरराष्ट्रीय समस्या है, इसलिये इसका भी वैश्वीकरण हो रहा है। हम गर्व से कह सकते हैं कि पश्चिम की ही तरह हमारे यहाँ भी–भले ही थोड़ा देर से और धीमी गति से–तलाक, विवाहेतर शारीरिक सम्बन्धों एवं अवैध संतानों की संख्या बढ़ रही है। भाषा के क्षेत्र में भी हमने विलयीकरण किया है और अब हमारे यहाँ छोटा बच्चा भी हिंग्लिश बोल-समझ सकता है।

पूँजी पर दूसरे की निर्भरता कितनी घातक हो सकती है, यह तीन चार वर्ष पूर्व मेक्सिकी अर्थव्यवस्था की अचानक कमर टूट जाने के उदाहरण से कोई भी समझ सकता है। फिर भी हमारे नीति-नियंता विदेशी पूँजी निवेशकों को आमंत्रित करने में आम्भी की तरह उत्साहित हैं। आम आदमी की सहूलियत के पक्ष में कोई घोषणा करने से पहले हम विश्व-बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष की भृकुटियाँ निहारते हैं। वहीं एफ.आई.आई. एवं एफ.डी.आई. की तनिक उदासीनता भी सरकार को 'परदेसी परदेसी जाना नहीं, हमें छोड़ के..हमें छोड़ के..' का विलाप करने के लिए बाध्य कर देती है। विदेशी पूँजी के आगमन एवं बढ़ती बेरोजगारी के बीच उसे कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। १९९१ के पहले किसी ने वी. आर. एस. नहीं सुना था। अच्छे-खासे काम कर रहे व्यक्ति को निठल्ला बनाने की योजना को हम 'गोल्डेन हैण्डशेक' कह रहे हैं।

ऐसे समय में आवश्यकता है लोक-कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना के पुनर्स्थापना की। विरल आबादी, शोषण से एकत्र पूँजी से सम्पन्न एवं मशीनीकृत सभ्यता का पोषक पश्चिम, सघन आबादी एवं मानव-श्रम पर आधारित पूर्व की समस्याओं का न तो उत्तर है और न उसका 'माडल' बन सकता है। यदि हम समय रहते नहीं चेते तो यही कह कहते-कहते पुन: आर्थिक परतन्त्रता में चले जायेंगे- 'यूनानो-मिस्र रोमा सब मिट गये जहाँ से/कुछ बात है गरीबी, मिटती नहीं हमारी' (इकबाल से क्षमा याचना सहित)।

यह है बाजार

यह है बाजार
सौदा करते हैं सब यार।

धूप बहुत तेज थी, फिर भी जाना था,
दुखिये को सुखिया के लिए तेल लाना था,
बनिये से गुड़ का रुपया पिछला पाना था,
चलने को हुआ जैसे बड़ा समझदार।

सुखिया बोली अपनी सास को सुनाकर यों,
"मास के पैसे शायद अब तक भी बाकी हों,
अच्छा है अगर करें पूरी धेली ज्यों-त्यों,
टूटा रुपया खर्च होते लगेगी न बार।"

दुखिया बोला मन में, "ठहर अरी सास की,
मास खिलाता हूँ मैं तुझे, अभी रास की
चोरी है याद मुझे, बात कौन घास की
बैठाली क्या जाने ब्याही का प्यार ?"

मगर निकलकर घर से तेज कदम बढ़ा चला,
पिछली बातों का अगली बातों ने घोंटा गला,
दुखिया ने सोचा, "इसके पीछे बिना पड़े भला,
बैठा ले दूसरा तो सिंह से हूँ स्यार।"

निराला (रचनाकाल : १९४२)

बातचीत

डॉ. रामविलास शर्मा से ओम निश्चल

आज गाँधीवाद का विरोध आसान है अमरीकी पूँजीवाद का विरोध कठिन

डॉ. ओम निश्चल : डॉ० साहब, विश्वबाजारवाद के बहाने हमारे देश में जिस तरह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का आगमन हो रहा है, इससे एक नयी संस्कृति हमारे यहाँ जन्म ले रही है। साहित्यकारों, पत्रकारों तथा बुद्धिजीवियों पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। ऐसा देखा जा रहा है कि इस तबके के लोग कभी-कभी कुछ इस रौ में बात करते हैं कि लगता है वे विश्वबाजारवाद के अनुगामी हो गये हैं। तो क्या आपको ऐसा लगता है कि इस तरह का जो बाजार पनप रहा है, जिसमें हमारा देश भी बाजार बनाया जा रहा है ? इससे किस तरह के खतरे हमारे सामने हैं और क्या आप समझते हैं कि समकालीन पत्रकारिता अथवा साहित्य इस दौर के संकट से टकराने में समर्थ है ?
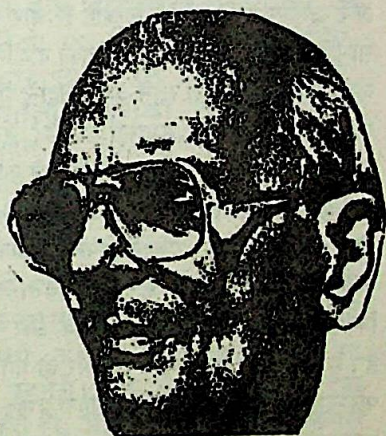
डॉ. रामविलास शर्मा : एक बाजार के अन्दर बहुत सारे बाजार, जैसे एक सड़क के साथ बहुत सी गलियाँ जुड़ी होती हैं, वैसे ही एक बाजार के अन्दर बहुत सारे बाजार हैं। अब भारत को ही लीजिए, भारत एक बहुत बड़ा बाजार है लेकिन इसमें बंगाल का बाजार अलग है, महाराष्ट्र का बाजार अलग है, तमिलनाडु का बाजार अलग है। वैसे ही आप सारी दुनिया को लें, तो हम लोग वैसे तो पश्चिमी दुनिया की बाजार की बात करते हैं लेकिन उसमें अमरीका का बाजार अलग है, ब्रिटेन का बाजार अलग है, फ्रांस और जर्मनी का बाजार अलग है, जापान का बाजार अलग है। इनमें आपस में सम्बन्ध है, इसका मतलब यह नहीं है कि आपस में ये इस तरह से जुड़ गये हैं कि उनका भेद मिट गया है। अमेरिका और जापान के भीतर बहुत तगड़ा अन्तर्विरोध है और यह युद्ध का भी रूप ले सकता है। इनके अन्दर जो व्यापारिक मारामारी है वो तो बहुत साफ दिखायी देती है। वैसे ही फ्रांस और जर्मनी एक तरफ हैं, अमरीका दूसरी तरफ। तो यूरोप का बाजार अमरीका के बाजार से टकरा रहा है। जापान का बाजार अमरीकी

बाजार से टकरा रहा है। दूसरे महायुद्ध के बाद कुछ समय के लिए अमरीका सबसे बड़ी आर्थिक शक्ति बन गया था, लेकिन जर्मनी और जापान ने बहुत जल्दी अपने अर्थतन्त्र को बहाल किया। बहाल करने के बाद वे अमरीका से आगे बढ़ गये। आज आर्थिक रूप से जापान और जर्मनी अमरीका से अधिक विकसित हैं। अमरीका फिर भी अधिक शक्तिशाली है, क्यों ? इसलिए कि पूँजी के केन्द्रीकरण के जो बैंक हैं उनमें से एक बैंक है, *इन्टरनेशनल मानीटरी फंड*, वो सब अमरीका में हैं, इसके अलावा पूँजी के केन्द्रीकरण के साथ जो अस्त्र-शस्त्रों का केन्द्रीकरण हुआ उसमें अमरीका सबसे आगे है। जितने एटम बम अमरीका के पास हैं, जितने परिष्कृत रूप में, उतने किसी दूसरे देश के पास नहीं। जर्मनी और जापान के पास तो हैं ही नहीं। तो जर्मनी और जापान आर्थिक रूप में आगे हैं और सामरिक रूप से ये अमरीका से बहुत पीछे हैं। इस सामरिक शक्ति के बल पर अमरीका दादागिरी करता है और जर्मनी और जापान को दबाने की कोशिश करता है। जो इतने बड़े प्रतिद्वन्द्वियों को दबाने की कोशिश कर सकता है, वह हिन्दुस्तान जैसे कमजोर देश को समझता क्या है? जरा सी बात पर आप उनका विरोध कीजिये, मतभेद प्रकट कीजिए, तो तुरन्त दादागिरी वाले जो दाव पेंच हैं वे इस्तेमाल करते हैं। हर तरह से वे आपको दबाने की कोशिशें करते हैं। अब जो ये भूमण्डलीकरण हो रहा है, वास्तव में यह अमरीका की दादागिरी है। हर देश ने अपनी आर्थिक स्वाधीनता के लिए, अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के लिए लड़ाइयाँ लड़ी हैं और इनके बिना उनका सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता। सांस्कृतिक विकास के लिए पैसे चाहिए, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति चाहिए, वह भारत के पास नहीं है। हर स्तर पर इन पर हम निर्भर हो गये हैं। पर-निर्भरता अधिक बढ़ती जा रही है। उसका परिणाम यह है कि उसका बहुत गहरा प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ता है। अब भाषा को लीजिये, भाषा को आप संस्कृति से अलग नहीं कर सकते। हमारे सोचने समझने का माध्यम क्या है ? अपनी भाषा को उसके आसन से हटा दिया जाय तो आपकी संस्कृति की जड़ कट गयी, ये समझना चाहिये। भारत में स्थिति ये है। जो बड़ी देशी पूँजी है और जो बड़ी विदेशी पूँजी है, इनकी भाषा अंग्रेजी है। आपके जो राष्ट्रीय दैनिक निकलते हैं, चाहे दक्षिण भारत का 'हिन्दू' हो, चाहे यहाँ का 'हिन्दुस्तान टाइम्स' हो, ये सब अंग्रेजी में निकलते हैं। जो आपके हिन्दी के दैनिक हैं, उन्हें राष्ट्रीय दैनिक नहीं माना जाता तथा उनमें अधिकतर अंग्रेजी से अनुवाद करके सामग्री छापी जाती है। अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की इतनी संख्या नहीं थी पराधीन भारत में, जितनी स्वाधीन भारत में है। इनमें बच्चों को भर्ती कराने के लिए जितनी मारामारी अब होती है उतनी २०-३० साल पहले नहीं होती थी। इसका अर्थ यह है कि अंग्रेजी का वर्चस्व बराबर बढ़ रहा है और वर्चस्व के बढ़ने का कारण यह है कि यहाँ पर देशी-विदेशी पूँजी का, विशेष रूप से जो बड़ी पूँजी है भारत की, और जो बड़ी पूँजी बाहर की है, उसका गठबन्धन है। अब अमरीका में जो गैर-इजारेदार पूँजीपति हैं, उनसे गठबन्धन नहीं कर सकते, वे जो वहाँ इजारेदार पूँजीपति हैं, बैंक-पति हैं वे इस तरह का गठबन्धन होने ही नहीं देंगे। उनके पास बहुत बड़ी ताकत है, तो वह अपने यहाँ के पूँजीपति को बाध्य करता है, आपके यहाँ के पूँजीपति को बाध्य करता है कि हमारे साथ गठबन्धन करो। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का माल बिकना भी एक रूप है आपकी

गुलामी का। उसके बाद फिर आप उनसे कर्ज लेते हैं और कर्ज के ऊपर सूद देते हैं, यह दूसरा रूप है और कर्ज लेते समय वह आपसे शर्त कराते हैं कि आर्थिक विकास इस-इस तरह से होगा, इतना हमारा माल खरीदोगे तो। यानी अगर आपने इनसे १०० डालर लिए तो ९० डालर पर सूद आप अलग देंगे और ९० डालर का माल खरीद कर उनको मुनाफा अलग से देंगे। ये आपके शोषण के तरीके हैं, जो अमरीका अपना रहा है। और मैं बहुत दिनों से कह रहा हूँ कि भारत को अहिंसात्मक तरीकों से अमरीका का विरोध करना चाहिए, हथियार उठाने की जरूरत नहीं है, अहिंसात्मक तरीकों से स्वदेशी का अभियान तो तुम बहुत पहले से जानते हो और अमरीकी नेताओं ने स्वयं स्वदेशी का सहारा लिया था। जब ये अंग्रेजों से लड़े थे, तब इन्होंने अंग्रेजी माल का बायकाट किया था। इन्होंने कहा कि मोटा-झोंटा कपड़ा हम अपने घर में बनायेंगे, अंग्रेजों का बनाया कपड़ा हम नहीं पहनेंगे। तुम तो गांधी जी के देश में रहते हो, और स्वदेशी को खूब अच्छी तरह जानते हो, विदेशी माल का बहिष्कार करो। अपने यहाँ का माल बनाओ, अपने यहाँ का माल आगे बढ़ाओ। हम खद्दर पहनने की बात नहीं करते, हम चरखे की बात नहीं करते, देशी मिलों को आगे बढ़ाओ। लेकिन देशी पूँजीवाद को यदि तुम परतन्त्र हो जाने दोगे तो 'मेड इन इण्डिया' का ठप्पा लगने से क्या होगा, मुनाफा तो बाहर चला जाता है। यहाँ पर दादा भाई नौरोजी ने जैसी लड़ाई की थी कि भारत का पैसा बाहर नहीं जाना चाहिए। उस समय जैसा आन्दोलन हम लोगों को चलाना चाहिए, भारत का पैसा भारत में रहना चाहिये। भारत की पूँजी से यहाँ का विकास होना चाहिए, देश को आत्म-निर्भर बनाना चाहिए। इसी से हमारा आर्थिक और सांस्कृतिक विकास हो सकता है। अगर ये नहीं करोगे तो जैसे सोवियत संघ में है—अब कौन सा अपराध है जो वहाँ पर नहीं होता। लोग कहते हैं कि लेनिनग्राद में पहले अपराध नहीं होता था, अब लेनिनग्राद शिकागो बन गया है। इनके बड़े-बड़े नगर क्राइम के लिए विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त किये बैठे हैं। तो आप के यहाँ क्राइम बढ़ रहा है, हर तरह का क्राइम बढ़ रहा है। उसके अलावा प्रदूषण वगैरह जो उद्योगीकरण का वीभत्स रूप हैं, वायु में गन्दगी है, जल में गन्दगी है। आप साँस लेते हैं, तो उससे फेफड़ों पर असर

और मैं बहुत दिनों से कह रहा हूँ कि भारत को अहिंसात्मक तरीकों से अमरीका का विरोध करना चाहिए, हथियार उठाने की जरूरत नहीं है, अहिंसात्मक तरीकों से स्वदेशी का अभियान तो तुम बहुत पहले से जानते हो और अमेरिकी नेताओं ने स्वयं स्वदेशी का सहारा लिया था। जब ये अंग्रेजों से लड़े थे, तब इन्होंने अंग्रेजी माल का बायकाट किया था। इन्होंने कहा कि मोटा-झोंटा कपड़ा हम अपने घर में बनायेंगे, अंग्रेजों का बनाया कपड़ा हम नहीं पहनेंगे। तुम तो गांधी जी के देश में रहते हो, और स्वदेशी को खूब अच्छी तरह जानते हो, विदेशी माल का बहिष्कार करो। अपने यहाँ का माल बनाओ, अपने यहाँ का माल आगे बढ़ाओ।

पड़ता है, स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है। इस परिस्थिति को बदले बिना देश को कैसे आगे बढ़ा सकते हो ? ये तुम्हारे सामने हालत है, अब इस दशा को बदलने का एक ही तरीका है कि विदेशी पूँजी का विरोध करो और देशी पूँजी का समर्थन करो। इसके लिए पूँजीपतियों पर भरोसा मत करो। इसलिए कि ये उनसे मिले हुए हैं। भरोसा करो यहाँ की आम जनता का, गरीबों का। जितने गरीब हैं उनको संगठित करो। गरीबों के संगठन में बाधा देने वाले कौन-कौन लोग हैं ? हिन्दू-मुसलमान के आधार पर कौन लड़ाने वाले हैं ? अगड़ी और पिछड़ी जातियों के आधार पर लड़ाने वाले कौन लोग हैं ? इनको अलग करो और जितने गरीब हों, किसी भी धर्म को मानने वाले हों, किसी जाति के हों, उनको संगठित करो, तब तुम इस देश की दशा को बदल सकते हो। संक्षेप में बात ये है, इसको विस्तार से चाहे आप जितना कह लें।

ओम निश्चल : डॉ० साहब ! क्या आपको नहीं लगता कि आज कुछ सूक्ष्म तरीकों से फिर हमारे देश को गुलाम बनाया जा रहा है ?

रामविलास शर्मा : गुलाम तो आप हैं ही। गुलामी से तो आप पूरी तरह निकले ही नहीं। मेरा एक लेख निकलने वाला है *साम्य* (सं. विजय गुप्त) में, 'आज का भारत और कल का इतिहास'। १९४६ में यहाँ पर क्रान्तिकारी परिस्थिति थी, यह १९९६ है। सन्-५० में नाविक विद्रोह की सालगिरह पर मैंने वह लेख लिखा था। उस समय कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि भारत में लोग विदेशी पूँजी का स्वागत इस तरह करेंगे। उसमें ज्योति बसु का नाम लेकर मैंने लिखा है आप पढ़ लीजिए। यहाँ किसी पार्टी का और किसी जाति बिरादरी का कोई सरोकार नहीं है। जो साफ-साफ बात है वह हमें कहना है। कोई भी पार्टी हो अगर वह विदेशी पूँजी का स्वागत करेगी तो मैं उसका विरोध करूँगा।

असलियत यह है कि आज के दौर में गाँधीवाद का विरोध करना आसान है, अमरीकी पूँजीवाद का विरोध करना कठिन है। लेकिन जो भी इस मामले में प्रबुद्ध हों उन्हें इस बात के लिए आन्दोलन करना चाहिए कि बिना स्वदेशी के तुम्हारा निस्तार नहीं। विदेशी पूँजी का जब तक दबाव बना रहेगा तब तक भारत आजाद नहीं हो सकता।

ओम निश्चल : आज की पत्रकारिता पर आप इसका क्या असर देख रहे हैं। क्या आप ऐसा महसूस करते हैं कि आज की पत्रकारिता अपने कर्त्तव्य से विमुख है ?

रामविलास शर्मा : सारे पत्र किसी न किसी राजनीति से जुड़े हुए हैं। अगर पूँजीवादी राजनीति का ये विरोध नहीं करते हैं, जनता के संगठन की बात नहीं करते हैं, विदेशी पूँजी का विरोध नहीं करते हैं तो उनका दायरा संकुचित तो होगा ही। वे तो देश के साथ विश्वासघात करेंगे। यह हो भी रहा है। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है सारे साधन अंग्रेजी पत्रों के पास हैं। आप उनसे सामग्री उधार लेकर अपने यहाँ छापते हैं, इसलिए हिन्दी अनुवाद की भाषा बनती जा रही है। हिन्दी में सोचने और लिखने का कष्ट कहाँ उठाते हैं ? जो माल आया उसी का अनुवाद कर देते हैं, उल्टा-सीधा जैसा बनता है।

ओम निश्चल : डॉ. साहब, प्रभाष जोशी ने तो कहा था कि *'जनसत्ता'* ऐसा अखबार है जो अनुवाद नहीं करता, वह मौलिक रूप से हिन्दी का ही अखबार है।
रामविलास शर्मा : देखिये, ज्यों-का-त्यों अनुवाद वे नहीं करते। इसका मतलब यह नहीं है कि कोई लेख लिखा और उसका अनुवाद कर दिया। *जनसत्ता* की भाषा और *हिन्दुस्तान* की भाषा में कोई विशेष अन्तर आप नहीं देखेंगे। सोचने के इनके जो मार्ग बने हुए हैं, वे मार्ग वही हैं जो पूँजीवाद ने बनाए हैं।
ओम निश्चल : कुछ वर्षों से देखा जा रहा है कि हिन्दी के कुछ बुद्धिजीवी भी तमाम तरह से उत्तर आधुनिकता का प्रवर्तन या उसकी वकालत कर रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में उनका यह भी मत है कि कहीं न कहीं मार्क्सवाद को उस तरह से भी देखने की जरूरत है। यह उनकी जड़ीभूत दृष्टि ही है कि उनका समूचा चिन्तन उत्तर आधुनिकता की सतह पर तैरता दीखता है।
रामविलास शर्मा : मार्क्सवाद का विरोध तो मार्क्सवाद के समय से हो रहा है और उसका अनेक नामों से विरोध किया जा रहा है। उत्तर आधुनिकतावाद बाद का नाम है। सवाल यह है कि समाज में वर्गों की स्थिति है कि नहीं, भारत में पूँजीवाद है कि नहीं, भारत में मजदूर हैं या नहीं, भारत में खेत मजदूर हैं या नहीं ? इनके आधार पर समाज का गठन करो, नहीं तो निर्धारित करो कि इसी नाम से पुकारोगे, हम उसका समर्थन करेंगे। तुम तो शब्दों के आडम्बर में जो वास्तविक स्थिति है उसे छिपा देना चाहते हो। मार्क्स ने कहा था कि समाज में वर्ग होते हैं। आर्थिक सम्बन्ध होते हैं, उनके अनुसार वर्ग बनते हैं। तो यह बात है हमारे यहाँ। पूँजीपति मुनाफा कमाते हैं, उनके मुनाफे को छिपाने के लिए और इनका जो गठबन्धन है विदेशी पूँजीपतियों से, उसे छिपाने के लिए तुमने उत्तर-आधुनिकतावाद एक नाम दे दिया। उससे क्या होता है। यह मार्क्सवादियों की कमजोरी है कि वे जनता को संगठित करके आगे नहीं बढ़ते, नहीं तो ये सब चीजें हवा हो जायं।
ओम निश्चल : इन सब के बावजूद क्या आज भी मार्क्सवाद प्रासंगिक है ?
रामविलास शर्मा : बिल्कुल है। कमजोरी मार्क्सवादियों की है जो जनता को संगठित करके संघर्ष नहीं चलाते। विदेशी पूँजी के विरोध को अपना मुख्य नारा नहीं बनाते। क्रान्तिकारी परिवर्तन के बिना भारत आगे प्रगति नहीं कर सकता। सन् '४६ में आन्दोलन जहाँ छोड़ा था वहाँ से उसे पकड़ना है। अंग्रेजों से जो समझौता हुआ था सन् '४७ में, उसे रद्द करना है, तब आगे बढ़ोगे। सन् '४७ के समझौते की दो बातें मुख्य हैं-भारत में ब्रिटिश पूँजी सुरक्षित रहे, ब्रिटिश पूँजी का राष्ट्रीयकरण नहीं हो सकता। कांग्रेस ब्रिटिश पूँजी के राष्ट्रीयकरण का आह्वान करती थी किन्तु '४७ के पहले। सन् '४७ के बाद इस मांग को दबा दिया गया। पहले कम्यूनिष्ट पार्टी इसकी मांग करती रही, बाद में उसने भी इसे छोड़ दिया। एक समझौता यह था कि भारत में ब्रिटिश पूँजी सुरक्षित रहे, अब ब्रिटिश पूँजी तो पीछे छूट गयी, अमरीकी पूँजी जोरों से आ गयी। अब इस वक्त विदेशी पूँजी के आयात का मुख्य आधार अमरीका है। तो यह मुख्य बात है जिसका विरोध करना चाहिए। दूसरी बात जो समझौते की है, वह है भारत के विभाजन की। भारत को आप साम्प्रदायिक रूप से विभाजित करेंगे और आशा करेंगे कि सम्प्रदायवाद खतम

हो जाएगा। इससे बड़ी मूर्खता और दूसरी नहीं हो सकती। कश्मीर में कहीं सम्प्रदायवाद का नाम नहीं था। आज वह गढ़ बन गया है। सिख सम्प्रदायवाद के दो चार लोग थे जो बिल्कुल अलग थे, पंजाब की जनता तक उनका असर नहीं था। अब वही पंजाब सिख सम्प्रदायवाद का गढ़ बन गया। यह एक रूप है विभाजन का। रामस्वामी नायकर ने पहले द्रविण मुनेत्र कणगम जाति-बिरादरी के आधार पर चलाया था वो अब उत्तर भारत में फैल गया है। अगड़ी जाति अलग और पिछड़ी जाति अलग। भारत में वर्ग नहीं हैं, केवल बिरादरियां हैं, यह भ्रम दूर कर देना चाहिए। वर्गों के आधार पर लोगों को संगठित करना चाहिए।

ओम निश्चल : डॉ. साहब ! जिस तरह की परिस्थिति आज है, ग्लोबलाइजेशन या विश्वबाजारीकरण का दौर है, क्या हमारा देश इससे मुक्त हो सकेगा ?

रामविलास शर्मा : आप ओकेनावा को देखिये। आज ओकेनावा की जापानी जनता कहती है कि अमरीकियों को बाहर निकालो। हालांकि ये वहाँ से अमरीकियों को निकाल नहीं पायेंगे। बी. बी.सी. से यह भी खबर दी कि जनता चाहे जो कुछ कहे, सरकार वहाँ अमरीकी पूँजीवादी अड्डे बनाये रखेगी। ये अन्तर्विरोध तो बढ़ ही रहा है। आप क्यूबा को देखिये, क्यूबा इनकी नाक के नीचे है। वहाँ फिदेल कास्त्रो को हटाने की इन्होंने लाख कोशिश की, उसका बाल बाँका नहीं कर पाये। जनता का समर्थन अगर आपको प्राप्त है तो कोई आपको हटा नहीं सकता और जनता के समर्थन के बिना चाहे जितना अमरीकी पूँजीपतियों के आश्रित रहें, एक दिन आपको गड्ढे में गिरना पड़ेगा।

ओम निश्चल : लेकिन ऐसा लगता है, जनता वास्तविकता को समझ नहीं रही है। जैसी आज की पत्रकारिता की भाषा है, एक लुभावना संसार रचा जा रहा है, जनता दिग्भ्रमित है। जनता को जागृत करने का काम जिनका है, वे तो लगभग इनके अनुगामी बने हुए हैं, उन्हीं की भाषा बोल रहे हैं, वे तो विज्ञापनों की जैसे कापीराइटिंग कर रहे हैं। ऐसे में बात कैसे बनेगी?

रामविलास शर्मा : इसीलिए जितने सचेत बुद्धिजीवी हैं, उन्हें संगठित होकर यह प्रयास करना चाहिए कि जनता में वे चेतना फैलायें कि तुम्हारी आर्थिक परनिर्भरता इस रूप में है, इसका विरोध इस रूप में हो सकता है। कुछ गाँधीवादी लोग हैं जो *'नयी आजादी'* नाम की एक पत्रिका इलाहाबाद से निकालते हैं। उसमें ये लोग बराबर प्रचार करते हैं। तो ऐसा एक गुट है। ऐसे लोग हैं देश के अन्दर। इस विचारधारा को और आगे बढ़ाना चाहिए। बहुत थोड़े से लोग ही हैं मगर हैं और जिनके साथ गाँधीवाद का लेबुल लगा हुआ है, इसलिए बहुत से लोग उससे अलग रहते हैं, समझते हैं कि ऐसे ही कुछ ढकोसला होगा। असलियत यह है कि आज के दौर में गाँधीवाद का विरोध करना आसान है, अमरीकी पूँजीवाद का विरोध करना कठिन है। लेकिन जो भी इस मामले में प्रबुद्ध हों उन्हें इस बात के लिए आन्दोलन करना चाहिए कि बिना स्वदेशी के तुम्हारा निस्तार नहीं। विदेशी पूँजी का जब तक दबाव बना रहेगा तब तक भारत आजाद नहीं हो सकता।

ओम निश्चल : क्या यह स्वदेशी का वही माडल है जिसका प्रचार भाजपा कर रही है ?

रामविलास शर्मा : जितने फासिस्ट हैं यह उनकी कार्यनीति रहती है कि जो भी लोकप्रिय नारा

हो उसे अपना लो। आप हिटलर को देखिये ! हिटलर के जमाने में सोसलिज्म बहुत लोकप्रिय था। उसने अपनी पार्टी का नाम रखा-'नेशनल सोसलिस्ट वर्कर्स पार्टी।' जितने लोकप्रिय नारे हैं, उन सबको ये ले लेते हैं। 'एनरान' का पहले विरोध किया इन्होंने, जिसका वामपंथ ने भी स्वागत किया। बाद में 'एनरान' को स्वीकार कर लिया गया। इनकी बात का कोई विश्वास नहीं। जो कहते हैं कार्यरूप में परिणत करते हैं या नहीं, यह देखना चाहिये।

जितने फासिस्ट हैं यह उनकी कार्यनीति रहती है कि जो भी लोकप्रिय नारा हो उसे अपना लो। आप हिटलर को देखिये ! हिटलर के जमाने में सोसलिज्म बहुत लोकप्रिय था। उसने अपनी पार्टी का नाम रखा-'नेशनल सोसलिस्ट वर्कर्स पार्टी।' जितने लोकप्रिय नारे हैं, उन सबको ये ले लेते हैं। 'एनरान' का पहले विरोध किया इन्होंने, जिसका वामपंथ ने भी स्वागत किया। बाद में 'एनरान' को स्वीकार कर लिया गया।

ओम निश्चल : आज विदेशी मीडिया हमारे यहाँ जिस आक्रामक रूप में छाता जा रहा है, उसे देखकर क्या ऐसा नहीं लगता है कि हमारे देश में उसके विरोध की चेतना जन्म ले सकती है ? हमारे यहाँ क्या ऐसे सक्रिय बुद्धिजीवी हैं जो इस कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं ?

रामविलास शर्मा : ऐसी चेतना है भारत के अन्दर। बहुत से लोग इसका इसका विरोध करते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी भी कहती तो है पर करती नहीं। जहाँ अमरीका की बात आयेगी, जैसे इराक के ऊपर हमला, तो कम्युनिस्ट पार्टियां चुप रहीं, उसका जोरदार विरोध नहीं किया।

डॉ. ओम निश्चल : आज हालत यह है कि अमरीका ने अपने प्रभुत्व को इस हद तक बढ़ा लिया है कि वह एक तरह से दादागिरी पर उतर आया है।

रामविलास शर्मा : हाँ, हर क्षेत्र में अमरीका दादागिरी कर रहा है। इन्श्योरेन्स में बाहर की कम्पनियों के प्रवेश का कम्युनिस्ट पार्टियों ने विरोध किया। धीरे-धीरे विरोध हो रहा है, पर संगठित रूप में नहीं। एक केन्द्रीय नारा देकर विरोध नहीं हो रहा है, लेकिन बिल्कुल नहीं हो रहा है ऐसा भी नहीं है।

ओम निश्चल : यह जो विदेशी चैनलों का आगमन है टी. वी. पर, यह क्या मनोरंजनवाद या अपसंस्कृतीकरण के पुनर्भव का दौर नहीं है ?

रामविलास शर्मा : हमें इसका भी विरोध करना चाहिए। विरोध करने वाले लोग हैं लेकिन संगठित आवाजें नहीं। कर्नाटक में एक क्रान्तिकारी आदमी हैं, इन्होंने विदेशी बीजों वगैरह की दुकानें जला दीं। इन्होंने कहा कि हम संविधान की रक्षा कर रहे हैं। तुम अगर यहाँ के कृषि तंत्र की रक्षा नही कर सकते तो हम करेंगे और अमरीकी जो दखलंदाजी करेंगे तो हम उसका इसी तरह से विरोध करेंगे। हम गांधीवादी हैं और इनकी दुकान जला देंगे। ऐसे लोग हैं। इन सबको मिलाकर एक बड़ा आन्दोलन खड़ा करने की जरूरत है।

अनुशीलन

ऋग्वेद, भारतीय नवजागरण और यूरोप

डॉ.श्याम कश्यप

डॉ. रामविलास शर्मा की कृति *'भारतीय नवजागरण और यूरोप'* *इतिहास और समकालीन परिदृश्य* शीर्षक पुस्तकमाला की चौथी और आखिरी किताब है। इससे पूर्व इस बहुचर्चित पुस्तकमाला के अंतर्गत उनकी तीन किताबें *'स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य'* (१९९२), *'भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद'* (फरवरी, १९९२), *'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद'* (१९९४) क्रमश: प्रकाशित हो चुकी हैं। जैसा कि चारों किताबों के नामों से स्पष्ट है, पहली पुस्तक का संबंध भारतीय इतिहास के आधुनिक काल से है जबकि दूसरी पुस्तक के केंद्र में मुख्यत: इतिहास विज्ञान की समस्याएँ हैं—यद्यपि इसमें भारतीय इतिहास के प्राय: सभी कालखण्डों का अद्यतन विवेचन किया गया है। इनके विपरीत, तीसरी और चौथी किताबों का संबंध प्राचीनकाल के इतिहास, पुरातत्व और दार्शनिक उद्भावनाओं के विकास से है। दोनों पुस्तकों के केन्द्र में *ऋग्वेद* है।

पुस्तकमाला की पहली किताब में डॉ. शर्मा का मुख्य निष्कर्ष यह है कि विगत लगभग दो-ढाई सौ वर्षों से हमारी केंद्रीय समस्या राष्ट्रीय स्वाधीनता और राष्ट्रीय एकता की समस्या रही है—१९४७ में आजादी के बाद भी—केवल इसका परिप्रेक्ष्य समय-समय पर बदलता रहा है। हमारी शेष समस्याएँ इस मुख्य और केंद्रीय समस्या से ही जुड़ी हुई और इसके इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं। उनके अनुसार इस केन्द्रीय समस्या और उससे जुड़ी अन्य सभी समस्याओं का निदान पूँजीपतियों और जमींदारों की हितसाधक मौजूद राजसत्ता (चाहे इसके अंतर्गत अब तक किसी भी पार्टी अथवा पार्टियों के गठबंधनों की सरकारें रही हों) द्वारा नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, इन सभी समस्याओं का समाधान किसानों मजदूरों और उनसे जुड़े बुद्धिजीवियों के प्रगतिशील वर्गों की लोकशाही राजसत्ता की स्थापना में ही निहित है। इससे सामाजिक अन्याय और मेहनतकशों का शोषण तो खत्म होगा ही, स्वाधीनता के साथ हमारी आर्थिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता भी सुदृढ़ होगी। इस मुख्य निष्कर्ष को ध्यान में रखकर ही १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम से लेकर राष्ट्रीय एकता और अखंडता के लिये किए जा रहे वर्तमान संघर्षों तक—'मंडल और कमंडल' सहित देश की प्राय: सभी प्रमुख राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर दृष्टिपात किया गया है।

दूसरी पुस्तक में भारत के संदर्भ में *मार्क्स* का विवेचन करते हुए भारतीय सामंतवाद, वर्णव्यस्था, जातीयता (नैशनेलिटीज) की पेचीदा समस्याओं और पूँजीवाद की विभिन्न

मंजिलों–व्यापारिक पूँजीवाद, दस्तकारी, कारखानेदारी, औद्योगिक पूँजीवाद और महाजनी पूँजीवाद आदि का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इस प्रसंग में सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि भारत के संदर्भ में *मार्क्स* और *एंगेल्स* के विचारों में होने वाले परिवर्तनों को रेखांकित करते हुए *मार्क्सवाद* के अध्ययन और उसे सृजनात्मक ढंग से व्यवहार में उतारने की जटिल समस्याओं की ओर भी संकेत किया गया है। इसके अलावा इस पुस्तक में रूस की समाजवादी क्रांति तथा हाल के वर्षों में पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में समाजवाद के विघटन का वस्तुनिष्ठ और बेबाक विवेचन किया गया है। विशेष बात यह है कि इस संपूर्ण घटनाक्रम का भारत सहित तीसरी दुनिया के सभी विकासशील देशों के लिये क्या ऐतिहासिक सबक है, डॉ. शर्मा ने इस ओर भी स्पष्ट संकेत किया है। इस विवेचन की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस किताब में समूचा सैद्धांतिक विश्लेषण ऐतिहासिक घटनाक्रम की ठोस नींव पर आधारित है और इसीलिये प्रामाणिक भी है। इस तरह, उपर्युक्त दोनों पुस्तकों के निष्कर्ष एक-दूसरे के पूरक और परस्पर संबंधित हैं।

पुस्तकमाला के अलग-अलग समय पर लिखे गये चारों खंडों की 'आंतरिक संबद्धता' का उल्लेख करते हुए पहली किताब में डॉ. शर्मा ने लिखा था कि "राष्ट्र के निर्माण और विकास में सामान्य ऐतिहासिक परंपराएँ महत्वपूर्ण होती हैं, यह निर्विवाद है। पर इसीलिये राष्ट्र के समकालीन परिदृश्य का विवेचन करते हुए पुराने इतिहास को छोड़ा नहीं जा सकता, न पुराने इतिहास का विवेचन समकालीन परिदृश्य की हमारी समझ से पूरी तरह मुक्त रह सकता है।'' इससे इस पुस्तकमाला के शीर्षक *इतिहास और समकालीन परिदृश्य* का औचित्य भी स्वतः स्पष्ट है। इस दृष्टिकोण के अलावा इन चारों किताबों की आंतरिक संबद्धता का एक महत्वपूर्ण पहलू और है जिसकी तरफ डॉ. शर्मा ने अपनी उपर्युक्त प्रस्तावना के आरंभ में संकेत किया है : "यूरोप के इतिहास का अध्ययन भारत के इतिहास को अलग रखकर नहीं किया जा सकता, वह इतिहास चाहे प्राचीन हो, चाहे आधुनिक अथवा मध्यकालीन हो। यही बात इतिहास विज्ञान के सिद्धांतों के बारे में कही जा सकती है।'' कहने की आवश्यकता नहीं कि रामविलास जी की ये चारों कृतियाँ यूरोप-केंद्रित इतिहास विज्ञान को मौलिक विस्तार देकर, उसके इकहरेपन को दूर कर, उसे सर्वांगीण बनाती हैं। इसके अलावा, ये कालजयी कृतियाँ पुरातत्व और इतिहास–विशेष रूप से भारत के इतिहास–के विवेचन में प्रचलित रूपवादी ढाँचे को तोड़कर उसकी जगह प्रामाणिकता, वस्तुनिष्ठता, बहु-आयामी वैज्ञानिकता और एक शब्द में कहें तो *द्वंद्वात्मकता* को सुप्रतिष्ठत करतीं है।

तीसरी पुस्तक का संबंध मुख्यतः पुरातत्व और प्राचीनकाल के इतिहास की समस्याओं से है, जबकि *भारतीय नवजागरण और यूरोप* में मुख्य रूप से दार्शनिक उद्भावनाओं का विवेचन किया गया है। इसमें इतिहास की समस्याएँ पृष्ठभूमि के रूप में हैं; जैसे कि दार्शनिक उद्भावनाओं, पुराकथाओं, देवशास्त्र और भाषाविज्ञान की समस्याएँ तीसरी किताब में पृष्ठभूमि के तौर पर हैं और मुख्य ध्यान *ऋग्वेद* और उसके रचनाकाल, *सरस्वती* नदी की प्राचीनता, उसका जल-मार्ग, *आर्यों* की समस्या, *हड़प्पा सभ्यता* और उसके संदर्भ में अन्य समकालीन

सभ्यताओं के विशिष्ट पुरातात्विक साक्ष्यों के विवेचन पर केंद्रित किया गया है। स्वभावतः इन दोनों पुस्तकों का संबंध भारत के प्राचीनकाल के इतिहास और दार्शनिक चिंतन के विकास से है और दोनों के ही केन्द्र में *ऋग्वेद* हैं। ये दोनों किताबें इस दृष्टि से भी परस्पर पूरक हैं। तीसरी पुस्तक में जहाँ यूनान को पश्चिमी एशिया का सीमांत मानते हुए मुख्यतः पश्चिमी एशिया से भारत के संबंधों और भारत की अपनी मूलभूमि से आर्यों के बहिर्गमन और पश्चिम की ओर उनके प्रसार का विवेचन किया गया है, वहीं *भारतीय नवजागरण और यूरोप* में यूनान, पुनर्जागरणकालीन यूरोप और भारत–इनके समाजों और उनके आपसी संबंधों का विश्लेषण करते हुए दार्शनिक तत्व-चिंतन के जन्म, उसके ऐतिहासिक विकास और *मार्क्सवाद के स्रोतों* के संदर्भ में *ऋग्वेद* और *उपनिषदों* के महत्व को पहली बार बड़े सटीक ढंग से रेखांकित किया गया है।

डॉ. शर्मा ने *पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद* की 'प्रस्तावना' में लिखा था, "यूनान का दर्शन-विज्ञान आधुनिक यूरोप के दर्शन-विज्ञान की आधारशिला है। इस दर्शन-विज्ञान की अनेक मूलभूत स्थापनाएँ भारतीय चिंतन में, सबसे पहले *ऋग्वेद* में, विद्यमान है।'' *भारतीय नवजागरण और यूरोप* की 'प्रस्तावना' में वे लिखते हैं कि–"प्राचीन यूनानी दर्शन एशियाई भूखण्ड (वर्तमान तुर्की) में विकसित हुआ था। अनेक विद्वानों ने लक्ष्य किया है कि उपनिषदों के चिंतन और इस दर्शन में अनेक समानताएँ हैं। ये समानताएँ इतनी अधिक हैं और ऐसी तलस्पर्शी हैं कि उन्हें आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों की अधिकांश मूल स्थापनाएँ *ऋग्वेद* में हैं। इस तरह कोई *मार्क्सवाद* के दार्शनिक स्रोतों का अध्ययन करना चाहे तो वह फ्रांस और इंगलैंड के भौतिकवाद, फिर यूनानी दर्शन, उससे पहले *उपनिषद,* उनसे बहुत पहले *ऋग्वेद*–इस तरह अपनी यात्रा की मंजिलें पार करेगा''। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक हम *ऋग्वेद* और *उपनिषदों* के दार्शनिक काव्य को मात्र धर्मशास्त्र मानकर उसके तत्व-चिंतन की उपेक्षा करते रहेंगे, उपनिषदों में भी भाववाद के अलावा और कुछ नहीं देखेंगे, तो इस यात्रा की ये अत्यंत महत्वपूर्ण मंजिलें पार करना तो दूर वे हमारी नजरों से भी ओझल रहेंगी। अपनी उपर्युक्त दोनों किताबों में डॉ. शर्मा ने इन आद्य मंजिलों को हमारे लिए स्पष्ट और सुलभ करने के साथ ही उन्हें पार करने की यात्रा कुछ आसान बनाने का सुकार्य भी किया है।

इन दोनों पुस्तकों का मूल दृष्टिकोण यह है कि प्राचीन सभ्यताओं के तीनों केंद्र–मिस्र, सुमेर और भारत–परस्पर संबद्ध थे और आगे चलकर यूनान भी इन प्राचीनतम सभ्यताओं से जुड़ जाता है। इस विशाल अफ्रीकी-एशियाई भूखंड की ये आद्य संस्कृतियाँ एक-दूसरे को निरंतर प्रभावित करती रही हैं। प्राचीन भारत के अध्ययन के लिए *मिस्र* और *पश्चिमी एशिया* की प्राचीन सभ्यताओं के साथ ही *क्रीट* द्वीप की *मिनोअन* सभ्यता और *मिकिनी* की *ईजियन* सभ्यता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। यही नहीं, इन सभी सभ्यताओं पर विचार करते हुए इनकी लगभग समकालीन *चीन* की प्राचीन सभ्यता को भी दृष्टि में रखना चाहिए। इन प्राचीनतम सभ्यताओं की अनेक बातें आपस में बहुत मिलती-जुलती हैं। स्मरणीय है कि

आधुनिक यूरोप की सभ्यता और संस्कृति का प्रेरणा स्रोत जिस *नवजागरणकालीन इटली* को माना जाता है उसका आधार प्राचीन *रोमन* और *यूनानी* सभ्यताएँ हैं। रोम को प्रभावित करने वाली ग्रीस की प्राचीन यूनानी सभ्यता भी *क्रीट* द्वीप की उस पुरातन सभ्यता से ही विकसित हुई थी, जिसकी नींव उन लोगों ने रखी थी जो *लघु एशिया* (एशिया माइनर) से यहाँ आए थे।

डॉ. शर्मा ने अपनी इन दोनों किताबों के माध्यम से सप्रमाण यह रेखांकित किया है कि *क्रीट, लघु एशिया, मिस्र* और *पश्चिमी एशिया* की प्राचीन *सुमेरी-बैबिलोनी* सभ्यताओं और संस्कृतियों के मूल स्रोत भारत की ओर ही संकेत करते हैं। इस सभ्यता और संस्कृति का मूल प्रवाह आर्य और द्रविड़ भाषा-परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले भारत के मूल निवासियों की आद्य सभ्यता और संस्कृति से ही आरंभ हुआ था, जिसकी प्राचीनतम छाप हमें आज भी *ऋग्वेद* में मिल जाती है। अतएव डॉ. शर्मा के मतानुसार, भाषा से लेकर ध्वनियों, व्यक्ति-नामों, देवशास्त्र, तत्व-चिंतन, सृष्टि कथाओं और पुराकथाओं तक जो बातें भी भारत, पश्चिमी एशिया, मिस्र और यूनान में एक समान मिलती हैं, उनकी मूल स्थापनाओं और प्राचीनतम रूपों के संकेत एकमात्र भारत में ही मिलते हैं, जबकि उनके परवर्ती और विकसित या परिवर्तित रूपों की भरमार हम उपर्युक्त स्थानों में पाते हैं। यह बात दीगर है कि भारत में हमें प्राचीन और मूल रूपों के साथ ही अनेक परवर्ती और विकसित अथवा परिवर्तित रूप भी मिल जाते हैं। इसीलिए, डॉ. शर्मा की यह दृढ़ मान्यता है कि भारत के मूल निवासी, पुरातन आर्यभाषा-भाषियों की प्राचीनतम कृति *ऋग्वेद* के सूक्ष्म और सटीक अध्ययन और विश्लेषण से अनेक पेचीदा गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। इन दोनों कालजयी कृतियों में वस्तुत: यही मौलिक प्रयास किया भी गया है।

भारतीय नवजागरण और यूरोप की 'प्रस्तावना' में भी इस ओर संकेत करते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है कि–"पुरातत्व ने पश्चिमी एशिया की जिस समृद्ध संस्कृति का उद्घाटन किया है, उसके स्रोतों और प्रवाहों को समझने में *ऋग्वेद* सहायक होता है। *पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद* में मैंने इन स्रोतों और प्रवाहों को समझने का प्रयास किया है" और "मार्क्सवाद, प्राचीन यूनानी दर्शन *उपनिषद* और *ऋग्वेद*, इनके संबंधों पर मैंने *भारतीय नवजागरण और यूरोप* में विचार किया है।" *ऋग्वेद* को "पहले से चली आती एक दीर्घकालीन भाषिक, दार्शनिक, साहित्यिक परंपरा की कड़ी" निरूपित करते हुए वे *ऋग्वैदिक नवजागरण* को उचित ही *भारतीय नवजागरण* की एकदम सटीक संज्ञा प्रदान करते हैं। वे लिखते हैं कि "*ऋग्वेद* के कवि सचेत रूप से देवतंत्र की भूमि छोड़कर दार्शनिक चिंतन की ओर बढ़ रहे हैं, इसलिए जागरण के साथ *नव* शब्द सार्थक है''। डॉ. शर्मा ऋग्वैदिक काल को भारत का *प्रथम नवजागरण* मानते हैं। *उपनिषदों* के काल को उसका दूसरा नवजागरण मानते हुए वे इसे "विश्वदर्शन के इतिहास में क्रांतिकारी युग'' कहते हैं।

इन दोनों युगों के बीच का काल *ब्राह्मण ग्रंथों* का रचनाकाल है जिसके दौरान पुरोहितवर्ग ने कर्मकांड और धार्मिक अंधविश्वास को विस्तार दिया था। *ऋग्वेद* और *उपनिषद* मूलत: इस धार्मिक रूढ़िवाद और कर्मकांड के विरोधी और *दार्शनिक यथार्थवाद* के मूल स्रोत

हैं। इसीलिए डॉ. शर्मा ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि *उपनिषद* जितना ही *ब्राह्मण* ग्रंथों से दूर हैं, उतना ही वे *ऋग्वेद* के निकट हैं। *ऋग्वेद* से विकसित होते हुए जो दर्शन हमें बीज रूप से *उपनिषदों* में मिलता है, उसी से आगे *लोकायत, सांख्य, योग, वैशेषिक* आदि का विकास हुआ है। इन दार्शनिक संप्रदायों की आधारभूत दृष्टि अपनाकर *चरक* ने शरीर विज्ञान, *कौटिल्य* ने समाजविज्ञान और *पाणिनी* ने भाषाविज्ञान के ग्रंथों की रचना की है। यही नहीं, *सांख्य* और *लोकायत* की भौतिकवादी धारा जहाँ ईरान में *जुर्वानृपंथ* का रूप लेती है, वहीं *वेदांत* की भाववादी धारा वहाँ *तसव्वुफ* या *सूफी मत* का रूप लेती है।

इस संबंध में डॉ. शर्मा ने लिखा है कि भारतीय दर्शन की भौतिकवादी और भाववादी "दोनों धाराओं ने अरबों और यूनानियों को प्रभावित किया और दोनों धाराएँ पुरोहितों के रूढ़िवाद से टकराईं। भौतिकवादी धारा से जुड़े हुए *मानी* और *मज़्दक* शहीद हुए; भाववादी धारा से जुड़े हुए *सुकरात* और *मंसूर* शहीद हुए। ईरान से लेकर यूनान तक भारतीय दर्शन के प्रभाव-विस्तार की रूढ़ि-विरोधी भूमिका ऐसी ही थी।'' वे अत्यंत विस्तार के साथ यह प्रमाणित करते हैं कि *सर्वात्मवाद* (यानी उपनिषदों के *अद्वैतवाद* अर्थात *वेदांत*) और *परमाणुवाद* का विकास भी सबसे पहले भारत में ही हुआ था। *न्याय-वैशेषिक* की देन यदि *परमाणुवाद* है तो *लोकायत* (या *चार्वाक* दर्शन) के साथ *विकासवाद* की धारणा आरंभ से ही जुड़ी रही है। इसीलिए, डॉ. शर्मा यह मानते हैं कि "*एपिकुरुस* और *देमोक्रितुस* से लेकर इंग्लैंड और फ्रांस तक की भौतिकवादी विचारधारा के पूर्व-रूप भारत में मौजूद थे।'' वे अपनी इस कृति में विस्तार के साथ इन्हें उजागर करके इनके आदि-स्रोत *ऋग्वेद* की ओर सही संकेत करते हैं। इस संदर्भ में वे दार्शनिक उद्‌भावनाओं के ही नहीं, बल्कि प्रकृति विज्ञानों, रेखागणित, बीजगणित और प्रौद्योगिकी से संबंधित कुछ धारणाओं, पद्धतियों और वस्तुओं के भारत से चीन, अरब, यूनान, और यूरोप पहुँचने का इतिहास भी विस्तार से रेखांकित करते हैं।

कई लोग *ऋग्वेद* की प्राचीनता को नकारने और उसके दार्शनिक महत्व को कम करके आँकने के लिए कुतर्क देते हैं कि *ऋग्वेद* में देवों की आकृतियाँ पूरी तरह स्पष्ट नहीं होतीं, अतएव उसमें देवतंत्र पूरी तरह विकसित नहीं हो पाया था, जैसाकि, मिसाल के लिए, अपने विकसित रूप में प्राचीन यूनान में मिलता है। इस प्रकार वे *ऋग्वेद* को पिछड़े हुए कबीलाई समाज की रचना साबित करना चाहते हैं और उसमें तत्व-चिंतन या दार्शनिक उद्‌भावनाओं के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। वे यह कपोलकल्पनाएँ भी करते हैं और फिर उन्हें इतिहास और पुरातत्व की 'प्रामाणिक' खोजों की तरह से प्रचारित करते हैं कि *ऋग्वेद* की रचना भारत के पश्चिमोत्तर से घुसने वाले उन *घुड़सवार आर्य आक्रमणकारियों* ने की थी जो खुद तो घुमंतू पशुपालक लोग थे पर जिन्होंने अपने कबीलाई योद्धा राजा इन्द्र के नेतृत्व में अपने से अधिक विकसित *हड़प्पा* और *मोहेंजो-दड़ो* की नागर सभ्यता का विनाश किया था। इस तरह, *ऋग्वेद* लगभग ढाई हजार ई. पू. की *हड़प्पा सभ्यता* ही नहीं बल्कि *अवेस्ता* के भी बाद की रचना थी, क्योंकि *अवेस्ता* की रचना ईरान में पहले हो चुकी थी जबकि *ऋग्वेद* की

रचना आर्यों के घुमंतू कबीलों ने ईरान, अफगानिस्तान और पंजाब में संचरण करते हुए लगभग १७००-१५०० ई. पू. में की थी। आर्यों को *आक्रमणकारी* और भारत के *मूल-निवासी* नहीं सिद्ध करने के लिए जो तरह-तरह की दंतकथाएँ फैलाई जाती हैं और प्रमाणरहित कुतर्क दिए जाते रहे हैं, उनमें शायद सबसे हास्यास्पद यह है कि तथाकथित आर्य-आक्रमण से पहले के स्तरों में, भारत में, कहीं भी *घोड़े की हड्डियाँ* नहीं मिलतीं जो घुमंतू आर्यों का मुख्य पशु था। इसके विपरीत, भारत से बाहर कई जगह उन पुरातन स्तरों पर जंगली और पालतू, दोनों तरह के घोड़ों की पर्याप्त हड्डियाँ मिलती हैं जहाँ भारत में घुसने से पहले आर्यों की हलचलों के संभावित इलाके कल्पित किये जाते हैं। यानी, भारत में घोड़ा इन आक्रमणकारी आर्यों के साथ ही आया, उससे पहले यहाँ जंगली या पालतू घोड़े के अस्तित्व का कोई 'पुरातात्विक प्रमाण' नहीं मिलता ! निष्कर्षतः आक्रमणकारी लोग भारत के मूल निवासी नहीं हैं और उनके कबीलाई जीवन को प्रतिबिंबित करने वाली प्राचीनतम कृति *ऋग्वेद* काफी बाद की और एक पिछड़े हुए आदिम समाज की रचना है !

डॉ. शर्मा ने इस संबंध में पुरातत्व और इतिहास की तमाम कपोलकल्पनाओं और दंतकथाओं को आधारहीन, प्रमाणरहित और गलत साबित करते हुए इन दोनों पुस्तकों–विशेष रूप से *पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद*–में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि आर्य भारत के मूल निवासी हैं और बहु-प्रचारित तथाकथित आर्य-आक्रमण का किसी भी स्तर का कोई प्रमाण नहीं मिलता; बल्कि पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक साक्ष्यों से इसके विपरीत तथ्यों की ही पुष्टि होती है। डॉ. शर्मा के अनुसार सरस्वती नदी, जल-प्रलय, मनु और महामत्स्य की कथा, गिलगमेश कथा-काव्य, प्राणवंतों के देश दिलमुन की खोज, सृष्टिकथाएँ और सर्वोपरि देवतंत्र के विकास की विभिन्न मंजिलों के सामाजशास्त्रीय विश्लेषण से भी सभी तथ्य भारत, *ऋग्वेद* और उसकी प्राचीनता की ओर ही स्पष्ट संकेत करते हैं। इन साहित्यिक और पुरातात्विक तथ्यों के सटीक विवेचन के अलावा उन्होंने दो अत्यंत महत्वपूर्ण भाषिक प्रमाणों की ओर भी ध्यान दिलाया है। वे बताते हैं कि मातृसत्तात्मक व्यवस्था की स्मृति के रूप में बहुवचन स्त्रीलिंग प्रयोगों की बहुलता *ऋग्वेद* की प्राचीनता का प्रमाण है। इसी तरह, तथाकथित आर्य-आक्रमण के विरुद्ध और आर्यों की मूलभूमि निर्विवाद रूप से भारत को मानने के पक्ष में सबसे बड़ा और अकाट्य प्रमाण यह भी है कि *सघोष महाप्राण ध्वनियों* वाले भारतीय शब्दों के ईरानी और यूरोपीय प्रतिरूपों में इस *सघोषता* और *महाप्राणता* का कहीं कोई संकेत नहीं मिलता, जो *ऋग्वेद* की भाषा की उल्लेखनीय विशेषता है। यह विशेषता केवल भारतीय आर्य भाषाओं में ही मिलती है।

इन सभी तथ्यों का विस्तार से विवेचन करते हुए डॉ. शर्मा ने अपनी उपर्युक्त कृति में भी इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि भारत के मूल-निवासी इन आर्यजनों की *सारस्वत सभ्यता* भी मेसोपोटामिया (दोआब) की सभ्यता ही थी–विशाल *सरस्वती* और *सिंधु* नदियों के दोआब की सभ्यता। तब *सतलज* और *यमुना* सहित कई नदियाँ *सरस्वती* के नदीतंत्र की ही सहायक नदियाँ थीं। इस *सरस्वती* नदी के तटवर्ती *भरत, पुरु* और अन्य गणों (जनों) ने

लगभग पाँच हजार ई. पू. *ऋग्वेद* की रचना की थी। *सरस्वती* में भीषण बाढ़ (जल-प्रलय) के बाद, लगभग तीन हजार ई. पू., इस वैदिक सभ्यता का केंद्र *सारस्वत प्रदेश* से खिसक कर पूरब में *कुरु-पंचालों* के क्षेत्र *ब्रह्मर्षि प्रदेश (मध्यदेश)* पहुँच जाता है और इतिहास में *भरतों* का महत्व एकाएक प्रायः लुप्त हो जाता है। डॉ. शर्मा ने यह अनुमान भी व्यक्त किया है कि *जल-प्रलय* की घटना के बाद विस्थापित *ऋग्वेद* के रचनाकार आर्यजनों के इन वंशजों ने ही शायद *मोहेंजो-दड़ों* और *हड़प्पा* की नींव डाली थी। उन्होंने इन पुरातात्विक प्रमाणों की ओर भी ध्यान दिलाया है कि हड़प्पाई सभ्यता के अब तक ज्ञात करीब ८०० स्थानों में से अधिकांश (५३० से ऊपर) इस लुप्त *सरस्वती* के प्राचीन जल-मार्ग पर ही स्थित हैं। यानी आधी से ज्यादा हड़प्पाई सभ्यता, जिसे *सिंधु घाटी की सभ्यता* भी कहा जाता है, मुख्यतः भारत में *सरस्वती* नदी के जलतंत्र पर ही निर्भर थी। *सरस्वती* की तुलना में *सिंधु* पर उसकी निर्भरता अपेक्षाकृत कम थी, क्योंकि पर्यावरण में परिवर्तनों के फलस्वरूप जब *सतलज* और *यमुना* नदियों के जल-मार्ग बदलने से *सरस्वती* के जल में भारी कमी आ गई तो इस तथाकथित *सिंधु सभ्यता* का लगभग १७५० ई० पू० में ह्रास हो गया। डॉ. शर्मा ने, इसीलिए, इस सभ्यता को उचित ही *सारस्वत सभ्यता* की सटीक संज्ञा दी है। जल-प्रलय के बाद ऋग्वैदिक आर्यों के बड़े पैमाने पर विस्थापन की यह दूसरी बड़ी घटना थी।

इस प्रकार, इन आर्यभाषा-भाषी जनों को दो बार विस्थापित होना पड़ा था। एक बार *ऋग्वेद* और *यजुर्वेद* की रचना के बाद, लेकिन *अथर्ववेद* की रचना से पहले, क्योंकि जल-प्रलय की घटना का पहला उल्लेख *अथर्ववेद* में ही मिलता है। दूसरी बार *सरस्वती* नदी के जलतंत्र में भारी कमी और सूखे के कारण, लगभग दूसरी सहस्त्राब्दी ई. पू. में। तकरीबन इन्हीं समयावधियों के दौरान हमें इन आर्यभाषा-भाषी जनों की गतिविधियों की अनुगूंज सुदूर पश्चिमी एशिया में भी सुनाई देती है। खास तौर से दो हजार ई. पू. के आस-पास ये आर्य जन बड़े पैमाने पर बहिर्गमन करते हैं। इनके द्रुतगामी अश्वों से खींचे जाने वाले अरा-युक्त रथों के साथ भारतीय देवनाम, भारतीय नदियों के नाम, ऋग्वैदिक तत्वचिंतन, अश्वविद्या और रथ-कौशल, शिल्प-तकनीक वि[illegible]याँ और पुराकथाओं के भंडार भी *पश्चिमी एशिया, मिस्र, लघु एशिया* और *क्रीट-यूनान* [illegible]ी ओर भाषिक तत्वों के साथ ही संक्रमित होते हैं; यद्यपि इस संक्रमण का एक माध्यम पारस्प[illegible]रिक व्यापार और भी बहुत पहले से रहा है। पश्चिमी एशिया और अन्य स्थानों से मिली पुरातात्विक सामग्री और अन्य प्रमाण इसकी पुष्टि करते हैं। इन सब तथ्यों के आधार पर डॉ. शर्मा की यह दृढ़ मान्यता है कि कालक्रम की दृष्टि से *मितन्नी* और *हित्ती* सभ्यताएँ हड़प्पा (सारस्वत) सभ्यता के उत्तरकाल या ह्रासकाल की हैं। प्राचीन *मिस्र* और पश्चिमी एशिया की *सुमेरी-बैबिलोनी* सभ्यताओं से बहुत पहले *ऋग्वेद* के अधिकांश मंडलों की रचना हो चुकी थी। *ऋग्वेद* में ही नहीं, उसके बहुत बाद की रचनाओं *यजुर्वेद* और *अथर्ववेद* में भी समुद्र-जैसे विशाल पाट वाली *सरस्वती* नदी जल से भरी-पूरी है। इस प्रकार, *सरस्वती* अपने साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों से आर्य-आक्रमण के सिद्धांत को गलत और *ऋग्वेद* की प्राचीनता को एक साथ सिद्ध करती है।

जहाँ तक *ऋग्वेद* के देवों की आकृतियाँ पूरी तरह से स्पष्ट न दिखने और फलस्वरूप उसमें देवतंत्र के पूर्णत: विकसित न हो पाने की भ्रांत धारणा का प्रश्न है, डॉ. शर्मा *भारतीय नवजागरण और यूरोप* में एशियाई भूखंड के *मिलेतुस* नगर के यूनानी दार्शनिकों *थलेस, अनाक्सिमंदर* और *अनाक्सिमेनेस* की देवसंबंधी धारणाओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि "ये सब अद्वैतवादी थे, मूल रचना-तत्व की खोज कर रहे थे, देवों की मानवीय आकृतियाँ उनके लिए व्यर्थ थीं। *होमर* के मानवाकार बहुदेववाद की प्रतिक्रिया में *क्सेनोफनेस* एक देव (ऋग्वेद के 'एक सद्') की धारणा तक पहुँचे थे" और चूँकि कवियों का काम मूर्तिविधान के बिना नहीं चलता, अतएव "उनकी सहज प्रवृत्ति बहुदेववाद की ओर होती है। *होमर* बहुत बड़े कवि थे, पर उनका देवतंत्र दार्शनिक चिंतन से दूर था। *शेली* अद्वैतवादी थे, बहुदेववाद को मूर्तिविधान के तौर पर इस्तेमाल करते थे। उनका मूर्तिविधान और अद्वैतवाद एक-दूसरे से पृथक हैं। इनमें सामंजस्य स्थापित किया है *सूरदास* और *तुलसीदास* ने।" रामविलास शर्मा से पहले इन बातों की ओर किसी दार्शनिक, समालोचक अथवा इतिहासकार ने कभी संकेत नहीं किया था। यूनान का प्रारंभिक दर्शन किस तरह भारत से प्रभावित था, इस प्रसंग की विस्तार से व्याख्या करते हुए डॉ. शर्मा ने इन तथ्यों की ओर भी ध्यान दिलाया है कि *थलेस, अनाक्सिमंदर* और *अनाक्सिमेनेस*-तीनों मिलेतुस के रहने वाले थे तो *क्सेनोफनेस* कॉलॉफोन के और *हेराक्लितुस* ऍफॅसुस नगर के निवासी थे। ये पाँचों दार्शनिक एक ही जनपद के थे जो एशिया में था और इनकी विचारधारा भी *उपनिषदों* की विचारधारा के समान थी। यूनान में काव्य और दर्शन की ऐसी परंपरा नहीं थी जो हमें *उपनिषदों* में-और उनसे पहले *ऋग्वेद* में दिखाई देती है।

इहलोकवाद को *ऋग्वेद* में दृढ़ता से प्रतिष्ठित दिखलाते हुए डॉ. शर्मा इस संदर्भ में बताते हैं कि धार्मिक रूढ़ियों के उपासक *ऋग्वेद* में प्रकृति से परे परमेश्वर का अभाव देखकर उसे पिछड़े हुए समाजों की रचना मानते हैं जबकि यह उसका सकारात्मक पक्ष है। प्रकृति-निरपेक्ष ईश्वर का यह अभाव वास्तव में प्रगतिशील सामाजिक विकास, यथार्थवादी दर्शन और मानवतावादी साहित्य का प्रेरक है। *ऋग्वेद* और *उपनिषदों* से लेकर *भक्ति-आंदोलन* तक हमें यही दिखाई देता है। डॉ. शर्मा के अनुसार "यूनानी साहित्य के अनेक आदिम साँचे *ऋग्वेद* में हैं, यूरोप के रूढ़िवादी धर्मग्रंथों में नहीं," लेकिन *ऋग्वेद* का-सा दार्शनिक वैभव यूनानी साहित्य में नहीं है। उनके मतानुसार इसकी वजह यह है कि *ऋग्वेद* देवकथाओं के विकास के बाद की और "उन कवियों की रचना है जो देवकथाओं की भूमि से आगे बढ़कर दार्शनिक काव्य के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे। देवों के पृथक, स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा उन्हें परंपरा से प्राप्त हुई थी। इसे वे जानबूझकर मिटा रहे थे।" जैसे इन दार्शनिक कवियों ने देवकथाओं को नया रूप दिया, वैसे ही उन्होंने कर्मकाण्ड को भी सर्वदा नवीन संस्कार प्रदान किये। उन्होंने जैसे देवतंत्र के खोल में यथार्थवादी दर्शन के नये तत्व स्थानान्तरित कर दिये थे, ठीक वैसे ही कर्मकाण्ड के खोल में यथार्थवादी चित्रण और भक्ति के नये तत्व भर दिये थे। डॉ. शर्मा के शब्दों में, "भक्ति के दर्शन और यथार्थवादी चित्रण का यह मेल *सूरदास* और *तुलसीदास* तक चला आया है और बहुत पुराना है।'' इस तथ्य की रोशनी में हम इन कवियों

और भक्ति-आंदोलन की सामंत-विरोधी भूमिका को नये सिरे से पहचान सकते हैं।

सामंती व्यवस्था की तुलना में उसकी पूर्ववर्ती गणव्यवस्था बहुत दीर्घजीवी होती है। अपने इस सुदीर्घ काल में यह समाज-व्यवस्था बहुत सारी देवकथाओं और मानववीरों की गाथाओं को जन्म देती है। इनमें से बहुत-सी कथाओं को बाद में ***धर्म*** आत्मसात कर लेता है। लेकिन सामंती सभ्यता के अभ्युदयकाल में देवकथाओं की भूमि पर, और उनसे अलग हटकर भी, विभिन्न ***दार्शनिक धाराएँ*** जन्म लेती हैं। वर्ग संघर्ष तीव्र न होने और उसका रूप स्पष्ट न होने की वजह से ये ***दार्शनिक धाराएँ*** मूलतः यथार्थपरक ही होती हैं। भूसंपत्ति के केंद्रीकरण और सामाजिक वर्चस्व के फलस्वरूप जब सत्ता थोड़े से लोगों के हाथ में आ जाती है और पुरोहितवर्ग उनका समर्थन करता है या खुद भूस्वामित्व में हिस्सा बँटाता है, तो सामंती समाज में ***भाववादी दार्शनिक धाराएँ*** भी पैदा होने लगती हैं। संपत्तिगत भेदों के तीव्र होते जाने के साथ ये ***भाववादी धाराएँ*** यथार्थवादी दार्शनिक धाराओं के विरोध में अपना वर्चस्व स्थापित करती हैं। भारत और यूनान के दार्शनिक विकास से इन तथ्यों की पुष्टि करते हुए डॉ. शर्मा बताते हैं कि जब संपत्तिशाली वर्गों का काम ***भाववादी दर्शन*** से नहीं चलता तो ***धर्म*** की सृष्टि होती है और ***धर्म संघों*** की स्थापना की जाती है। यदि दार्शनिक धाराएँ प्रबल होती हैं तो धर्म उनकी कुछ बातें अपना भी लेता है। लेकिन धर्म का आधार मूलतः तर्कशून्य आस्था और विवेकहीन अंधविश्वास ही होते हैं और वह पुराने समय से चली आ रही देवकथाओं पर लोगों के विश्वास का फायदा उठाता है। इस ***संघबद्ध धर्म*** और ***कर्मकाण्ड*** के विरोध में ***लोकधर्म*** की एकदम भिन्न और सकारात्मक भूमिका रेखांकित करते हुए डॉ. शर्मा ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि सामंती व्यवस्था के विघटनकाल में दार्शनिक चिंतन में फिर उभार आता है; अंधविश्वासों की जगह तर्क और विवेक की प्रतिष्ठा होती है, औद्योगिक विकास के साथ विज्ञान की प्रगति होती है और वह क्रमशः दर्शन का स्थान लेता जाता है। इस प्रकार हम सामाजिक विकास की एक मंजिल से दूसरी मंजिल में पहुँच जाते हैं, एक व्यवस्था से दूसरी में। इस संक्रमण को ही डॉ. शर्मा ने ***नवजागरण*** की संज्ञा दी है। जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, उन्होंने ऋग्वैदिक काल को भारत का पहला और उपनिषदकाल को ***दूसरा नवजागरण*** मानते हुए उसे यूरोप के रिनाँसाँ (***पुनर्जागरण***) से अलगाया है।

ऋग्वैदिक समाज व्यवस्था की व्याख्या करते हुए डॉ. शर्मा ने उसे आदिम साम्यवाद के सामूहिक संपत्ति और रक्त संबंधों पर आधारित गणसमाजों से स्पष्टतः अलगाया है। वे लिखते हैं कि '***ऋग्वेद*** के कवि इस तरह की समाज व्यवस्था से परिचित हैं, पर वे स्वयं उससे बाहर निकल आए हैं। वे नई अभ्युदयशील सामंती व्यवस्था का विकास कर रहे हैं। इस नई व्यवस्था का आधार व्यक्तिगत संपत्ति अथवा कुटुंब संपत्ति है। संपत्ति पुरुष केन्द्रित है, परिवार पितृसत्ताक है।'' वे मानते हैं कि "ऋग्वैदिक समाज गणव्यवथा वाले समाज से बहुत दूर नहीं है'' और "आदिम साम्यवादी समाज की दो मंजिलें ***ऋग्वेद*** में स्पष्ट हैं: एक मातृसत्ताक, जलदेवियों की उपासना वाली; दूसरी पितृसत्ताक, मरुतों की उपासना वाली'' क्योंकि ***आपःमातरः*** के रूप में जलदेवियों का स्मरण सदैव बहुवचन में किया गया है और ***मरुतगण*** को हमेशा

गण-रूप में याद किया गया है। लेकिन फिर भी यह समाज गणव्यवस्था वाला समाज नहीं है। उस पुरानी व्यवस्था की स्मृतियों की अनुगूंज के बावजूद "ऋग्वैदिक समाज आदिम साम्यवाद को पीछे छोड़ आया है। *एंगेल्स* ने यूनान के प्राचीन काल का उल्लेख करते हुए मातृसत्तात्मक परिवार के बाद पितृसत्तात्मक परिवार की स्थापना को *प्राचीन काल की सबसे बड़ी क्रांति* कहा है। डॉ. शर्मा के अनुसार "भारत में उससे कई हजार साल पहले यह क्रांति ऋग्वेदकाल में हो चुकी थी'' क्योंकि "जितना ही श्रम का विशेषीकरण होता है, उतना ही उत्पादन में गोत्र की भूमिका घटती है, कुटुंब की भूमिका बढ़ती है।'' *गण, गोत्र, कुल, कुटुंब* का क्रमशः विकास सामूहिक भूसंपत्ति के संगठन से जुड़ा हुआ है। *ऋग्वेद* में लोगों के अलग-अलग धंधों–विशेषकर कृषि-कर्म से अलग कुम्हार, बढ़ई, लोहार और अन्य धातु-शिल्पों आदि का उल्लेख खेती से कारीगरी के अलगाव और *श्रम के विशेषीकरण* का प्रमाण है। *निजी संपत्ति* पर आधारित पति-पत्नि के युग्म वाला परिवार दृढ़ता से स्थापित हो चुका था। *निजी संपत्ति* के साथ श्रम का विशेषीकरण *विनिमय* के विकास का भी सूचक है। डॉ. शर्मा के शब्दों में इस "समाज में ऐसे मनुष्य अवश्य हैं जो श्रम से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े नहीं हैं। इनका संबंध विनिमय से है या धार्मिक कृत्यों से। ऐसे धनी भूस्वामी भी हैं जो दासों से श्रम कराते हैं। परंतु *ऋग्वेद* में इनके दृष्टिकोण की प्रधानता नहीं है; समाज में अभी शक्तिशाली, भूस्वामियों, पुरोहितों अथवा व्यापारियों का वर्ग सुगठित नहीं हुआ। कारीगर और किसान स्वाधीन हैं और कवि उनसे तादात्म्य स्थापित करता है। श्रम की इस स्थिति से देवों के प्रति कवियों का दृष्टिकोण निर्धारित होता है; जीवन और मृत्यु के प्रति उनकी धाराणाएँ भी इसी स्थिति से निश्चित होती हैं।'' वस्तुतः यही *ऋग्वेद* के *दार्शनिक यथार्थवाद* और उसके रचनाकार कवियों (ऋषियों) की उस प्रगतिशील समाज व्यवस्था का आधार था, जहाँ व्यक्तिगत संपत्ति के साथ *राजसत्ता* का उद्भव हो रहा था।

भारतीय दार्शनिक साहित्य पर छाए हुए *ब्रह्म* का उल्लेख करते हुए डॉ. शर्मा हमें बताते हैं कि ऋग्वैदिक काल में इस *ब्रह्म* का वैसा आध्यात्मिक या रहस्यवादी अर्थ नहीं था जैसा परवर्ती युगों में दिखाई देता है और रूढ़िवादी लोग जिस पर आज भी बल देते हैं। इसके विपरीत, *ब्रह्म* का "मूल अर्थ है मंत्र, स्तुति, कविता'' और जैसे हम अपनी साहित्यिक रचना को कृति कहते हैं, वैसे ही वैदिक कवि *ब्रह्मकृति* की बात करते थे।'' इसी प्रकार *ब्रह्मन्* प्रशस्तिपरक काव्य है, ऐसे काव्य को रचने वाला *ब्रह्मा* है। वे इस पौराणिक मान्यता की ओर ध्यान दिलाकर कि *ब्रह्मा* नाम के देव ने वेद रचे थे, हमें बताते हैं कि इस पुराणकथा का आधार यह वास्तविकता है कि कवियों ने वेदों की रचना की थी, क्योंकि *ब्रह्मा* का मूल अर्थ है *कवि*। इसी प्रकार वे *यज्ञ, दक्ष* और *दक्षिणा*–जैसे बहु-प्रचलित शब्दों के मूल अर्थ उद्घाटित करते हुए बताते हैं कि *ऋग्वेद* के रचनाकाल तक यज्ञ कराना पेशा बनने लग गया था और ब्रह्म की तरह यज्ञ का भी मूल संबंध स्तुतिपरक काव्य से था। बहुत संभव है कि ब्रह्म और यज्ञ के वे अर्थ *ऋग्वेद* की रचना से पहले के आदिम साम्यवादी गणसमाज में प्रचलित रहे हों जिनकी ओर *श्रीपाद अमृत डांगे* ने अपनी कृति *भारत : आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक का*

इतिहास में संकेत किया है। डांगे लिखते हैं "हम आरंभ के यज्ञ और ब्रह्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं : आर्यों के साम्य-संघ का नाम ब्रह्म है और यज्ञ उस समाज की उत्पादन प्रणाली है–आदिम साम्य-संघ और उत्पादन की सामूहिक प्रणाली का यही रूप था।'' (पृष्ठ ४८)। *ऋग्वेद* के रचनाकाल में इन शब्दों का प्रयोग स्तुतिपरक काव्य के संदर्भ में होने लगा और इस काव्य के रचनाकार को ब्रह्मा कहा जाने लगा। डॉ. शर्मा के अनुसार *ऋग्वेद* में ऐसे ब्रह्मा अल्पसंख्यक हैं जो दूसरों के घर यज्ञ करने जाते हैं, बहुसंख्यक ब्रह्मा वे हैं जो खुद अपने लिए यज्ञ करते थे। इनके लिये किसी को *दक्षिणा* देने का प्रश्न नहीं था; *दक्षिणा* वे देते थे जो दूसरों से यज्ञ कराते थे। धीरे-धीरे दूसरों को दान-दक्षिणा देने वाले लोग समाज के नेता, संपित्तशाली और नृपति–सब कुछ बन गए और इन्हें ही *यजमान* कहा जाने लगा। *यजमान* के यहाँ यज्ञ कराने और सोमरस तैयार कराने में दक्ष ब्रह्मा ही दक्षिणा पाते थे। *दक्ष* का संबंध यज्ञ अथवा दक्षिणा से नहीं बल्कि कार्यदक्षता, कार्यकुशलता या रचनात्मक क्षमता से है।

ऋग्वेद में कई जगह *ब्रह्मा* और *कारू* (अर्थात *कवि*) शब्दों के प्रयोग में अन्तर किया गया है। जिस सूक्त में विभिन्न पेशों का उल्लेख करते हैं उसमें कवि को सदा यजमान की खोज में रहने वाले ब्रह्मा से अलग रखा गया है। इस संदर्भ में डॉ. शर्मा ने लिखा है कि "दान-दक्षिणा वाले सूक्त उत्तर-वैदिक काल में रचे गये थे। उस समय संपत्ति का केंद्रीकरण होने लगा था। ऐसे सूक्त *ऋग्वेद* की मुख्यधारा से बाहर हैं।'' इसीलिए, वे इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि दक्षिणा का मूल अर्थ रचनात्मक कार्यों में दक्ष व्यक्ति है; यज्ञ कराने के लिये मिलने वाला पुरस्कार उसका गौण अर्थ है। *ऋग्वेद* के रचनाकाल के परवर्ती दौर में दक्षिणा के इस गौण अर्थ का भी चलन हो गया था। *ब्राह्मण* का संबंध *ब्रह्मन्* से है और ब्राह्मण वह कवि या ऋषि है जो काव्य-रचना करता है और देवों की स्तुति करता है। डॉ. शर्मा के अनुसार जैसे ब्रह्मा दो तरह के हैं, वैसे ही ब्राह्मण भी दो तरह के हुए: "एक तो कवि थे, अपने लिए यज्ञ करते थे, देवता से अपना संबंध स्थापित करते थे; दूसरे, औरों के लिये मंत्र पढ़ते थे, यजमान ढूँढते थे, उनके लिए यज्ञ करते थे और दक्षिणा पाते थे।'' इनमें से पहले *मनीषी* ब्राह्मण हुए और दूसरे *व्रतचारी* ब्राह्मण। कुछ मंत्रों से लगता है कि ऋग्वैदिक समाज में ऐसा भेद किया जाने लगा था। *ऋग्वेद* में अनेक देवों को *कवि* और *ब्रह्मन्* तो कहा गया है पर उन्हें एक भी बार ब्राह्मण नहीं कहा गया है, क्योंकि परवर्ती काल में *ब्राह्मण* शब्द काव्यरचना से हटकर कर्मकांड से जुड़ता चला गया।

ऋग्वैदिक समाज के उत्तरकाल में, *वर्णभेद* की शुरुआत के साथ, *ब्राह्मण वर्ण* की रूपरेखा सबसे पहले उभरकर सामने आई थी। लेकिन इस वर्ण-गठन के साथ ही ऋग्वैदिक कवि इनके ज्ञान को चुनौती भी देने लगे थे। *ऋग्वेद* में *ब्राह्मण* शब्द सर्वत्र किसी वर्ण का सूचक नहीं है। ब्राह्मण के बाद *राजन्य* का स्थान है। यानी ऋग्वैदिक उत्तरकाल में भी वर्ण-विशेष के अर्थ में *क्षत्रिय* शब्द का चलन नहीं था। *क्षत्रिय* शब्द का व्यवहार जहाँ हुआ भी है, वह देवों के क्षत्रत्व या राजत्व के अर्थ में है। इसका मूल अर्थ तेजस्वी या प्रकाशमान होना होता है। *ऋग्वेद* के रचनाकाल में *राजा* शब्द का प्रयोग शासक के लिये होने तो लगा

था, पर वैदिक काल में दो तरह के समाज थे। एक वे जिनमें *राजा* (शासक) होता था और दूसरे वे जिनमें कोई राजा नहीं होता था। ***ऋग्वेद*** में ***शूद्र*** और ***वैश्य*** शब्दों का प्रयोग केवल एक बार हुआ है; वह भी अत्यंत परवर्ती काल के दसवें मंडल (१०.९०.१२ में)। इसके विपरीत ***विश्*** शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है जो ***गण*** और ***जन*** का पर्यायवाची है। डॉ. शर्मा के अनुसार "जब ब्राह्मण और क्षत्रिय जन-समुदाय से अलग हुए, तब विश् के अवशेष वैश्य भी उनसे अलग हुए।'' ***ऋग्वेद*** में वर्ण शब्द का व्यवहार रंग के अर्थ में हुआ है, जाति, नस्ल या वर्णाश्रम के परिवर्ती अर्थ में नहीं। ***ऋग्वेद*** में ***दास, दस्यु, पणि, आर्य*** सब एक ही समाज के सदस्य हैं। आर्य और दास आदि के भेद अक्सर याजक, और अयाजक के भेद हैं। ये कोई जातिगत या नस्लवादी भेद नहीं हैं, जैसाकि अनेक विद्वानों द्वारा चित्रित किया जाता है। डॉ. शर्मा लिखते हैं कि "आर्य शब्द से एक खास तरह की नस्ल का जो संबंध कुछ आधुनिक विद्वानों ने जोड़ा है, वह ऋग्वेद के किसी मंत्र से सत्य सिद्ध नहीं होता।'' इसी तरह *जन, गण, कृष्टि,* ***ग्राम*** आदि समानार्थी शब्दों की विवेचना करते हुए वे बताते हैं कि "जैसे ***ऋग्वेद*** में प्राचीन देवकथाओं से लेकर दार्शनिक उद्भावनाओं तक सांस्कृतिक इतिहास मिलता है, वैसे ही ग्राम-जैसे शब्दों के प्रयोग में सामाजिक विकास की मंजिलें देखी जा सकती हैं।'' धर्मशास्त्र का आवरण हटाकर ये मंजिलें पहचानी जा सकती हैं और इस दौरान विकसित होने वाले दार्शनिक यथार्थवाद की सकारात्मक भूमिका समझी जा सकती है।

द्वंद्वात्मक चिंतन और ***अद्वैतवाद*** को अधिकांश ***ऋग्वेद*** की विशेषता बताते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है कि उसमें ***सांख्य, न्याय-वैशेषिक*** और ***लोकायत (चार्वाक)*** दर्शन–तीनों की मूल दृष्टियाँ हैं जहाँ हम "दर्शन और विज्ञान को जन्म लेते और उन्हें विकसित होते देख सकते हैं।'' वे ***लोकायत*** या ***चार्वाक*** मत का परिचय देने के बाद बताते हैं कि ***विकासवाद*** की धारणा इस दर्शन से आरंभ से जुड़ी रही है और चार्वाकपंथियों का सुसंगत ***भौतिकवाद*** यूनान के ***देमोक्रितुस*** से कई हजार साल पहले भारत में जन्म ले चुका था। यूरोप में लंबे मध्यकाल के अंधकार-युग के बाद कहीं जाकर सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में भौतिकवाद का पुनरुद्धार होता है। यूरोप में भौतिकवाद को पुनर्जीवित करने में फ्रांस के ***पियर गसेंदी,*** आगे चलकर ***रेने देकार्त, दिदेरो*** और इंग्लैंड के ***टॉमस हौब्स, बेकन, लॉक*** और ***न्यूटन*** तथा जर्मनी में ***ब्यूख्नर, फोग्ट, फायरबाख़*** और ***हैकल*** आदि की उल्लेखनीय भूमिकाओं का विस्तार से विवेचन करने के साथ ही डॉ. शर्मा यह बताते हैं कि ***ऋग्वेद*** के रचनाकाल से लेकर ***गौतम बुद्ध*** के समय तक भारत में कई तरह का भौतिकवाद प्रचलित था। भौतिकवाद की इन धाराओं ने ***उपनिषदों*** से होते हुए ***सुकरात*** से पहले के यूनानी दार्शनिकों तक अपने प्रभाव का विस्तार किया था। अजीव भूत से जीव के विकास और ***किण्व सिद्धांत*** की चार्वाकपंथियों की धारणाओं से मिलता-जुलता सिद्धांत यूरोप में अठारहवीं शताब्दी तक प्रचलित था। ***लोकायत*** या ***चार्वाक*** दर्शन को ***बृहस्पति*** से जोड़ा जाता है, जिन्हें नास्तिक-शिरोमणि कहा गया है और जो ***ऋग्वेद*** के दसवें मंडल के ७१वें और ७२वें सूक्तों के रचयिता कवि हैं। ७२वें सूक्त में ही असत् से सत् के उत्पन्न होने आदि को 'क्रान्तिकारी घोषणा' निरूपित करते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है

कि "विश्वदर्शन में यह भारत की युगांतरकारी पहल है, यहाँ पहली बार विश्वप्रपंच के अपनी ही शक्तियों से विकसित होने की बात कही गई है।" ***सांख्य दर्शन*** के सृष्टिक्रम का परिचय देते हुए वे ध्यान दिलाते हैं कि ***डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर*** में सृष्टि के अंत के अपने विवरण में एंगेल्स इससे मिलती-जुलती धारणा को दोहराते हैं। इटली के खगोलशास्त्री ***सेक्की*** से लेकर अमरीकी वैज्ञानिक ***ड्रेपर*** और ***कार्ल सॉगन*** तक तमाम आधुनिक वैज्ञानिक इस विवरण को दोहराते हुए संसारों की आवृत्ति की शृंखलाओं का ऐसा ही सिद्धांत स्वीकार करते हैं। सैद्धांतिक प्रकृति विज्ञान संबंधी ***एंगेल्स*** की इन धारणाओं में–जो बीज रूप में ***ऋग्वेद*** के सृष्टि-सूक्तों, ***उपनिषदों*** और ***सांख्यों*** में मौजूद है–डॉ. शर्मा ***आइन्स्टाइन*** की चिंतन पद्धति का पूर्वानुमान देखते हैं।

गति के ऊष्मा में बदलने संबंधी ***ऋग्वेद*** के ऊर्जा सिद्धांतों की नाभिकीय भौतिकी से पुष्टि करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं कि "यहाँ ***एंगेल्स*** पीछे छूट जाते हैं, हम आणविक विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं।" काल की सापेक्षता के संदर्भ में ***एंगेल्स*** के विवेचन को ***आइन्स्टाइन*** के ***सापेक्षतावाद*** का पूर्वानुमान घोषित करते हुए वे मानते हैं कि "जहाँ तक काल की वस्तुगत सत्ता का संबंध हैं, वह (एंगेल्स) और आइन्सटाइन दोनों ही ***अथर्ववेद*** (१९.५३.१) का अनुसरण करते दिखायी देते हैं।" इससे पहले ये धारणाएँ ***ऋग्वेद*** में हैं। वे सप्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीनकाल के ये भारतीय जन ***काल सापेक्षता*** के सिद्धांत से परिचित थे। वे इन तथ्यों की ओर ध्यान दिलाते हैं कि ***न्याय-वैशेषिक*** दर्शन के ***परमाणुवाद*** के विपरीत ***आइन्स्टाइन*** अपनी ***फील्ड थ्योरी*** प्रस्तुत करते हुए आकाश (फील्ड) और 'अणुमय भूत' के सह-अस्तित्व को अस्वीकार करके जहाँ एकांतवादी नजर आते हैं, वहीं ***सांख्य*** और ***न्याय वैशेषिक*** के सह-अस्तित्त्व की तरह 'फील्ड' (आकाश) और भूत की आणविक संरचना का सह-अस्तित्व भी संभव हो सकता है। वस्तुतः ***ऋग्वेद*** में ये दोनों सह-अस्तित्व की ही स्थिति में हैं और यह स्थिति अनेकांतवादी (***द्वंद्ववादी***) दृष्टि का परिणाम है। ***लुडविग फ़ायरबाख़*** में जब ***एंगेल्स*** अपने समय के और ***हेगल*** के समय के प्रकृति विज्ञान में भेद करते हैं तो उनका चिंतन ***सांख्य दर्शन*** के अनुरूप है, ***हेगल*** के नहीं; और "इसी से भौतिकवाद के विकास में ***हेगल*** की अपेक्षा ***सांख्य दर्शन*** का महत्व प्रतिपादित होता है।" यदि इन सब दार्शनिक धारणाओं के साथ मानव कल्याण की भावना जोड़ दी जाए, तो डॉ. शर्मा के अनुसार, ***लोकायत*** दर्शन की प्रशस्त धारा निर्मित होती दिखाई देगी। वे यह भी बताते हैं कि ***ऋग्वेद*** के कवि जैसे बाह्य जगत पर ध्यान केंद्रित करते हैं, वैसे ही वे मनुष्य के अंतर्जगत की बहुविध क्रियाओं का अध्ययन भी करते हैं। विशेष बात यह है कि अंतर्जगत के इस सूक्ष्म अध्ययन में प्रत्यक्ष जगत का निषेध कहीं भी नहीं है, वह आँखों से जरा भी ओझल नहीं होने पाता। उपनिषदों के ज्यादा रचनाकार इन धारणाओं का अनुसरण करते हैं। ***तैत्तिरीय उपनिषद*** को भौतिकवाद के सर्वाधिक निकट बताते हुए डॉ. शर्मा ***तैत्तिरीय, ऐतरेय, मांडूक्य, मुंडक, कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद, बृहदारण्यक*** और ***छांदोग्य*** इन प्राचीनतम् और मुख्य उपनिषदों को मूलतः भौतिकवादी झुकाव वाले मानते हैं। वे इस प्रसंग में यह भी लिखते हैं कि "ऐसा लगता है,

छांदोग्य के रचनाकाल तक पुराणकथाओं का यथेष्ट चलन हो गया था और उनसे यह उपनिषद भी प्रभावित हुआ है।'' लेकिन इसकी मुख्य धारा फिर भी इसका *प्रत्यक्षवाद* ही है। इसमें विकासवादी धारणाओं का भी समावेश है। डॉ. शर्मा के अनुसार *ऋग्वेद* और अन्य उपनिषदों से सामग्री लेकर लिखा गया *श्वेताश्वतर उपनिषद* मुख्य दस उपनिषदों के बाद की रचना है और उसमें ऐसी धारणाएँ मिला दी गयी हैं जो *ऋग्वेद* और उपनिषदों की मूल विचारधारा के विरोध में हैं।

पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश–इन पाँच तत्वो में से किसी एक को आदि-तत्व मानने वाले विचारक *ऋग्वेद* और *उपनिषद,* दोनों के रचनाकाल में रहे हैं। व्यक्ति-रूप ईश्वर के अभाव और ब्रह्म की जगत्-व्याप्ति को उपनिषदों की मूल धारणा बताते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है कि "उपनिषदों ने *ऋग्वेद* से अद्वैत सत्ता का विचार ग्रहण किया, उसे *ब्रह्म* नाम देकर उसकी व्याप्ति का उद्घोष किया। यह ब्रह्म व्यक्ति-रूप में कल्पित किए जाने वाले ईश्वर का पर्यायवाची नहीं है।'' उनकी मान्यता है कि यह *ब्रह्मवाद* अथवा *सर्वात्मवाद* दर्शनशास्त्र का *यथार्थवाद* है, जो प्राचीन मानवतावाद का सुदृढ़ आधार है। कहीं यह सटीक भौतिकवाद है तो कहीं भाववाद के आवरण में है, पर यथार्थ जगत से इसका संबंध सदैव बना रहता है। यह *सर्वात्मवाद* (अथवा भारतीय दर्शन का *वेदांत*) हर तरह के सामंती पुरोहितवाद और कर्मकांड का विरोधी है। अध्यात्म योग का अर्थ इंद्रियों को नियंत्रित रखना बताते हुए वे इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि उपनिषदों में जहाँ उपासना की बात कही गई है, वहाँ आशय ज्यादातर *ध्यान* से है। उपनिषदों में यह योग परंपरा *ऋग्वेद* से चली आई है और जहाँ-तहाँ उनमें भक्ति-भाव भी है। डॉ. शर्मा सभी प्रमुख उपनिषदों की मूल अंतर्वस्तु का परिचय देते हुए यह भी बताते हैं कि उपनिषदों की दो मूल विचारधाराएँ हैं : एक भौतिकवादी और दूसरी सर्वात्मवादी। यह दूसरी विचारधारा (सर्वात्मवाद या वेदांत) भी उपनिषदों की एकमात्र विचारधारा नहीं है। उपनिषदों में अनेक दार्शनिक धाराएँ हैं। इनमे भौतिकवादी और निरीश्वरवादी धाराएँ खासी स्पष्ट और प्रबल हैं। *ऋग्वेद* की ओर उन्मुख और कालक्रम की दृष्टि से उसके निकटतर उपनिषदो में निरीश्वरवादी और भौतिकवादी दार्शनिक धाराएँ ही सर्वप्रमुख हैं। सर्वात्मवाद (विदांत) भी हर जगह भौतिकवाद का भाववादी प्रतिरूप नहीं है। यह संभव है कि सर्वात्मवाद के भाववादी आवरण में भौतिकवादी विषयवस्तु हो। सर्वात्मवाद होता भी दो तरह का है। एक में सर्वात्मा(ब्रह्म) प्रकृति के भीतर होता है दूसरे में वह(प्रकृति) ब्रह्म में विलीन हो जाती है। उपनिषदों के भीतर ही ब्रह्म का अस्तित्व है; वह प्राय: ब्रह्म में विलीन नहीं होती। इसीलिये डॉ. शर्मा ने उपनिषदों के सर्वात्मवाद की प्रगतिशील भूमिका की तरफ इशारा किया है।

हेगल भाववादी विचारक थे। वे सर्वात्मवादी भी थे। उनके वामपंथी अनुयाइयों ने, जिनमें *मार्क्स-एंगेल्स* भी थे, उनके सर्वात्मवाद को नया रूप दिया था। डॉ. शर्मा के अनुसार *मार्क्स एंगेल्स* का यह सर्वात्मवाद *हेगल* से भिन्न, बल्कि विपरीत, किंतु उपनिषदों के अद्वैतवाद से बहुत मिलता-जुलता था। उनका अनुमान है कि *मार्क्स* और *एंगेल्स* के सामने *हेगल* के

अलावा भी सर्वात्मवाद के अन्य स्रोत रहे हों, यह संभव है। उन्होंने जैसे *मार्क्स-एंगेल्स* की द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तक की यात्रा में सर्वात्मवाद की सकारात्मक भूमिका का मूल्यांकन किया है, ठीक वैसे ही वे वैज्ञानिक समाजवाद या कम्यूनिज्म के विकास में *क्रांतिकारी-जनवाद* और *जातीय जागरण* की भूमिका की ओर भी संकेत करते हैं। वे *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* (१८४८) से पहले वाले दौर–क्रांतिकारी-जनवाद वाले दौर–के *मार्क्स* और *एंगेल्स* के लेखन को बहुत महत्वपूर्ण बताते हुए हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर खींचते हैं कि *घोषणापत्र* में अनेक सही और महत्वपूर्ण स्थापनाओं को उलट दिया गया है। इसका कारण *हेगल* के *नियतिवाद* का दुष्प्रभाव है। इसकी छाया *मार्क्स-एंगेल्स* के एशिया और भारत संबंधी चिंतन पर भी है। ब्रिटिश पूँजीवाद और सर्वहारा का अति-मूल्यांकन, फलस्वरूप *सर्वहारा क्रांति* की रणनीति और किसानों की भूमिका का अल्प-मूल्यांकन भी इसी गलत सिद्धांत से जुड़े हुए हैं। इसके विपरीत *क्रांतिकारी-जनवाद* की स्थापनाओं का सारतत्व किसानों–मजदूरों की एकता और विश्व जनगण का साम्राज्य-विरोधी संघर्ष था, जिसकी ओर बाद में *मार्क्स* और *एंगेल्स* बार-बार लौटते हैं। वे अपने भारत संबंधी चिंतन में भी इसीलिये बड़ी हद तक सुधार कर पाते हैं। डॉ. शर्मा ने अपने सिद्धांत विवेचन में दिखाया है कि *हेगल* की अपेक्षा इन सवालों पर *कांट, बायरन, शेली* और चार्टिस्ट नेता *अर्नेस्ट जोन्स* ज्यादा सही थे; इसीलिए, "*शेली* से *मार्क्स* तक भौतिकवादी दर्शन का मार्ग सीधा था। बीच में व्यवधान थे *हेगल*।'' *शेली* के साथ ही *कांट* और *डारविन* की मान्यताओं का विस्तार से परिचय देने के बाद, वे उन्हें "दशर्न और विज्ञान की एक ही धारा से जुड़े हुए''बताते हुए लिखते हैं कि'ऐतिहासिक भौतिकवाद *कांट, शेली, डारविन* की धारणा लेकर ही आगे बढ़ सकता है; *हेगल* के चिंतन से उसकी टक्कर अनिवार्य है।'' कहने की आवश्यकता नहीं कि बात यहाँ *हेगल* के भाववादी दशर्न की है, उनके इतिहास संबंधी पूर्वाग्रहों की है, उनकी तर्कपद्धति की नहीं। इसके अलावा, मार्क्सवाद के प्रारंभिक विकास को जातीय जागरण से संबद्ध बताकर वे इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि *जातीय जागरण* की अनुगूंज *मार्क्स* और *एंगेल्स* के चिंतन में अंत तक बनी रही थी। इसी प्रसंग में *बहुजातीय राष्ट्र*(मल्टीनैशन स्टेट) के निर्माण में भारत की मार्गदशक की भूमिका की ओर संकेत करके, वे जातीय निर्माण के संदर्भ में स्वयं भारत के लिए तमिलनाडु और महाराष्ट्र को मार्गदर्शक मानते हैं। मार्क्सवादी दृष्टि से *जातीयता(नैशनेलिटीज)* की समस्या पर डॉ. शर्मा का मौलिक चिंतन लगभग सृजनात्मक विकास की कोटि का चिंतन ठहरता है।

यूरोपीय रिनॉसाँ वास्वत में इटली, फ्रांस और इंग्लैंड आदि के लिए विभिन्न *जातियों (नैशनेलिटीज)* के निर्माण का युग था। इसीलिये, सुदीर्घ अंधकार-युग–सामंती मध्यकाल–के अंत और *आधुनिक युग अथवा नवजागरण* का काल भी था। डॉ. शर्मा इस समूचे विकासक्रम का विश्लेषण करते हुए दो बातों की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। पहली यह कि भारत में *कृषि* और *कारीगरी* के बीच जो *अलगाव* ऋग्वैदिक काल में ही हो गया था, वह यूरोप में, मोटे तौर पर, इसी आधुनिक युग में संपन्न होता है; हालाँकि वहाँ कृषि और कारीगरी के बीच *संयोजन* के छिट-पुट रूप तो ठेठ उन्नीसवीं शताब्दी तक मिल जाते हैं। दूसरी महत्वपूर्ण

बात यह कि यूरोप का ***सामंती मध्यकाल*** भले ही दकियानूसी ***अंधकार-युग*** रहा हो–जो कि लोगों को जिंदा जलाने, प्राणदंड देने वाले धार्मिक न्यायालयों और हर तरह के ज्ञान-विज्ञान का विरोध करने के कारण वह था भी–भारत में ऐसा अंधकार-युग कभी भी नहीं रहा। भारत में यह तथाकथित 'मध्यकाल' (लगभग तीसरी से सोलहवीं शताब्दी) का दौर ज्ञान-विज्ञान और विदेश व्यापार सहित उद्योग-व्यापार की भारी उन्नति का युग था। यूरोप इस लम्बे अंधकार-युग से तब बाहर निकलता है जब इटली में प्राचीन यूनानी और रोमन ज्ञान-विज्ञान और साहित्य-कलाओं का पुनरुद्धार होता है। इटली के लिये यह ***पुनर्जागरण (रिनाँसाँ)*** का युग था। डॉ. शर्मा ने लिखा है "इटली के लोगों ने संस्कृति के पुनर्जन्म की बात इसलिए सोची थी कि तीसरी, चौथी और पाँचवी सदियों में जर्मन हमलावरों ने उनकी प्राचीन रोमन सभ्यता का नाश कर दिया था। अब वह सभ्यता मानो नए सिरे से जन्म ले रही थी, इसलिए पुनर्जन्म की बात उसके मन में आई।'' सोलहवीं सदी में इन इटलीवासियों ने अपने इस नए युग को इतालवी भाषा में ***ला रिनस्चिता (पुनर्जन्म)*** कहा था। फ्रांस के विद्वानों ने अठारहवीं सदी में उसे ***रिनैसान्स*** का नाम दिया। वहाँ से यह शब्द अँग्रेजी भाषा में आया। प्राचीन यूनानी और रोमन सभ्यताओं से फ्रांस और ब्रिटेन के लोग भी प्रभावित हुए थे, पर यह उनकी अपनी सभ्यता नहीं थी। फिर भी इटली की नकल में उन्होंने अपनी नई सभ्यता को ***पुनर्जन्म (रिनाँसाँ)*** कहना शुरू कर दिया। डॉ. शर्मा के अनुसार इटली के लिए भले ही यह ***पुनर्जागरण*** का युग हो, इंगलैंड, फ्रांस और शेष यूरोप के लिये तो वास्तव में पुनर्जन्म नहीं, बल्कि ***नवजागरण*** और ***जातीय जागरण*** का काल था।

यूरोप में इस जागरण की शुरुआत इटली से ही क्यों हुई ? इटली के **फ्लोरेंस** शहर में पूर्वी और पश्चिमी चर्च को मिलाने के उद्देश्य से १४३९ में एक सम्मेलन हुआ था, जहाँ यूनानी विद्वानों ने प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-संस्कृति और कलाओं के बारे में व्याख्यान दिए थे। तुर्कों द्वारा १४५३ में कुस्तुन्तनिया पर कब्जे के बाद वहाँ से भाग कर इटली आ बसे यूनानी विद्वानों ने प्राचीन ग्रीक और लैटिन ग्रंथों का प्रचार और विद्या-प्रसार किया। इस विद्या-प्रसार के साथ ही, बल्कि उससे भी एक-डेढ़ शताब्दी पहले इटली में लगभग १३०० से पूँजीवादी युग की शुरुआत हो चुकी थी। इंगलैंड की ***औद्योगिक क्रांति*** से तकरीबन साढ़े चार सौ साल पहले और स्वयं इटली में मशीनी उत्पादन से बहुत पहले, विनिमय के प्रसार से इस ***व्यापारी पूँजीवाद*** का विकास हो रहा था। इटली प्राचीनकाल में नगर सभ्यता का केन्द्र था। पाँचवीं सदी तक इस प्राचीन रोमन सभ्यता के ह्रास के बाद भी उसके अवशेष कायम रहे थे। इसीलिए अन्य देशों की अपेक्षा नए सिरे से इस नगर सभ्यता का पुन: विकास करने में इटली को आसानी हुई। तेरहवीं से पंद्रहवीं सदी तक **फ्लोरेंस** को यूरोप की वित्तीय राजधानी कहा जाता था। डॉ. शर्मा के अनुसार यूरोप में पहली बार लाल झंडा यहीं फहरा था और इसी शहर ने १३७५-७६ में पोप की सत्ता का विरोध करने में अगुवाई की थी। ऊन साफ करने वाले मजदूरों के १३७८ के विद्रोह का उल्लेख करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं कि "पैरिस कम्यून से लगभग आधी शताब्दी पहले फ्लोरेंस के मजदूर वर्ग ने अपनी राज्यसत्ता कायम की थी। यह

वर्ग अभी औद्योगिक क्रांति के दौर वाला सर्वहारा वर्ग न था, वह दस्तकारी वाले कारखानों के कारीगरों का वर्ग था।'' मशीनी उत्पादन के साथ अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में *औद्योगिक क्रांति* की शुरुआत से डॉ. शर्मा ने यूरोप में आधुनिक काल का दूसरा चरण माना है, जिसका नेतृत्व इंग्लैंड करता है। पर इससे पहले चरण में यूरोप में जो *व्यापारिक क्रांति* हो चुकी थी, उसका नेतृत्व *फ्लोरेंस* नगर और इटली ने किया था। इस व्यापार और विनिमय के प्रसार में भारत का भी उल्लेखनीय योगदान था, क्योंकि *पुनर्जागरणकालीन* यूरोप से उसी समय के भारत की हालत बहुत अच्छी थी और प्राचीनकाल की तरह अब भी "यूरोप का सारा सोना-चाँदी खिंचकर भारत आता था और उसका एक अंश शहरों से देहात में पहुँचता था'' इसकी वजह यह थी कि भारत में तैयार माल के बदले में देने के लिये यूरोपीय व्यापारियों के पास तैयार माल नहीं था। भारत में खेती और कारीगरी का अलगाव बहुत पहले से जारी रहने के साथ ही देशी खपत और विदेश व्यापार के लिए बड़े परिमाण में माल जमा करने वाली बड़ी-बड़ी मंडियाँ थीं। देहात और शहरों के बीच विनिमय का चलन बड़े पैमाने पर था। शहरों में माल तैयार किया जाता था और इसके लिये कारीगरों को पगार दी जाती थी। यातायात की व्यवस्था सुविधाजनक और सुरक्षित थी।

यूरोप में अठारहवीं सदी के *ज्ञान-प्रसार आंदोलन (एनलाइटॅनमेंट)* का परिचय देते हुए डॉ. शर्मा बताते हैं कि *औद्योगिक क्रांति* से पहले का यह बौद्धिक आंदोलन व्यापारिक पूँजीपति वर्ग के उत्थान और विज्ञान के प्रभाव से जुड़ा हुआ था। इस ज्ञान-प्रसार आंदोलन के चार प्रमुख संरक्षक थे: प्रुशिया (जर्मनी) के राजा *फ्रेडरिक महान्*, रूस की साम्राज्ञी *कैथरीन महान्*, आस्ट्रिया के राजा *योसेफ द्वितीय* और *पोप बोनीफेस चतुर्दशीय*। डॉ. शर्मा के अनुसार "इनसे मिलती-जुलती भूमिका भारत में *अकबर* की थी और वह एक शताब्दी पहले घटित हुई थी।'' अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि *व्यापारिक पूँजीवाद* के दौर में यह *जातीय निर्माण* का दौर भी होता है और भारत में *भक्ति-आंदोलन* इस जातीय निर्माण को व्यक्त करने वाला ऐसा सांस्कृतिक आंदोलन है जिसका मुख्य स्वर सामंत-विरोधी और मानवतावादी है। तमिलनाडु (छठी सदी ई०) और महाराष्ट्र (बारहवीं सदी ई०) से होते हुए यह प्रक्रिया मुगलकाल में अपने उत्कर्ष पर दिखायी देती है। यहाँ *भक्ति-आंदोलन* में यूरोप की तरह *रिनाँसाँ* और *रिफॉर्मेशन* के बीच अनिवार्य टक्कर के विपरीत, ये दोनों धाराएँ आपस में घुली-मिली हुई और एक-दूसरे की पूरक नजर आती हैं। डॉ. शर्मा के अनुसार *तुलसीदास* और अन्य भक्त-कवि उसी तरह से आधुनिक और नवजागरण के अग्रदूत हैं, जैसे कि इटली के *दाँते*। वे लिखते हैं कि *वर्जिल* इटली की प्राचीनता के प्रतिनिधि हैं, तो *दाँते* (१२६५-१३२१ ई०) उसकी आधुनिकता के। वे *दाँते* को इटली में *नवजारण* के आरंभकर्ता मानते हुए कवि *पेत्रार्क* (१३०४-७२ ई.), कथाकार *बोकाचिओ* और शिल्पी *माइकेल आँजेलो* को उनसे अपने-अपने ढंग से जुड़े हुए बताते हैं। इसी नवजागरण या *रिनाँसा* की उपज इंग्लैंड में *शेक्सपियर* और *मिल्टन हैं*। उनके मतानुसार *दाँते* को अलग रखकर यूरोपीय नवजागरण (*रिनाँसाँ*) का विवेचन नहीं किया जा सकता। *रिनाँसाँ* का गढ़ यदि इटली था तो नए प्रोटेस्टेंट धार्मिक सुधार आन्दोलन (*रिफॉर्मेशन*) का

गढ़ जर्मनी के उत्तरी राज्य थे, जहाँ *मार्टिन लूथर, ऑकहार्ट* और *थामस मुंजर* इसका नेतृत्व करते हैं। दोनों धाराओं में तो टक्कर होती ही है; खुद *ऑकहार्ट* और *मुंजर* का भी *मार्टिन लूथर* की विचारधारा से टकराव होता है। सशस्त्र किसान संघर्ष उठ खड़े होते हैं। *जोन ऑफ आर्क* को ३१ मई १४३१ जिंदा जला दिया गया था और जर्मन सर्वात्मवादी *ऑकहार्ट* की १३२७ में मृत्यु न हो गई होती तो उन्हें भी जिंदा जला दिया जाता। अतएव *यूरोपीय नवजागरण* की चर्चा करते हुए एक ओर जहाँ उसके इन अंधेरे पहलुओं पर दृष्टिपात करना चाहिए, वहीं इस ज्ञान-प्रसार और व्यापार-विनिमय में भारत की भूमिका की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इस संदर्भ में डॉ. शर्मा ने लिखा है कि "*एंगेल्स* ने पुनर्जागरणकालीन यूरोप के ज्ञान-विज्ञान की प्रशंसा की है, उसमें अरबों के योगदान का उल्लेख भी उन्होंने किया है। उन्हें यह मालूम न था कि अरब माध्यम मात्र थे। भारत से उन्हें जो मिला, वे उसी को यूरोप पहुँचा रहे थे।" जैसे पहली सदी ई० से लेकर अठारहवीं सदी तक भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया और चीन तक दर्शन, विज्ञान, कला प्रौद्योगिकी का निर्यात हो रहा था, वैसे ही पहले सीधे, फिर अरबों के माध्यम से यह ज्ञान-विज्ञान यूरोप पहुँच रहा था।

ज्ञान-प्रसार की यह परपंरा यह बीच-बीच में बाधित तो हुई, या इसमें कभी अन्य जन भी माध्यम बने, पर चौथी सहस्त्राब्दी और दूसरी सहस्त्राब्दी के दोनों आर्य-बहिर्गमन अभियानों, फिर हड़प्पा (या सारस्वत) सभ्यता के दौर, अंत में प्राचीन यूनानी सभ्यता और पाँचवी शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन तक यह परंपरा जारी रही थी। नवीं-दसवीं सदियों में जब *बगदाद* विद्या के प्रसार का केंद्र बना तो अरब माध्यम बने। इस परंपरा के प्रगतिशील और मूल्यवान तत्वों ने *यूरोप के नवजागरण* में भी अपना विशेष योगदान किया था। यह स्थिति तब बदलती है, या उचित होगा कि कहें बाधित होती है, जब भारत में *ईस्ट इंडिया कंपनी* की लूट से अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति होती है। भारत को गुलाम बनाकर धीरे-धीरे इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चा माल तैयार करने वाला, पिछड़ा हुआ खेतिहर उपनिवेश और तैयार माल की जबरिया मंडी में तब्दील कर दिया जाता है। भारत में पनप रहे व्यापारिक पूँजीवादी विकास का गला घोंट कर ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन यहाँ एक नई तरह की सामंती व्यवस्था थोप दी जाती है। अतएव, पुनर्जागरण-कालीन यूरोप में भारत के बौद्धिक और भौतिक योगदान के साथ ही भारत सहित उपनिवेशों की अमानवीय लूट और क्रूरतम हत्याकांडों की घटनाओं को भी याद रखना चाहिए। यूरोप के इस नवजागरण के साथ भारत का यह दोहरा रिश्ता रहा है। जब आधुनिक यूरोप की ज्ञान-विज्ञान परंपरा से भारत द्वारा बहुत-कुछ ग्रहण करने की बात की जाती है—और निस्संदेह, भारत ने ग्रहण किया भी है—तो जानबूझ कर इस दोहरे रिश्ते की बातें भुला दी जाती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ. शर्मा ने अपनी कालजयी कृतियों के माध्यम से इतिहास के अध्ययन में प्रचलित इस असतुंलन को दूर करके भारत और विश्व-इतिहास में सही संतुलन कायम किया है। ऐसा युगांतरकारी काम उनके-जैसा मार्क्सवादी चिंतक और ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं में समान रूप से पारंगत विद्वान ही कर सकता था।

कविता

दाई माँ

ज्ञानेन्द्रपति

वह जो सड़क पर
तुम्हारे आगे-आगे जा रही है
एक अधेड़ औरत

किसी बँगले से निकल कर
सिविल लाइन्स की इस जनधमनी में दाखिल होते
तुम कभी-कभी देख सकते हो उसे
यदि इधर से गुजरना होता हो तुम्हारा

उसकी थकी हुई जल्दबाज चाल से
तुम उसे पहचान लेते हो

हर बार उसके हाथ में
घर के लिए कुछ सहेजा हुआ रहता है
बगल से लगा

उसके घर का एक पेट है
जुगत कर लाई चीजों से जिसका काम चलता है

ऐसा बहुतों का हाल है
इस ओर ध्यान देना शिष्टता नहीं गिनी जाती
अतः उसकी अनदेखी-सी करते
गुजरते हो बगल से तुम
जब कभी हुआ गुजरना

लेकिन एक दिन तुम
उस तरह नहीं गुजर सकते
अनाकर्षित

आज तुम जानते हो
आगे-आगे जा रही वह अधेड़ औरत
एक माँ है
उसके घर में है
उसकी राह तकने वाला एक किशोर बेटा
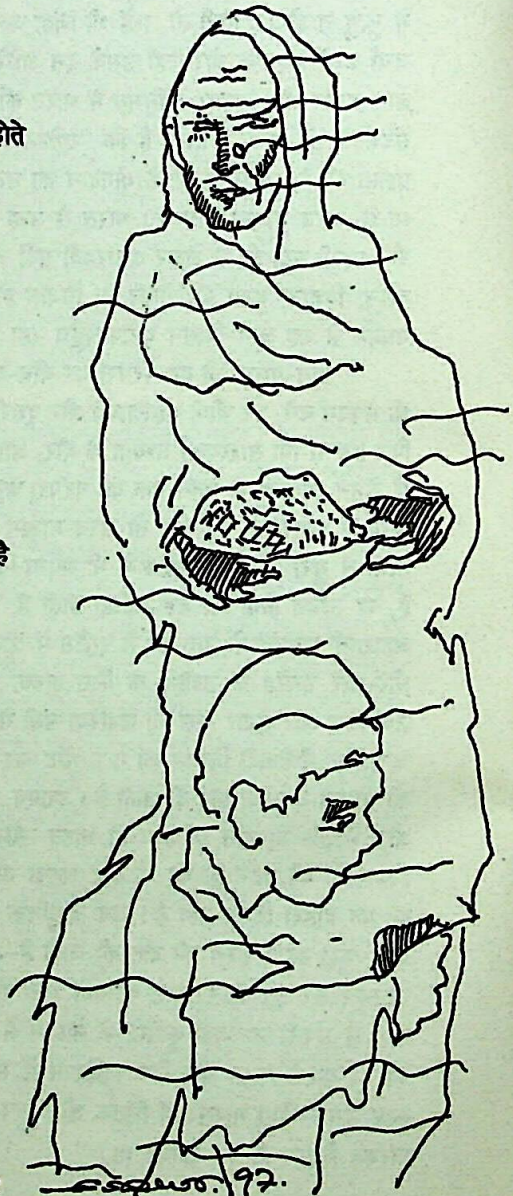
उछाह से जिसकी बाछें खिल जाती हैं

यह मिष्ट सूचना, मानो इष्ट सूचना, मेट देती है सारी शिष्ट दूरी मन में
तुम देखते हो एकटक
उसके हाथ में है एक लाल पतंग
कट कर गिरी और अटकी हुई अधबीच
किसी ऊर्ध्वग्रीव मकान की मुँडेर पर, उठा ली गई कर्म-कर्कश ममतालु हाथों
वह पतंग जिसने देर तक प्रतीक्षा की थी
दाई माँ का काम खत्म होने की
वह एक लाल पतंग
जिसकी लालिमा में घुली हुई आकाश की नीलिमा
आकाश का स्वाद चख चुकी एक पतंग
आकाश से ओत-प्रोत कि उससे चूता जाता आकाश
भले ही चू गई हो वह आकाश से मरे हुए पक्षी की तरह
वह एक नँथी हुई नभचर
पिटी कटी होने पर भी कटीपिटी नहीं
बची हुई अक्षत

उसका भविष्य आकाश की तरह बड़ा है

जिसके उद्‌भास में तुम्हारी निगाह जाती है
उस बच्चे पर
जिसके लिए
आज एक विस्मय आ रहा है घर
एक प्रतीक्षित विस्मय
जिसके अभाव की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती
क्षुधापूर्ति हर दिन की

तुम नहीं चाहते हो, एक बचपन
कटी हुई पतंगों पर पुसे
लेकिन तब भी एक आशीष-सा कुछ
उछलता है तुम्हारे मन में
हालाँकि तुम जानते हो कि उससे
थोड़ी भी मजबूत नहीं हो सकती
न तो इस पतंग की डोर न उस जिंदगी की डोर
जिससे बँध कर, इस पतंग को
आकाश के नाम धरती के प्रेमपत्र में बदल जाना है

ओम भारती

सख्ती–पसंद का गीत

मुझे सख्त अमरूद पसंद हैं, और सेब
मुझे सख्त नारियल पसंद हैं और बादाम
जैसे पेंसिलें पसंद हैं सख्त
जैसे सख्त फाल वाले हल
और खेत मुझे पसंद हैं सख्त
जो जानते हैं फसलों को उगाना
हर बरस, जिद की तरह
जिदों में बच्चों की जिद मुझे पसंद है
बचपने में सख्त
जैसे सख्त मोह बूढ़ों में
पौरुष में पसंद है मुझे सख्त रीढ़
यौवन में सख्त वक्ष, वक्ष में सख्त आग
आग में पसंद है मुझे सख्त अंगार
जैसे पानी में पसंद है मुझे सख्त बर्फ
थोड़े सख्त हृदय मुझे ज्यादा पसंद हैं
क्योंकि वही ज्यादा जानते हैं मृदु भावनाओं को
हाथ पसंद हैं जिनकी पकड़ सख्त हो
पैर जिनके कदम लंबे और सख्त हों
रंग सख्त पसंद हैं और पक्के
जैसे इस्पात और सीमेंट
क्योंकि सख्ती ही तोड़ना जानती है, और जोड़ना
मुझे दलदल नहीं, पठार पसंद है
और पसंद के क्षेत्र में मैं सख्तीपसंद हूं
जैसे दिन ने कभी पसंद नहीं किया चांद
और तारा भी बस उसे एक ही पसंद है
मैं पसंद के समर्पण की हुंडियां ठुकराता हूं
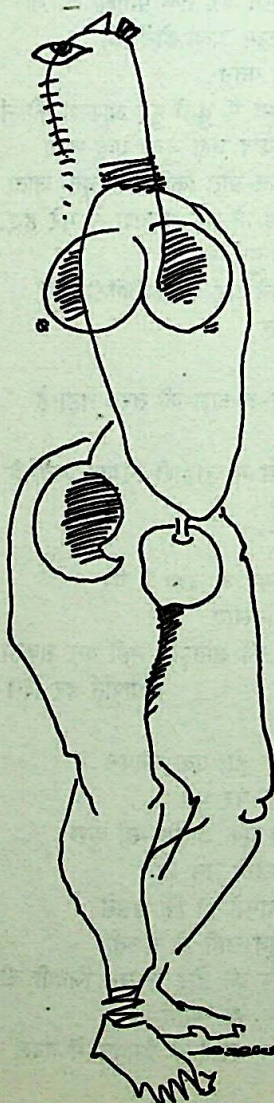
सख्ती से

क्योंकि सख्ती का अर्थ ही है
सच के लिए सख्ती
समझ भरी सख्तियां हर झूठ को फाड़कर
सच की मृदुलता में पैठती हैं
सख्ती ही छुएगी, मापेगी
सुकोमल रहस्य की गहराई
सख्त और खिंची हुई होती हैं
सबसे मीठे जल को खींच रही रस्सियां
सबसे कोमल वाक्य को भी
बांधता है एक सख्त व्याकरण
और उसे अर्थहीन होने से बचाता है
बचाने का काम तो
हमेशा ही सख्ती ने किया है
मोती या रेशम, स्वाद, रस, रंग
वरना कहां बचने थे बीज या जीवन
मुझे सख्ती प्रिय है
क्योंकि समय उसे बरतता है
जैसे कविता और पृथ्वी और प्रेम उसे बरतते हैं
अपने सख्त अनठहरे सफर में
ताकि कोमलतायें उगती रहें
और सुकोमल स्वप्न भी
ये तो वे हैं; वे दुष्ट जो औजार की सख्ती को
हथियारों में ढालकर सख्ती करते रहे हैं
वे ही आततायी
जो हथियार की सख्ती को
औजारों में डालकर
जबरन कस रहे हैं दुनिया की गलत कसी चूड़ियां
हमें उनकी सख्तियों से
सख्ती से निपटना है।

अजामिल
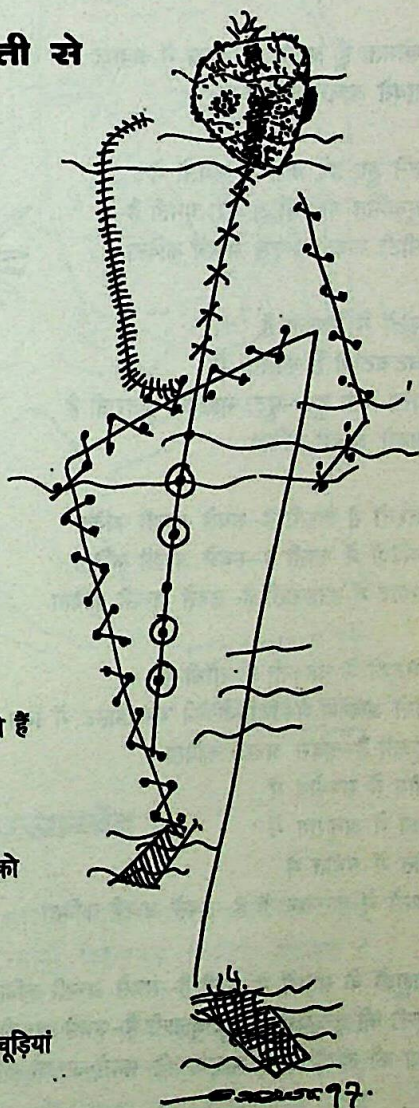
सबसे अच्छी कविता

खोजता हूँ अपने आस-पास मैं अक्सर
सबसे अच्छी कविता

तने हुए हरे बांस के जंगलों में
सुवासित गंध-सी आवारा घूमती है–
सीटी मारती–सबसे अच्छी कविता

फूलों में खिलती है
चटचटाती है कलियों में
पत्ता-पत्ता बूटा-बूटा सहलाती-दुलराती है
सबसे अच्छी कविता

झरनों से झरती है–सबसे अच्छी कविता
नदियों में बहती है–सबसे अच्छी कविता
सागर में हरहराती है–सबसे अच्छी कविता

मिट्टी में महकती है–सोंधी-सी
फैले आकाश में–चिड़ियों की चहचहाहट में दिन-दिन भर
गूंजती है–सबसे अच्छी कविता
भोग में सम्भोग में
राग में अनुराग में
गीत में संगीत में
शब्दों में खनखनाती है–सबसे अच्छी कविता

शिशुओं के सपनों में आती है–सबसे अच्छी कविता
पत्नी की इच्छाओं में कुलबुलाती है–सबसे अच्छी कविता
गैया की आंखों में है–करुणा की–सबसे अच्छी कविता

नन्ही बिटिया की हंसी में है

सबसे अच्छी कविता/लेकिन
संसार की सबसे अच्छी कविता है
मेरी अम्मा के चेहरे पर

यकीनन
हमारे सुखों में है सबसे अच्छी कविता
हमारे दुखों में है सबसे अच्छी कविता
अविश्वास के इस
भयावह दौर में–
आदमी को आदमी से जोड़ने के लिए
हर कवि की डायरी में
कुछ–केवल कुछ–
सबसे अच्छी कविताएं तो होनी ही चाहिए

अष्टभुजा शुक्ल

कहिए श्रीमान उखारबेंट !

चंदन-चर्चित भाल और कंठी लटकाए
कहिए स्वामी विद्वेषचंद्र ! कैसे उपराए ?

सुबह-सुबह दर्शन देने का कष्ट किये क्यों
सन्ध्या-पूजा के अमूल्य क्षण नष्ट किये क्यों ?
धूमकेतु की तरह उगे आकस्मिक कैसे
बिना हेतु के नहीं घूमते भगवन, जैसे
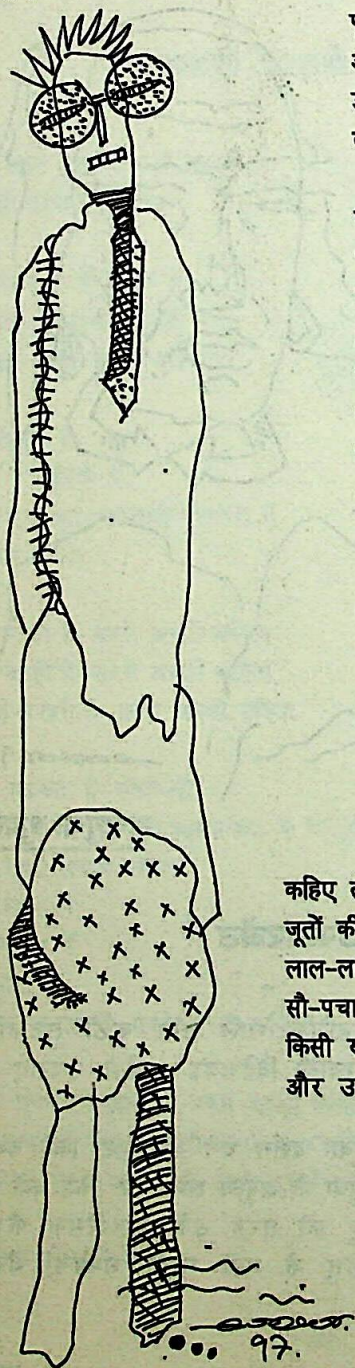
पूछ रहा हूँ समाचार तो दाँत निपोर रहे हैं
और नहीं तो बार-बार कन्धे झकझोर रहे हैं
ऊँच-नीच कुछ भी कहिये तो बात समझ में आए
कहिए श्रीमान, उखाड़बेंट ! कैसे उपराए ?

इतने में तो ठगी, तस्करी कुछ कर लेते
भक्तों को भवसागर के ठेके दे देते
नेताओं के गोड़धरिया से घर भर जाता
आश्रम में जो भी आता वह तर-तर जाता
बासी मुँह, दातौन बिना, क्यों किये खराई ?
कैसे किसी नराधम की सुधि सहसा आई ?
कितनी नरबलि किये और कितने घर खाए
कहिए स्वामी विद्वेषचन्द्र ! कैसे उपराए ?

ये बिच्छू के डंक और काँटे साही के
झोली में ही रखिये पुड़िया फिरकाशाही के
उन्मादों के टेबलेट, बिल्कुल नहीं चलेंगे
इस मंडल में इसके ग्राहक नहीं मिलेंगे
हम लोहार हैं खेती के औजार बनाते
आप तमंचे, चाकू के गँहकी ले आते
अपना दंड-कमण्डल यह अविलम्ब उठाएँ
वहाँ जाइये जहाँ आपके सींग समाएं
कहिए तो जनता से कह दूँ थोड़ा-सा अभिनंदन कर दे
जूतों की माला से विधिवत सर का ही सिर-वंदन कर दे
लाल-लाल चींटो के झोंझों से थोड़ा उपचार करा दूँ
सौ-पचास सूँड़ियाँ आपकी गुलगुल काया पर चलवा दूँ
किसी रूम में खाँची भर मिर्चा सुलगाकर होम करा दूँ
और उसी में ठेल आपको रेचक और विलोम करा दूँ
खैर नहीं इस बस्ती में यदि पुन: दिखाए
चलिए, स्वामी विद्वेषचन्द्र! कैसे उपराए ?

हरे कृष्ण झा

मिट्टी
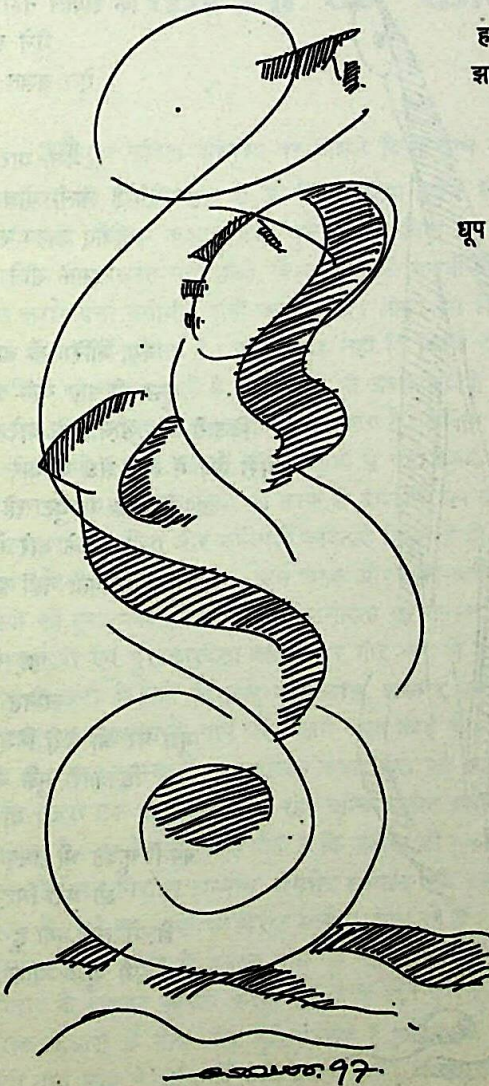
हम बरसों से साथ-साथ खटकर
झाल और मृदंग की गूंज के दाने
एक दूसरे के सीने में
बिखेरते रहे हैं।

धूप में जब पक जाती है यह महोर
तो खुली उत्कंठा की आंच
अनानास की आंच की तरह
इसके बदन पर
नाचने लगती है।

छाक भर भीजती है जब
यह बारिश में
तो मेरे खून के ताप के लिये
आतुर हो उठती है
मेरे हल की फाल से बिंधने को
उतावली हो जाती है।

खुल-खुल जाती है यह
अपने खरबों रोमकूपों से
निखिल की ओर
और जोहती है बाट
मेरे बीजों का।

सारा रस अपना
उड़ेलती है यह
मेरे बीजों में
उलीचती है यह
जीवन का हरा अर्क

मेरे बीजों के जरिये
धरती पर।

दुखी है यह मुझसे
कि खयाल नहीं रखा
मैंने इसका
ऐन बखत पर।

मैना बार बार
उड़ जाती है खाली चोंच लिये
हवाएं कलप रही हैं
इसके सीने पर।

क्या बोरिंग के बारे में
कुछ भी पता नहीं इसे ?
बिजली और डीजल के बारे में ?
मेरी जेब में लगी सेंध के बारे में ?
अपनी कोख में घुट रहे जल
के बारे में भी
क्या कुछ भी पता नहीं इसे ?

हां, भेजो,
लानत भेजो
मुझ पर ओ मेरी मिट्टी !
धिक्कारो मुझे जीभर
पर दो मुझे
अपनी कूबत भी तमक कर
ओ मेरी मिट्टी !
झेलने लग गया हूं इधर
मैं कुछ ज्यादा ही !

समालोचन

मौजूदा समय और कविता का कार्यभार

डॉ. ओम निश्चल

मौजूदा कविता-परिदृश्य पर पिछले दिनों क्षोभ जाहिर करते हुए एक जाने-माने साहित्यकार की यह टिप्पणी थी कि हिंदी कविता अपने मौलिक आधार गँवा चुकी है। यह टिप्पणी यदि मौलिक आधार गँवा चुके कुछ कवियों पर की गयी होती तो शायद इसके प्रत्याख्यान की जरूरत नहीं होती, किन्तु आज की समूची हिंदी कविता को मौलिक आधारों से रहित करार देना समीचीन नहीं जान पड़ता। शायद इस क्षोभ की वजह हिंदी कविता से कुछ ज्यादा ही उम्मीदें बाँधना है। इसमें संदेह नहीं कि किसी भी दौर में अच्छे-खराब दोनों तरह के कवियों की तादाद होती है और इसमें भी अच्छे कवियों की संख्या जब घटती जाती है तो गुणात्मकता का नाजुक संतुलन डगमगाने लगता है। कविता की गुणात्मकता के नजरिये से देखें तो अक्सर बड़े कद के कवियों की कविताओं से जहाँ हममें खीझ या निराशा-सी पैदा होती है, वहीं उन ढेर सारे युवा कवियों की तरफ से आश्वस्ति का संकेत भी मिलता है जो अपने समय की धारदार ,कालांकित और मर्मस्पर्शी कविताएँ लिख रहे होते हैं। सवाल यह है कि अच्छे और खराब कवियों में कैसे फर्क हो। आम पाठक और कभी-कभी आलोचकगण भी पुरस्कारों को ही कवियों की गुणात्मकता, प्रसिद्धि एवं पठनीयता का मानक मान लेते हैं। किन्तु पिछले दशक के पुरस्कारों एवं पुरस्कारजेता कवियों पर गौर करें तो स्पष्ट दीखता है कि ऐसा कोई कवि शायद ही छूटा हो जिसे *निराला, मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा* या फिर *भारतभूषण अग्रवाल* के नाम पर मिलने वाला कोई न कोई पुरस्कार-सम्मान हासिल न हो चुका हो। आज पुरस्कारों का प्रायोजन केवल कुछ बड़े शहरों या साहित्यिक केन्द्रों के रूप में चर्चित नगरों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इसका प्रायोजन गाँवों और कस्बों के स्तर तक फैल गया है। यह देखकर हैरत होती है कि कविता की मुकम्मल समझ तक न रखने वाले कवि अपने शीर्ष पर *निराला सम्मान, शमशेर सम्मान* लिये टहल रहे हैं और कविता के नाम पर वास्तव में *'चुसे हुए शब्दों का विराट मलवा'* उगल रहे हैं। अब तो इन पुरस्कारों की भी इतनी बहुतायत है कि स्मृति में इनका नाम भी नहीं टिकता। पुरस्कारों और पुरस्कर्ताओं के इस घटाटोप के बावजूद कविता अनेक कवियों के यहाँ पूरी दृढ़ता से मौजूद है और सर्वथा अपने मौलिक आधारों के साथ-और मुझे उम्मीद है कविता के साम्प्रतिक प्रवाह में मौजूद तलछट बैठेगी तथा आज के अनिवार्य कवि हमारी स्मृति में एक चिरस्थायी जगह बनाएँगे।

इससे पहले कि आज लिखी जा रही ताजातरीन कविताओं से आज के कविता-परिदृश्य का जायजा लिया जाय, हमें इस तथ्य को मद्देनजर रखना होगा कि कविता अपने समय को किस सीमा तक दर्ज करती है। यद्यपि केवल समय कों दर्ज-भर करना कविता की गुणवत्ता या प्रासंगिकता का प्रतिमान नहीं हो सकता, किंतु आज की कविता के किसी भी मूल्यांकन के लिए सर्वप्रथम उसमें समय की मौजूदगी को तरजीह दिया जाना चाहिए। तत्पश्चात कविता को कला, संवेदना और विचार की कसौटी पर रखकर देखना चाहिए। हम देखते हैं कि अकविता के बाद परिदृश्य पर अवतरित *'युवा कविता'* ने *'अकविता'* की जड़ीभूत संवेदना से अपने को पृथक करते हुए समय के जिस तीखे तेवर को अपना उपजीव्य बनाया था उससे कविता को 'स्वांत: सुखाय' और 'आत्मरति' में डूबी विधा मानने वाले आलोचकों को भी अपने मत बदलने पड़े। ***धूमिल*** ने *युवा कविता* की अभिव्यक्ति को न केवल पैना स्वर दिया, बल्कि वे कवियों की युवतर पीढ़ी के चेतना-स्रोत भी बने। गौर से देखें तो इस काल की कविता सामाजिक यथार्थ, जीवन की जटिलताओं, राजनीतिक-सांस्कृतिक अंतर्विरोधों को तीखी अभिव्यक्ति देती हुई सामान्य जन और शोषितों के पक्ष में खड़ी दिखायी देती है। यद्यपि ***धूमिल*** का व्यवस्था-विरोध कहीं-कहीं ऐसे बिन्दु पर आकर ठहर गया है, जहाँ वे वैचारिक विचलन के शिकार भी हुए हैं। तो भी ***धूमिल*** ने ही और उसके भी पूर्व ***मुक्तिबोध*** ने आज के कवियों को यह सीख दी कि कविता निजी चित्तवृत्तियों का आलोड़न नहीं है बल्कि वह अपने समय की तीखी आलोचना है।

एक समय था कि जब औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए यहाँ के कवियों में भी उत्कट बेचैनी रही। यहाँ के कच्चे माल का दोहन कर विदेशी पूँजी द्वारा हमें अपने बाजार का जरूरतमन्द ग्राहक बनाने की कोशिशों का विरोध ***मुक्तिबोध*** जैसे कवि आजादी के पहले से कर रहे थे। एक ऐसा सत्ता-वर्ग यहाँ उभरा, जिसके लिए आम जनों की अपेक्षा पूँजीवादियों के हित अधिक काम्य थे। ऐसे ही वक्त कांग्रेसी शासन के खोखलेपन, समाजवाद के कोरे नारों तथा दिनोदिन कसते पूँजीवादी शिकंजों को उघारने के लिए साठोत्तर कवियों ने कविता को सार्थक हथियार बनाया। साठ से अब तक के समय को देखें तो इसी बीच यहाँ उभरे कम्युनिस्ट आंदोलन से किसान एवं मजदूर वर्ग में एक नयी वर्ग-चेतना पैदा हुई, लोग अपने अधिकारों के लिए सचेत और संगठित हुए। इस बीच कई जनांदोलन उभरे। इनमें नक्सलबाड़ी, किसान-मजदूर आंदोलन और संपूर्ण क्रांति प्रमुख हैं। कवियों के लिए इन आंदोलनों के अलावा देश के अनेक भूभागों में समय-समय पर हुए जातीय दंगे, वियतनाम, कम्बोडिया और फिलिस्तीन के मुक्ति-संघर्ष, अफ्रीकी रंगभेद तथा मानवाधिकारों के हनन के प्रसंग भी काव्यवस्तु का आधार रहे हैं। यह कवियों का ही वर्ग था जो राजनैतिक आजादी की निस्सारता पर फटकार की भाषा में बोल सकता था–

> *'जो बँटवारे के पीछे थे/उन्हें मिला सिंहासन-राजपाट/ बंगला-गाड़ी, मातहतों की फौज/राज करने को गऊ जैसी जनता/बहुत सारे लोग/गरीबी की रेखा के नीचे कराह रहे हैं/यह कैसी आजादी है कि रोटी मेरे हाथ से छिन कर/उनके हाथ पहुँच रही है/जो उगाते नहीं गेहूँ (स्वप्निल श्रीवास्तव)।*

इधर के वर्षों में धार्मिक और जातीय अलगाववाद की भी एक मुहिम-सी चलायी गयी है। अपने-अपने वोट-बैंक की जुगाड़ में राजनीतिकों ने जातीय आधारों को उत्तरोत्तर पुख्ता किया है ताकि सर्वहारा और किसान-मजदूर उनके विरुद्ध तनकर खड़े होने के बजाय आपस में जातीय और धार्मिक मुद्दों पर बँट जायँ। पिछले दशकों के जातीय और धार्मिक दंगे राजनीतिकों और पूँजीपतियों की इसी सोची-समझी रणनीति का परिणाम हैं। धर्म, जिसे हर संप्रदाय के बीच सौहार्द की शृंखला बनना चाहिए था, उसकी मूल भावना को राजनीतिक महंतों ने इतना विकृत बना दिया है कि उससे कट्टरता की बू आने लगी है। ऐसे संदर्भों को कवि ने अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। वह लिखता है—

> *'अब कोई मजदूर नहीं रह गया है/न कोई भूखा और नंगा है/पहले से अधिक/धर्म ने सबको बना दिया है/हिंदू-मुस्लिम-सिख या ईसाई/पहले से अधिक/सरमायेदार खुश है/पहले से अधिक/अहले-सरकार खुश है/पहले से अधिक' (मेरा घर जल रहा है, राजीव सक्सेना)*।

सच तो यह है कि मेरठ, बिहारशरीफ़, भागलपुर, भिवंडी तथा अयोध्या (१९९२) के दृश्य आज भी दुःस्वप्न की तरह हमारी स्मृतियों में हैं। 'बिहारशरीफ' दंगे पर लिखते हुए *कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह* ने दंगों के बाद पसरे मातम के बीच खैरात बाँटने वाले राजनीतिकों को बखूबी पहचाना था ('प्रारूप-१')। *गोरख पांडेय* की कविता में भी *'दंगे'* के निहितार्थ को समझने की पूरी कोशिश मिलती है जब वे लिखते हैं— *'इस बार दंगा बहुत बड़ा था/खूब हुई थी खून की बारिश/अगले साल होगी फसल मतदान की'* (स्वर्ग से विदाई)।

कवियों ने यह निकट से देखा था कि पूँजी बेशक मुनाफे का बुनियादी आधार है किंतु इसने श्रम के दोहन से पूँजीपतियों को उत्तरोत्तर सम्पन्न और गरीब किसान-मजदूरों को उत्तरोत्तर विपन्न बनाया है। अपने श्रम से दूसरों का लोहा चमकाने वाले मजदूर-मेहनतकशों की विपदा— *'अपना क्या है इस जीवन में/सब तो लिया उधार/सारा लोहा उन लोगों का/अपनी केवल धार'*—*अरुण कमल* जैसे कवियों के यहाँ मुखर रूप में व्यक्त हुई है। आजीविका की तकलीफदेह अनिश्चितता में जीते पंजाब के निहाल सिंह के कथन— *'कोई नहीं जानता/कब बंद हो जायेंगी कौन-सी मिलें/किसकी होगी छंटनी/किनकी कटेंगी तनखाहें'* तथा किसानों, मजदूरों, भीख मांगते बच्चों, ठंड से ठिठुरते बूढ़े और जर्जर फेफड़े वाले रिक्शा-चालकों की जीवन-स्थितियों को पकड़ने में *अरुण कमल* की कविताएँ अनुभवसिद्ध लगती हैं। पूँजी और श्रम की एक विसंगति यह है कि पूँजी श्रम को उचित महत्त्व नहीं देती। पूँजीवादी व्यवस्था मजदूरों-किसानों के श्रम का अपने हितों और लाभ के लिए दोहन करती है। आजादी के पाँच दशकों बाद भी आज खेतिहर मजदूरों, किसानों, कामगारों की जो दशा है, वह समाजवादियों के समानता के दावे को झुठलाती है। आज कोई भी मजदूर, किसान इस स्थिति में अपने को नहीं कर पाया है कि यदि उसकी आय के स्रोत एक वर्ष तक ठप्प हो जायँ तो वह फिर भी अपनी गृहस्थी की गाड़ी चला सके। एक फसल-भर के नष्ट हो जाने या दैवी प्रकोप से प्रभावित पैदावार से किसान तीन महीने तक की जीविका नहीं चला सकता। इससे भी बदतर हालत

मजदूरों की है। चाहे वे किसी संगठित क्षेत्र में काम करते हों या असंगठित क्षेत्र में– मामूली और अधिकतर दैनिक मजदूरी ही उनकी जीविका का आधार है। आज यदि आजादी के पाँच दशकों में किसान-मजदूर विपन्नता की स्थिति में हैं तो इसकी वजह है पूँजीवादी तंत्र। *पृथ्वी का रफूगर* शीर्षक कविता में *देवीप्रसाद मिश्र* एक व्यक्ति को प्रतीक मानकर इस वर्ग के हालात से रू-ब-रू हुए हैं–

> *'अवध के एक गाँव में/एक आदमी रहता था/जिसमें सैकड़ों बैलों की ताकत थी/.......वह लाचार रहा और आत्मा के लिए/जगह तलाशता रहा/उसके रहते शासक यह दावा नहीं कर सकते थे/कि देश को उन्होंने ठीक से चलाया।'*

कवि की यह ख्वाहिश रही है कि *'सबके हिस्से का सूखा और शीत और पतझड़ समान हो/समान हो सबका बसन्त और हरापन/उतना ही इन्द्रधनुष/उतना ही सन और उतना ही सूत/उतना ही अम्ल उतना ही जल सबको मिले'*। किंतु क्या ऐसा संभव हो सका है। *विजेन्द्र* की एक कविता में इस अभाव की अनुगूँज सुनी जा सकती है– *'क्या सपना देख रही हूँ/कहाँ लिखा लिलार में मेरे/अपना जूड़ा गूँथूँ/हार बनाऊँ/साँझ-सबेरे गजरा पहनूँ'*। कहना न होगा कि विपन्नता, शोषण और पूँजीवादी विसंगतियों व उनके परिणामों को साठोत्तर कवियों ने समग्र पक्षधरता एवं मार्क्सवादी दृष्टि के साथ आकलित किया है। इस दृष्टि के विकास में *पहल, आलोचना, उत्तरार्ध, नयापथ, पश्यंती, ओर, कंक, वाम, कथन, आवेग, उत्तरगाथा, परिवेश* और *दस्तावेज* जैसी पत्रिकाओं की सर्जनात्मक भूमिका का योगदान उल्लेखनीय है। इन पत्रिकाओं की कोख को *धूमिल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, विजेन्द्र, लीलाधर जगूड़ी, चंद्रकान्त देवताले, कुमार विकल, ज्ञानेन्द्रपति, आलोकधन्वा, सोमदत्त, अक्षय उपाध्याय, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, गोरख पांडेय, उदय प्रकाश, ओम भारती, देवी प्रसाद मिश्र* तथा इधर के अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों ने अपनी कविताओं से उर्वर बनाया है। एक समय था जब युवा कवि *राजेश जोशी* ने लिखा था– *'तोड़ दो/तोड़ दो गुलामी की जंजीरें/तोड़ दो द्वार अँधेरी कारा का/मोड़ दो रुख समय की धारा का/रोशनी में बदलता पानी/और इस्पात की नसों में उठती दुनिया/समय है सर्वहारा का'*। उस दौर की *'मोचीराम', 'बलदेव खटिक'* तथा *'हरिजनगाथा'* जैसी कविताएँ आज भी सर्वहारा के अभेद्य स्वाभिमान का परिचय देती हैं। कविता में यह जनवादी उभार का वह दौर था, जब कवियों ने वर्गीय चेतना एवं शोषितों-दलितों के समाज में आते क्रांतिधर्मी बदलाव को गंभीरता से अनुभव किया और समाज में फैले अंतर्विरोध को उजागर करने के लिए *पटकथा(धूमिल) गोली दागो पोस्टर (आलोकधन्वा), नाटक जारी है (लीलाधर जगूड़ी), एक सामरिक चुप्पी (कुमार विकल), पोलियोग्रस्त बच्चे की सवारी (चंद्रकांत देवताले), हरिजनगाथा (नागार्जुन), बहेलिये (उदय प्रकाश), जनशक्ति (विजेन्द्र)* तथा *अपना बघवा (ज्ञानेन्द्रपति)* जैसी प्रखर कविताएँ लिखीं। इस दौर में भी कवियों का एक वर्ग समाज की समस्याओं, तत्कालीन धड़कनों से निरपेक्ष नाजुक सौंदर्यबोध की कविताओं में डूबा था। ऐसे कवि उस दौर में भी कविताओं में प्रेम, वासना और गैरिक

उदासीनताओं का पुनरावतरण कर रहे थे, जबकि समूचे विश्व-साहित्य में सामाजिक यथार्थ, तीसरी दुनिया के संकट, मानवाधिकारों के हनन तथा पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों की अभिव्यक्ति व्यापकता से जगह पा रही थी तथा कविता अपने लक्ष्य की दिशा तय कर चुकी थी। उसमें अन्याय और शोषण को खत्म कर देने तथा अपने वर्ग-शत्रु को समझ लेने और उसे चुनौती देने की शक्ति आ गयी थी। इस चुनौती को कविता ने कितना अन्जाम दिया, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह कोई सहृदय, कारुण्यबोध से सम्पन्न कवि ही कह सकता था कि, *'ये आँखें हैं तुम्हारी/या तकलीफ का उमड़ता हुआ समन्दर/इस दुनिया को जितनी जल्दी हो/बदल देना चाहिए।' (गोरख पाण्डेय)*। यह वह समय था जब अफ्रीकी कवि *डेविड डिओप* के स्वरों की तल्खी *लीलाधर जगूड़ी* की *'उदासी के खिलाफ'* जैसी कविताओं में उतर आयी थी और जिसका लक्ष्य एक मामूली चिड़िया को भी स्वाभिमानी बनाने पर तुल गया था। आज के दौर में लगभग भुला दिये गए कवि *मनमोहन* की *'गाँव का स्कूल'* शीर्षक कविता में महाजनी शोषण के दारुण अतीत का मार्मिक अवलोकन किया गया है– *'लड़के पढ़ाई करते हैं/ ब्याज के सवालों के जवाब लिखते हैं कि पन्द्रह वर्ष का बूढ़ा/जब पचास वर्ष का बूढ़ा होकर मरा/तो पचास रुपये का कर्ज और चक्रवृद्धि ब्याज लगाकर/कितना होकर सन्तान पर चढ़ा'*। *मनमोहन* की अन्य कविताओं *'शेष कुशल है', 'नेपथ्य', 'यही सँभालेंगे पतवार'* तथा *'मशालें'* आदि में उस भावबोध का विपुलता से समावेश हुआ है जो वर्गीय चेतना के बुनियादी आधार हैं। *मंगलेश डबराल* की कविताओं में भी *'अब भी जमीन हरी है', 'दरारों में पानी की छटपटाहट है', 'जंगल से लगातार एक दहाड़ आ रही है'* और *'दाँत पैने कर रही है पत्थरों पर'* जैसे प्रयोग दोहरी अर्थगर्भिता की ओर इशारा करते हैं।

यद्यपि इस दौर के कई कवि अतिक्रान्तिकारिता की रौ में आकर वाग्स्फीति का शिकार होने से नहीं बच पाये हैं जिनमें एक नाम *आलोकधन्वा* का भी है; तो भी *'गोली दागो पोस्टर'* एवं *'जनता का आदमी'* जैसी कविताएँ शोषित सर्वहारा के पक्ष में जारी ज्वलन्त घोषणा-पत्र हैं। लगभग ऐसा ही संकेत *चन्द्रकान्त देवताले* ने *'लकड़बग्घा हँस रहा है'* में यह कहते हुए दिया है कि *'देख रहा हूँ अब इस पठार पर/आहिस्ता-आहिस्ता बदलता जा रहा है/ मुट्ठियों का अर्थ.* '। यह सच्चाई है कि जहाँ अनेक शहरी कवि भाषा की चमक-दमक में खो कर कविता को पूँजीवादी व्यवस्था में मनोरंजन का सामान-भर बना सके, वहीं गाँव-देहात और कस्बाई वातावरण में पले-पुसे कवियों ने अपनी कविताओं में अपने समय की विषमताओं का तल्ख रेखांकन किया है। *कुमार विकल* की यह प्रतिज्ञा कवि-धर्म का सम्भवतः एक सटीक और ईमानदार उदाहरण है–*'मुझे लड़ना नहीं किसी प्रतीक के लिए/किसी नाम के लिए/किसी बड़े प्रोग्राम के लिए/मुझे लड़नी है एक छोटी सी लड़ाई/छोटे लोगों के लिए/छोटी बातों के लिए'* (एक छोटी सी लड़ाई)। कवियों ने इस तथ्य को शिद्दत से पहचाना है कि किसान-मजदूर तथा दलित जन अथवा *कुमार विकल* जिन छोटे लोगों की लड़ाई लड़ना चाहते हैं वे ही इस देश की शक्ति हैं तथा इन पर दमन के परिणाम भयंकर हो सकते हैं। इन्हें और दबाया तथा कुचला नहीं जा सकता– *'अब तक की हर हरियाली के हम/अन्तिम परिणाम हैं/हम जब जलेंगे*

तो धरती/दूर से ही काली दिखायी देगी/काली और उपजाऊ' (लीलाधर जगूड़ी, रात अब भी मौजूद है)।

हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि संकीर्णता और हिन्दू पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण के लिए आज की कविता में कोई जगह नहीं है। सदियों से थोपी वर्ण-व्यवस्था के विवशतापूर्ण स्वीकार का संकेत धर्मनिरपेक्ष कवियों ने बार-बार किया हैं–*'जब मुझे उस्तरे की धार पर मुसलमान बनाया गया/तब मैं सिर्फ चार बरस का था'(अब्दुल बिस्मिल्लाह)*। यही अनुभूति कमोवेश *केदारनाथ सिंह* की है जब वे *'एक सवाल अपने आप'* से करते हैं–*'मैं क्यों और किस तर्क से हिन्दू हूँ/क्या कभी जान पाऊँगा।' (यहाँ से देखो)* और अमीर-गरीब की खाई समाज में क्योंकर है, यह सवाल *ज्ञानेन्द्रपति* की एक कविता में एक लड़की को भी कचोटता है (*शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है*)। *रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, नागार्जुन* तथा *धूमिल* की अनेक कविताएँ अपने समय के इस विसंगत यथार्थ से टकराती हैं। भारतीय लोकतंत्र जिस आत्मघाती अंधेरे की तरफ बढ़ रहा है, उसे *उदय प्रकाश* की कविता ही 'आब्जर्व' कर सकती है–*'राज्य सत्ता अस्सी प्रतिशत लोगों की आँख में/बूट और बारूद की सत्ता है–राज्यसत्ता तिहाड़ की दीवाल है/भागलपुर की तेजाब है/अन्तुले की नैतिकता और जगन भाई का लोकतंत्र है' (अबूतर-कबूतर) उदय प्रकाश* की इन पंक्तियों में हम देखें तो कहीं न कहीं *'एक समूचा और सही वाक्य टूट कर बिखर जाने'* की *धूमिल* की पीड़ा दिखायी देती है। ऐसी कविताएँ निश्चय ही यथार्थ और व्यंग्य की विदग्धता से आलोकित उस काव्य-भूमि तक ले आती हैं जहाँ से अतीत और समकालीन अन्तर्विरोधों को खुले तौर पर देखा व महसूस किया जा सकता है। ये कवि अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता से जनहित को ओझल न होने देते हुए अनेक पार्थिव प्रश्नों से टकराते हुए मानवाधिकारों के लिए आगे आये हैं।

किसी भी काल की कविता तब कालजयी होती है जब उसमें अपने समय का अक्स मौजूद हो। समाज में हाहाकार हो और कविता में लालित्य तो इसे प्रकृतिसम्मत न कहा जायेगा। जिनके जीवन और साहित्य में लालित्य ही लालित्य है वे समय की चेतना को अपनी कविता के प्रामाणिक पाठ में नहीं बदल सकते। बीते कुछ वर्षों की ज्यादातर कविताएँ अपने हेतु' के प्रति सजग और सचेत रही हैं। यही कारण है कि साम्प्रदायिक उन्माद का जो चरम रूप दिसंबर ९२ में दिखायी पड़ा उसने हमारे समय के कवियों को गहराई से विचलित किया। 'अयोध्या' को केन्द्र में रख कर लिखी *कुँवर नारायण, नन्द चतुर्वेदी, भगवत रावत, लीलाधर जगूड़ी, कुबेर दत्त, नरेश सक्सेना, राजेश जोशी, कुमार अम्बुज, राजेन्द्र राजन, वंशी माहेश्वरी* तथा *विनोद दास* की कविताएँ साम्प्रदायिक उन्माद के विरुद्ध कवियों का मार्मिक आत्म निवेदन हैं। इस उन्माद के विरुद्ध *कुमार विकल, ज्ञानेन्द्रपति, वीरेन डंगवाल, देवीप्रसाद मिश्र, सत्यपाल सहगल, विजय कुमार* और *विनय दुबे* की कविताएँ अपनी-अपनी तरह से जिरह करती हैं। अयोध्या पर *कुबेरदत्त* की अन्तश्चेतना जहाँ *'एक दिन जला दी गयी/बाकर मियाँ की दूकान/जल गयी खड़ाऊँ तमाम/मंदिरों तक जिन्हें जाना था हे राम'* लिखते हुए परदुःखकातर हो उठती है, *कुँवर नारायण* का प्रभु से यह सविनय निवेदन कि

'लौट आओ विप्री पुराण—किसी धर्म ग्रंथ में/ सकुशल-सपत्नीक...../अबके वो जंगल नहीं/जिनमें घूमा करते थे वाल्मीकि' युगीन धर्मान्धता और समय की परवशता का ही एक कारुणिक अनुरोध प्रतीत होता है। कुमार अम्बुज ठीक ही लक्ष्य करते हैं कि *'धीरे-धीरे क्षमा भाव (किं क्षमा निर्मनस्विता) समाप्त हो जायेगा.../तब आएगी क्रूरता/पहले हृदय में आएगी और चेहरे पर न दीखेगी/फिर धर्मग्रंथों की व्याख्या में घटित होगी/फिर इतिहास में और फिर भविष्यवाणियों में/फिर वह जनता का आदर्श हो जाएगी।'*(क्रूरता) और राम के नाम पर, धर्म के नाम पर अयोध्या में हुए ध्वंस और नागरिक हत्याओं के गत सिलसिले को देखें तो चित्त म्लान हो उठता है, जहाँ कि *'केवल बच गयी हैं/दीवारों पर मृत लोगों की छायाएँ/उछलते-कूदते सत्ता-मृग/धर्म की ध्वजा थामे/उन्मादग्रस्त राजनेता, संन्यासी/ स्वार्थ की लम्बी थैलियों में हाथ डाले/तुम्हारे नाम की माला जपते/म्लानचित्त व्यापारी' (नन्द चतुर्वेदी, यह ऐसा समय है)*। यह ऐसा समय था कि *'सब कुछ राममय था उन दिनों/राम पताकाएं फहरा रही थीं चारो ओर/पीटे जा रहे थे रामवाद्य/रामज्वाला उठ रही थी रामाकाश में/रामबलि दी जा रही थी रामयज्ञ में/बह रहा था रामरक्त/एक राममय समय में'*(राजेन्द्र राजन)। यह वह समय था जब भगवत रावत के खुश होने के लिए यह कोई कम बात नहीं थी कि वे मुसलमान नहीं हैं, और राजेश जोशी को कहना पड़ा—*'मैं हिन्दू हूँ और शर्मिन्दा हूँ/मैं हिन्दू था और शर्मिन्दा था'*। कुछ कला-चातुरी के साथ ही सही, जगूड़ी की इच्छा भी अन्ततः अपने मनुष्य को बचाने की ही रही है—

> *'इस गुण्डा समय में/न मैं मंदिर में रहना चाहता हूँ न मस्जिद में/मैं एक रहने योग्य घर में रहते हुए/कहने योग्य बात कहना चाहता हूँ/कि मैं धार्मिक नहीं मार्मिक सम्बन्ध हूँ/मैं मनुष्य हूँ/आदमी हूँ/व्यक्ति हूँ/नागरिक हूँ' (अनुभव के आकाश में चाँद)*।

यह वह दौर था जब *कुमार विकल, सत्यपाल सहगल, विजय कुमार, वीरेन डंगवाल, वंशी माहेश्वरी तथा अरुण कमल* जैसे कवियों की कविताओं में पंजाब, बंबई, अयोध्या, सहारनपुर तथा देश के अन्य भूभाग में फैलाये गये दंगों की मर्माहत चीख गूँज रही थी। साम्प्रदायिकता के रंगों से रंगे जाते अपने समय के इतिहास को इन कवियों ने अपनी चेतना में शिद्दत से महसूस किया तथा अपने शब्दों की गरमाई से उस पर मलहम लगाया है। यह मात्र संयोग नहीं है कि अयोध्या-त्रासदी पर अनेक समकालीन कवि एक-सा दुःखकातर, और समयविद्ध दीख पड़ते हैं बल्कि यह एक ऐसी उद्वेलित कर देने वाली चेतना है जिसका प्रभाव आज की कविता में समान रूप से न्यस्त दीखता है।

पिछले दिनों एक आलोचक ने कविता के संकट पर अपना मत-विश्लेषण रखते हुए पाया है कि आज की कविता अपने पाठक खो रही है, क्योंकि उसमें बौद्धिक एकाकीपन बहुत है, उसे न किसी की मर्माहत कातर पुकार सुनाई देती है और न किसी की दहशत पैदा करने वाली दहाड़। दूसरा कारण यह कि वह दिलचस्प नहीं रही। तीसरी वजह यह कि हिंदी कविता में इधर नागर कविता का बोल-बाला बढ़ा है जो कि शहराती और चालाक है तथा इस कारण कविता से सहजता, ऐन्द्रिकता और भावावेग की विदाई हो गयी है। वे अन्ततः इस निष्कर्ष पर

पहुँचे हैं कि आज की अधिकांश नागर कविता एक गढ़ी हुई साहित्यिक हिंदी में लिखी जा रही है। वह जीवन के कर्म और अनुभव की भाषा नहीं है। उन्होंने आज की महत्वपूर्ण कविता के स्वभाव में आती हुई संस्कृतनिष्ठता और दूसरी तरफ लोकसंस्कृति की परम्परा के नये संस्कार के समावेशन की ओर संकेत करते हुए अन्ततः यही माना है कि संस्कृत में अपनी जड़ों की खोज करने वाले कवि से लोक भाषाओं की रचनाशीलता में अपनी जड़ें फैलाने वाले कवि की सामाजिक चेतना अधिक व्यापक और लोकधर्मी होगी। *(डॉ० मैनेजर पाण्डेय, साखी : अंक ६,७)*। यदि हम *डॉ० मैनेजर पाण्डेय* के उक्त निष्कर्षों पर गौर करें तो जहाँ तक कविता में शहराती बोध या नागर बोध की बात है, तो यह *ज्ञानेन्द्रपति* के उस कथन की ही पुनरभिव्यक्ति अथवा सम्पुष्टि है जो उन्होंने *रघुवीर सहाय* एवं उन्हें अपना कवि-माडल मानने वाले कवियों के बारे में 'पहल' में दिये अपने साक्षात्कार में कही थी तथा ऐसे कवियों को उन्होंने 'ऐन्द्रिय अवलोकन क्षमता' के स्तर पर 'क्षीण-बल' तथा 'ग्रामगन्धरहित' माना था। जहाँ तक कविता में संस्कृतनिष्ठता के उभार का सवाल है, डॉ० पाण्डेय को इसके कुछ उदाहरण देने चाहिए थे ताकि वस्तुनिष्ठ होकर विचार किये जाने की गुंजाइश होती। किंतु जहाँ उन्होंने उन कवियों को महत्व देना चाहा है जो कि लोकभाषाओं की रचनाशीलता में अपनी जड़ें फैलाये हुए हैं, इसे इतने सरलीकृत ढंग से 'मानक' करार देने से भी कविता में एकरसता का ही पुनर्भव होगा, जैसा कि पिछले दिनों लोकसंस्कृति, लोकभाषा और लोक परम्परा को बहुत उथले स्तर पर ग्रहण करने वाले चन्द-एक नये कवियों ने कर दिखाया है। कविता की निर्मिति के लिए हम कवि को कोई साँचा बनाकर नहीं दे सकते। उसमें जीवनानुभवों की सम्पन्नता एवं जीवनावलोकनों की क्षमता होनी चाहिए किंतु कवि अपनी कविता, अपने प्रेक्षणों को किन उपादानों, अनुभवों, बिम्बों, प्रतीकों तथा भाषिक प्रत्ययों से रचना चाहता है, वह हर कवि का अपना मौलिक तरीका है; वह किसी और की हमशक्ल नहीं हो सकती, होनी भी नहीं चाहिए, क्योंकि यदि लोकसंस्कृति के प्रत्ययों से ही कविता रचने की अपेक्षा हम सभी कवियों से करेंगे तो एक से अधिक *बद्रीनारायणों, निलय उपाध्यायों* तथा *एकांत श्रीवास्तवों* की मौजूदगी और उनकी-सी ही कविताओं की एकरसता हम बर्दाश्त न कर सकेंगे। और तब वही होगा जैसा कि *रघुवीर सहाय* और *केदारनाथ सिंह* की कविताओं को अपना अनुकरणीय माडल मानने वाले कवियों के बारे में कहा जाता है। आज स्थिति यह है कि कविता में ऐसे बहुतेरे विषयों, प्रतीकों, बिम्बों का बाहुल्य मिलता है जिन्हें अपने समय के श्रेष्ठ कवि बरत चुके होते हैं। 'स्त्री' पर एकाधिक कवियों की श्रेष्ठ एवं चर्चित कविताओं के बाद इस विषय पर जोर-आजमाइश करने वाले कवियों की भीड़ लग गयी, जैसे कि- 'स्त्री' पर कविता लिखना ही अपने समय का अचूक कवि-धर्म हो। इस तरह से कविता में जो रुढ़िबद्धता आती है—कविता को उससे ज्यादा खतरा होता है। इसलिए लोकसंस्कृति, परम्परा आदि को हमें कविता में 'रुढ़ि' नहीं बनने देना चाहिए। जिन कवियों की स्वाभाविक गति 'लोक' में हो, उन्हीं से हम बेहतर सांस्कृतिक, ग्रामगन्ध वाली कविताओं की उम्मीद कर सकते हैं। आज 'संस्कृतनिष्ठता' के निर्वाह की भी अपेक्षा हम *आलोक धन्वा, मंगलेश डबराल, विजेंद्र, राजेश जोशी* जैसे कवियों

से नहीं करते, क्योंकि उनकी कविता का ऐसा स्वभाव ही नहीं है, किन्तु *ज्ञानेन्द्रपति, लीलाधर जगूड़ी* या *देवीप्रसाद मिश्र* से हम ऐसी भाषिक संस्कृतनिष्ठता की अपेक्षाएँ रख सकते हैं, जिनके यहाँ संस्कृत हिन्दी (संस्कृत नहीं) के प्रयोग और उसके नूतन आविष्कार की कोशिशें उत्कट अवस्था में पायी जाती हैं। बल्कि मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि इन कवियों के रचनालोक में केवल 'संस्कृतनिष्ठता' ही नहीं 'संस्कृतिनिष्ठता' भी प्रचुरता से मौजूद है जो इनकी कविता के स्थापत्य को जीवंत बनाती है। कहने का तात्पर्य यही कि हिन्दी कविता को प्राणवान बनाने में सभी तरह के कवियों का योगदान रहा है। ऐसे कवियों के विभिन्न रूप-रस-गंध-रंगतों वाली कविताओं से ही आज की हिन्दी कविता का एक स्वरूप बनता है। हमें वैविध्य-बहुलता की इन तमाम कोशिशों को नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए।

लोक संस्कृति और परंपरा की कविता लिखने के लिए बहुख्यात *बद्रीनारायण* की इधर दो वर्षों के दौरान लिखी गयी कविताओं पर गौर करें तो लगता है यह कवि एकमात्र कविता 'प्रेमपत्र' लिखकर ही चुक गया है, बेशक उनकी कविताओं में बतर्ज 'आइस-पाइस' चंद लोकोन्मुख शब्दों या कि लोकगाथाओं के काव्यात्मक उद्धरण मौजूद हों किन्तु उनके भीतर के काव्यत्व का घड़ा असमय ही खाली हो गया लगता है। पाठक इधर कुछ वर्षों के दौरान छपी उनकी कविताओं का अध्ययन करें तो तय न कर पाएँगे कि *'रावण का गीत', 'सपने में काली गाय'* तथा *'विदाई'* (इंडिया टुडे, ९५), *'संशय के दौर में', 'न भूलने के लिए'* (समकालीन भारतीय साहित्य–६३), *'सभ्यता के आईने में बाघ', 'हारे हुए घोड़े की विरुदावली', 'मेखला के लिए' (वसुधा–२९-३०), 'वक्तव्य'* तथा *'शब्द पदीयम'* (वसुधा, अक्तू.'९६) में ऐसा क्या है जो कि स्मृति के धारण करने योग्य है। रही बात 'ताकीद' शीर्षक कविता में कवि का इस निष्कर्ष पर पहुंचना कि 'पृथ्वी की सारी नदियां औरतों के रोने से बनी हैं' तो इसका अर्थ तो यही निकलता है कि जैसे स्त्रियाँ केवल रोने-धोने के लिए ही बनी हों। क्या यह पुरुष कवियों का पुरुषसत्तात्मक रवैया नहीं कहा जाएगा जो स्त्रियों के बारे में एक रूढ़िबद्ध ढंग से सोचने का अभ्यस्त हो गया है। *इंडिया टुडे,'९६* में प्रकाशित *बद्रीनारायण* की ही अत्यंत प्रभाहीन कविताओं में से एक *'वह कविता'* में जब वे 'गदेले' के साथ 'शिशु' को भी नत्थी कर देते हैं तो लगता है या तो कवि पाठकों को मतिमंद समझता है या 'गदेले' कह कर अलभ्य लोक शब्दों के आविष्कार का सुख हथियाना चाहता है–और निष्कर्षतः यह कहने में संकोच नहीं कि *बद्रीनारायण* के खुद के गद्य-लेखन के आगे उनकी कविताओं का प्रभामंडल अत्यन्त क्षीण तथा अपने ही समकालीन युवा कवियों से काफी पिछड़ा है। जबकि *एकांत श्रीवास्तव, निलय उपध्याय* व *देवीप्रसाद मिश्र* की ही अनेक कविताएं लोकसंस्कृति का घटाटोप ओढ़े बगैर लोकानुभवों का एक विरल तथा मौलिक संसार रचती हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि *वसुधा* द्वारा प्रायोजित 'कविता इन दिनों' विषयक बातचीत में *देवीप्रसाद मिश्र* ने आलोचना में जिस 'मीडियाक्रिटी' की बात उठायी थी उसे उन्होंने अपने ही बीच के *बद्रीनारायण* जैसे अनेक असमर्थ कवियों–जिसमें *भारत भूषण अग्रवाल* पुरस्कार पाये भी एकाधिक कवि यानी पुरस्कृत ब्रांड के कवि–शामिल हैं–पर लागू कर नहीं देखा। इसके उलट *बद्रीनारायण* के आत्मपीड़ित

वक्तव्य में अलबत्ता इस शिकायत की प्रतिध्वनि जरूर मिलती है कि 'हम कवि आपस में एक दूसरे पर नहीं लिख रहे हैं' (जैसे लिखने भर से ही कवियों के स्टेटस में कोई महान तब्दीली आ जाने वाली हो)। आलोचक *कमलाप्रसाद* ने भले ही पीठ पर हाथ रख कर यह कहा हो कि 'दादुर घन चहुँ ओर सुहाई' वाले जमाने में *देवीप्रसाद मिश्र, बद्रीनारायण, कुमार अम्बुज* या *संजय चतुर्वेदी* रेखांकित हुए हैं चाहे भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार के बहाने हों या अन्य माध्यमों से।' किन्तु कवि तो वही है न ! जो रचना के बल पर रेखांकित हो, अन्य माध्यमों या बहानों से नहीं। शायद *कमला प्रसाद जी* की बात में ही यह सच्चाई भी छिपी है जो कि कहीं-न-कहीं *बद्रीनारायण* की कविताओं पर भी लागू होती है।

जहाँ लोकधर्मी कवि होने का विरुद लिये तथा कविता-चर्चा में ढेर सारी जगह छेके *बद्रीनारायण* की यह दशा है, वहीं *एकांत श्रीवास्तव* तथा *निलय उपाध्याय* की कविताएँ सिर्फ लोकशब्दों का उपस्थापन भर नहीं हैं बल्कि मार्मिक अर्थ-छवियों का सघन उद्घाटन हैं। *एकान्त श्रीवास्तव* की *'अनाम चिड़िया के नाम', 'नागरिक व्यथा', 'बीज से फूल तक', 'दुनिया के हाट में', 'सुनो कि यह हँसिए का स्वर है', 'बीज थी हमारी इच्छाएँ', 'धरती के दुख सुख में'* तथा *'इस संसार की जलवायु में'* और *निलय उपाध्याय* की *'वापस आ जाओ', 'उनका डर', 'यह छोटी सी खुशी', 'आहटें' तथा 'सबक'* शीर्षक कविताओं में केवल लोक-जीवन का सातत्य ही निहित नहीं है बल्कि एक गहरी संस्कृतिनिष्ठता और मौलिक काव्यानुभूति भी न्यस्त है जो कि उनकी कविताओं को प्राणवान बनाती हैं। कविता जैसी कलात्मक विधा में 'संस्कृतनिष्ठता' को दुर्गुण मान लेना *मैनेजर पाण्डेय* की निजी पसंद हो सकती है, सार्वजनिक मानक नहीं, क्योंकि संस्कृतनिष्ठता की ज़मीन पर ही आज के दो बड़े कवियों *निराला* और *मुक्तिबोध* की कविता का स्थापत्य खड़ा है—और फिर संविधान में सामासिक संस्कृत का प्रतिनिधित्व करने वाले हिन्दी के शब्द-कोश को भी मूलत: संस्कृत तथा गौणत: अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों से ही संवलित-संवर्धित बनाने की बात कही गयी है। यहाँ यह भी कहने की जरूरत है कि ऐसा नहीं कि संस्कृतनिष्ठता में आस्था रखने वाले कवियों में अनिवार्य रूप से लोकजीवन की छवियों का अभाव हो बल्कि *ज्ञानेन्द्रपति* की कविताओं में तो लोकजीवन की अनेकानेक छवियां स्वभावत: और शुरू से ही मौजूद हैं। उनकी *मृत्युञ्जयी, उस दिन, श्रमजीवी एक्सप्रेस, एक कर्णप्रिय कीर्तिकथा* और हाल ही छपी *खेवली तक सड़क नहीं आती* कविताओं की रचना-भूमि वह लोक ही है जो कभी चरित्र बन कविताओं में आता है, कभी कोई घटना, कोई मुद्दा या कभी मानवेतर प्राणियों की जीवन-वेदना बन। *'एक कर्णप्रिय कीर्तिकथा'* लोक में विचर रहे एक ऐसे खुंटकढ़े का चित्रण है जो कि शायद पहली बार हिन्दी कविता का किरदार बना है। खुंटकढ़े की चपल, चंचल, कथात्मक बतकही (कीर्तिकथा कहना तो शायद उस अकिंचन को कुछ अधिक ही गौरव दे देना है) में कविता का आस्वाद हृदयग्राही हो उठा है। हमारे ही बीच के लोकचरितों को उठाने की *ज्ञानेन्द्रपति* की कोशिश क्या लोक-परम्परा की जड़ों से कटी हुई लगती है ?—शायद नहीं, और फिर हर कविता 'संस्कृतनिष्ठता' के रसायन से ही रची गयी हो—*ज्ञानेन्द्रपति* के यहाँ ऐसा कोई तय मानक रचनाशीलता के आड़े नहीं

आता। तथापि *ज्ञानेन्द्रपति* की कविता का शब्दकोश अपने समकालीनों से अपेक्षाकृत बृहत्तर है।

इधर *उत्तर आधुनिकतावाद* की जो हवा चली है, उसने अनेक बुद्धिजीवियों को अपने प्रभाव में लिया है। इस चिंतन के चलते ही *मार्क्सवाद* को अप्रासंगिक मान लेने वाले बौद्धिकों ने ही 'मार्क्सवाद की प्रासंगिकता' का सवाल इस तरह उठाना शुरू कियां है कि जैसे अब 'मार्क्सवाद' की जरूरत ही नहीं रही। हिन्दी कवियों ने इसका तीखा प्रत्याख्यान किया है। यह सच है कि आज जहाँ विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के जरिये अमरीकी पूँजीवाद का शिकंजा गरीब देशों पर कसता जा रहा है, वहीं इस खेल को 'भूमण्डलीकरण' का नाम देकर विकासशील देशों को भू-बाजार में बदलने की कार्रवाइयाँ भी जारी हैं। हमारे देश के शासन द्वारा ही आर्थिक उदारतावाद के नाम पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों को जिस तरह न्योता जा रहा है, जिस तरह मल्टी चैनल्स का भारत में प्रवेश हुआ है, विदेशी अखबार जिस तरह देश के सूचना फलक पर छा जाने को आतुर हैं, अप-संस्कृति, अप-साहित्य, अप-उपभोक्तावाद का जिस तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा है, गांधी का नाम रटने वाली सरकारों द्वारा ही देशी उद्योगों/उद्यमों को मरणोन्मुख बनाते हुए जिस तरह उनके 'स्वदेशी' चिंतन की धज्जियाँ उड़ायी जा रही हैं, गैट समझौते के बाद जिस तरह तीसरी दुनिया के देशों का 'रीकालोनाइजेशन' किया जा रहा है, वह भारत के गुलामीकरण का दूसरा दौर है। क्या इन वास्तविकताओं की प्रतिच्छाया आज की कविता में है, यह देखने की जरूरत इस बात से कहीं ज्यादा है कि वह कितना कलावादी या कि कलाचेतन है।

आज के मल्टीनेशनल्स के दौर में जहाँ उपभोक्तावाद, विज्ञापनवाद अपनी चरम स्वीकृति की ओर बढ़ रहा है, जन-रुचियों को जहाँ केंद्रीकृत ढंग से संचालित-संवर्द्धित और प्रक्षेपित किया जा रहा है, ऐसी स्थिति में कवियों के समक्ष एक बड़ा दायित्व आ जाता है। वह महज कुछ लोकानुरंजनी कविताएँ लिखकर ही अपने कर्त्तव्य से मुक्त नहीं होता बल्कि ऐसे दौर में ही उसे अपनी रचना की और खुद की भी प्रासंगिकता, प्रयोजनीयता और प्रामाणिकता सिद्ध करनी होती है। आज के संकटापन्न दौर में लिख रहे *विजेन्द्र, लीलाधर जगूड़ी, चंद्रकान्त देवताले, कुमार विकल, ज्ञानेन्द्रपति, आलोकधन्वा, विष्णु खरे, अरुण कमल, नरेन्द्र जैन, कुबेर दत्त, वीरेन डंगवाल, देवीप्रसाद मिश्र, ओम भारती, कुमार अम्बुज, अनिल गंगल, संजय चतुर्वेदी, बोधिसत्व* तथा *विनोद दास* की कविताओं ने नयी अर्थव्यवस्था, बाजार होते देश, नष्ट होते मानव-मूल्यों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भयावह प्रसार-विस्तार को अपने लेखन का विषय बनाया है, जिनकी कविताएँ अपनी सामाजिक प्रतिबद्धताओं के साथ विश्व स्तर पर प्रभावी होते पूँजीतंत्र के मध्य देश की हलचलग्रस्त आर्थिक स्थितियों, बहुविज्ञापित उदारीकरण के फलस्वरूप हाट-बाजार में तब्दील होते विकासशील देशों के कथित वर्तमान और आर्थिक-सांस्कृतिक परतंत्रता की ओर उन्मुख भावी समय और समाज का तीखा जायजा लेती हैं। *विजेन्द्र* की– *'ऋतु का पहला फूल'* की कविताओं से गुजरते हुए देश की अन्त:स्थितियों का जायजा मिलता है। कवि अपने को *'ऋतु का पहला फूल'* सौंपते हुए कहीं न कहीं संसार की सुन्दर वस्तुओं को काल-प्रहार से बचाने की विनम्र ख्वाहिश रखता है। *'बैनी बाबू'* के जरिए

वह दुनिया में फैले निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति के दुख की थाह लेता है तथा अंत में *'यमुना के गँदले नीर'* को निहारते हुए वह इस सदी के आखिरी वर्षों के वर्तमान और आगत भवितव्य का, पूँजीपतियों को संपन्न बनाती और डालर की ताकत से गरीब देशों को धमकाती अर्थनीति का तल्ख रेखांकन भी करता है-

> *'खत्म करो डालर से/जो भौंकते हैं/जो करते तरफदारी बुनकरों की/उड़ाया जा रहा गोलियों से उन्हें/पल रहे हैं साँड़ इस अर्थनीति में/मैं लिए दो गाँठ हल्दी की/घूमता शेयर बाजार में'* (ऋतु का पहला फूल)।

उनकी कविताओं के घरेलू विषय-बोध में भी अभावों की एक विपन्न दुनिया है तथा अनुभवों की सादगी; जहाँ कविता की मुहावरेदार छौंक भले ही न मिले—अनुभव की प्रामाणिक चेतना प्राण तत्व की तरह मौजूद है। आज के संदर्भ को *विजेंद्र* से भी अधिक सीधे—धारदार तथा केंद्रीकृत ढंग से उठाने वाले *ज्ञानेन्द्रपति* की *'दिनान्त पर आलू', 'बीज-व्यथा', 'शीत युद्ध की समाप्ति पर'* तथा *'लुप्त होती प्रजातियों के अंतिम वंशधर'; लीलाधर जगूड़ी* की *'अंतर्राष्ट्रीय बाजार', 'आर्थिक मामले', 'यह भी एक युग है', 'मेरी प्रजाति की नग्नता'* तथा *'तुम रोबो नहीं हो'; ओम भारती* की *'पूँजी के वजन से टेढ़ी हुई धुरी', 'विकट है रात धन बल की'* तथा *'सनसनाता आता है झूठ-सच'; नरेन्द्र जैन* की *'हाट में भारत'; कुबेर दत्त* की *'रथयात्रा का पहला पड़ाव'* तथा *'विचारों के लारवा'* जैसी कविताओं में आज के समय की एक प्रामाणिक उपस्थिति महसूस की जा सकती है। *ज्ञानेन्द्रपति* जैसा जागरूक कवि आज यदि एक तरफ धर्मान्धता पर चोट करने वाली *'उस दिन' (गणेश के कथित दुग्धपान को लेकर), प्लेग से मर रही जनता पर 'मृत्युंजयी'* व *'धरती से लुप्त होती प्रजातियों'* पर चिंताकुल कविताएँ लिख रहा है तो वह डंकल समझौते के फलस्वरूप तीसरी दुनिया के बीजों/पौधों को ही पेटेंट कराकर विदेशी कंपनियों द्वारा उन्हें उनके अपने ही बीजों/पौधों के इस्तेमाल से वंचित करने की घातक पूँजीवादी नीति पर भी लगातार सक्रिय तौर पर प्रहाररत है। चाहे जैविक सम्पदा के नष्ट होने की बात हो अथवा उदारीकरण तथा भूमण्डलीकरण के नाम पर देश को सांस्कृतिक तौर पर पुन: गुलाम बनाने की कोशिश, लालच की दमन चक्की में पिसता बचपन हो या मानवाधिकारों की बहाली—*ज्ञानेन्द्रपति* की कविताएँ अपने चारो तरफ के घटनावृत्त पर चौकस और चौकन्नी निगाह रखती हैं। *ज्ञानेन्द्रपति* का काव्यात्मक फलक एक बड़े भारतीय कवि का काव्यात्मक चिंता का फलक है।

इसी तरह *कुंवरनारायण, विजेन्द्र, लीलाधर जगूड़ी, कुमार विकल, विनोद कुमार शुक्ल, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, नरेन्द्र जैन, विष्णु खरे* तथा *हेमंत शेष* कविता के विराट और अछोर आकाश को अपनी-अपनी रंगतों से भर देने वाले बड़े फलक के कवि हैं, जिनमें युगबोध की अनुगूँज सुनी जा सकती है। कविता में इन कवियों ने निरंतर उस जीवन-यथार्थ की खोज की है जिसके निहितार्थ हमें कई स्तरों पर चकित, विस्मित, द्रवित तथा उल्लसित करते हैं। *कुंवरनारायण* की कविता पर, उन्हें मिले अनेक पुरस्कारों के बावजूद बहुत कम अध्ययन-विश्लेषण सामने आया है। संभवत: अभी तक *रमेशचंद्र शाह* ने ही उनके

कवित्व को गहराई से विश्लेषित करने का यत्न किया है। गहरी परिपक्वता तथा संवेदना-शक्ति से रची *कुंवरनारायण* की कविताओं में जीवन की, नियति की, मनुष्य की ठोस सच्चाइयाँ पैबस्त हैं। *'बदलते पोस्टर'* के विज्ञापनों की हकीकत हो या *'शिकायत'* के बहाने कुछ उम्दा नसीहतें–*कुंवरनारायण* हर मुद्दे को सहज ही काव्यानुभवों में अंतरित कर लेने में कुशल हैं। *विजेन्द्र* की कविताओं में भी अनुभूति का एक अशान्त क्षितिज फैला है जिसमें *'अन्न भरी फसल'* की आहट तथा *'वसंत के उतार की छटपटाहट'* मौजूद है। वह देखता है–पड़ रही *'नींव बहुराष्ट्रीय कंपनियों की'*, *'दग्ध धरती'* तथा पूछना चाहता है, *'धरती की सबसे सुन्दर रचना को/नष्ट करने वाले लोग कौन हैं, कौन हैं।'* *विजेन्द्र* की कविताएँ देश-दुनिया के फलक पर रोज-ब-रोज घटने वाली घटनाओं का मार्मिक जायजा लेती हैं। कवि *'जाती हुई सदी'* को *'गंगा की तरह शान्त'*, *'मंथर'* तथा *'अंदर से क्षुब्ध'* और आहत पाता है। वह इस सदी की भयावहता को पहचानता है फिर भी उसकी आशा लुप्त नहीं होती। भाषिक संरचना और वृत्तान्त-बहुल कविता के धनी *विजेंद्र* चीजों, वस्तुओं और पदार्थों का विस्तार से अन्वय करते हैं। *'अरावली'* की इन पंक्तियों में एक बड़े कवि की प्रतिबद्धता झलकती है– *'मेरी सबसे बड़ी पराजय है/अगर भाषा को दरबारी गलियारों से/मुक्त न करा पाऊँ/तेज तर्रार जुबान बोलकर भी/अगर मेरी रीढ़ झुकी है/तो यह मेरी आत्मा का क्षरण है'* (ऋतु का पहला फूल)।

आज जो पूँजी-आमंत्रण का दौर देश में चल रहा है वह देश के भविष्य को दाँव पर लगा कर थोड़े दिनों के भौतिक सुख जुटाने का उपक्रम भर है। *मुक्तिबोध* ने बहिरागत पूँजी-तंत्र की आहट बहुत पहले ही भाँप ली थी– *'साम्राज्यवादियों के पैसों की संस्कृति/भारतीय आकृति में बँधकर/दिल्ली को वाशिंगटन व लंदन का उपनगर बनाने पर तुली है/भारतीय धनतंत्री जनतंत्री बुद्धिवादी/स्वेच्छा से उसी का ही कुली है'* (मुक्तिबोध रचनावली)। कितनी बिडम्बना है कि जिस पूँजीवादी-बाजारवादी तंत्र के प्रति भारतीयों के पिछलगूपन को *मुक्तिबोध* ने अपने समय में आलोचना का विषय बनाया, वही दौर आज फिर लौट आया है। गैट समझौते के फलस्वरूप देश की जैविक संपदा पर पेटेंटीकरण के जरिए एकाधिकार जमाने की बहुराष्ट्रीय कंपनियों की कोशिशें लगातार जारी हैं, जिनके विरोध में *'जीन कैम्पेन'* जैसी संस्थाएँ खड़ी हैं तथा किसानों में डंकल प्रस्तावों के खिलाफ प्रतिरोध की चेतना भरने की दिशा में अग्रसर हैं। अध्ययन से यह बात उभर कर सामने आयी है कि डंकल प्रस्ताव की कोशिश है कि बीजों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का एकाधिकार कायम हो, उनके द्वारा अनुमोदित बीज ही दुनिया भर में बोये जाएँ जिससे कि बीज की भारी कीमत के साथ-साथ फसल के लाभ भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मिलें। यही स्थिति भारतीय दवा उद्योग की है जिसके विरुद्ध डंकल प्रस्तावों पर सहमति के जरिये बहुराष्ट्रीय दवा कंपनियों की साजिश भारतीय दवा बाजार को पूरी तरह हथियाने तथा दवाओं के ऊँचे दाम रखकर यहाँ की गरीब जनता को इलाज के लिए मोहताज बना देने की है। *ज्ञानेन्द्रपति* ने *'बीज-व्यथा'* (समझ अंक-७) में तितलियों की तरह ही मार दिये गये भारत भूमि के अन्नमय कोश के मधुमय प्राण–अनन्य अन्नों के एकल बीजों के स्थान पर भारत के खेतों पर छा जाने वाले पुष्ट-दुष्ट संकर बीजों की सन्निकट त्रासदी

को गहरी मार्मिकता से अंकित किया है। *'धुएँ के पेड़ की तरह उगी है'* शीर्षक उनकी एक अन्य कविता भारत-भू पर धूमधाम से कदम बढ़ाती बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन का महज रेखाचित्र भर नहीं बल्कि एक कवि-चेतावनी भी है–

> *'गंगा पार, पेड़ों की पीठ-पीछे खड़ी धुआँ उगलती वह चिमनी/साम्राजी पूँजीवाद के दैत्य-मुँह में दबा हुआ चुरुट है/अप-टू-डेट, जो उतरा है, बदले भेष, माया वस्त्र पहने/इंदिरा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे पर बिछी लाल कालीन पर ठाठ से चलता/बिछी लाल कालीन–जो हरे खेत हैं भारत-भू के/ फेफड़े हैं भारतीय जनों के/जीवन-भविष्य भारतीय शिशुओं का'* (जनसत्ता, सबरंग साहित्यांक-९६)।

लीलाधर जगूड़ी ने आज की आणविक सभ्यता के दौर में तीसरी दुनिया के मनुष्य की नियति को यों रेखांकित्त किया है– *'रसायनों से उठती है युद्ध की खाज/इतना परिष्कृत हो गया है युद्ध कि वह एक बटन है/जिसका कहीं कोई काज नहीं'* (भय भी शक्ति देता है)। और अमेरिकी पूँजीवाद पर कवि की टिप्पणी कितनी निर्भीक है–

> *'लो अमेरिका ने तुम्हारे लिए एक अंतरिक्ष रोटी बनाई है/इसे खाओ वरना बाजार में/तुम्हारी हड्डियाँ दोयम दर्जे की गिनी जाएँगी/पैदा चाहे तुम कहीं भी होओ/बिकना तो तुम्हें अमेरिका में ही है'*(भय भी शक्ति देता है)।

हाल में कुछ बहुत अच्छी, और प्रासंगिक मुद्दों पर, कविता लिखकर चर्चा में आये *ओम भारती* की चेतना में चाहे बहुत अच्छी प्रेम कविताएँ लिखने की चाहत और हिम्मत मौजूद हो, किन्तु पूँजीवाद के विरोध पर खड़ी *'इस तरह गाती है जुलाई'* शीर्षक कविता-कृति का दूसरा खंड *'पूँजी के वजन से टेढ़ी हुई धुंरी'* इलेक्ट्रानिक मीडिया से उतरती बहिरागत अप-संस्कृति, उपभोक्ता समाजों में बदलते हुए देश, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का खुली बाँहों स्वागत करती सत्ता तथा उदारतावाद के पलक-पाँवड़े बिछाये भारत भूमि पर आर्थिक औपनिवेशीकरण के फैलते संजाल पर बेबाक राय जाहिर करती कविताओं का खंड है जो कवि के समय-सजग होने का परिचायक है। आज जब लेखकों/बौद्धिकों के समक्ष ढेर सारे पूँजीवादी प्रलोभन उनकी प्रतिबद्धताओं को बदल देने पर आमादा हैं तथा ऐसे प्रलोभनों की ओर बहुतेरे कलम के सिपाही झुक भी रहे हैं तथा जहाँ कुछ लोग ऐसे हैं कि वे एक तरफ *'कामरेड'* होने का *'पुण्य'* तथा दूसरी ओर पूँजीवादी विचारों को भूमिगत रूप से *'प्रमोट'* करने का प्रतिफल भी कमा रहे हैं, *ओम भारती* की कविता इस *'गझिन गहरे ग्लोबल अँधेरे के दौर'* को पहचानती हुई यह आह्वान करने का सच्चा साहस जुटा पाती है कि– *'कहाँ हो कवि मित्रो, निकल आओ घरों से/सामना करना होगा समय का साहस से/पूँजी झूठ के विराट अत्याचार बीच/अपने ही शिविर में मार डाला जाएगा/वंचितों का स्वप्न, जरा-सी चूक से।'* नरेन्द्र जैन ने भी इस दौर के संकट को पहचाना है। *'हाट में भारत'* कविता की उनकी पंक्तियाँ हैं– *'अब वे रोटी से कमायेंगे/बेहिसाब पैसा/मुझे भूख लगेगी और/अन्तरराष्ट्रीय हाट में पोलीथिन में लिपटी*

रोटियाँ रखी होंगी।' (उदाहरण के लिए)। *'पैसे के दाँत'* शीर्षक कविता में *संजय चतुर्वेदी* ने गरीबों के हालात का तीखा जायजा लिया है– *'जो सोते हैं बिना चादर, बिना खाए फुटपाथ पर लाखों/जिन पर गिरती है बिजली, बर्फ और बेशुमार अमीरी/जिन पर गिरता है बारह माह का आदमखोर जाड़ा/जो मारे गये वियतनाम कम्बोडिया में/जो मारे जा रहे हैं/एलसल्वाडोर निकारागुआ में/वे नहीं होंगे बर्कले के प्रोफेसर/वे आए थे/वे आते हैं/एलबामा, जार्जिया या डाउनटाउन गरीबी से'*(प्रकाश वर्ष)। डालर की ताकत का अंदाजा *मदन कश्यप* की कविता *'डालर'* को भी है। *मदन कश्यप 'डालर'* के निहितार्थ को अप्रकट-सा रखते हुए पूछते हैं– *'ब्राजील के लोग डालर से इतना डरते क्यों हैं/क्या डालर इराकियों के पास भी है/लीबिया का मोल कितने डालर है/क्या भाव खुला है बोरिस येल्तसिन का/जार्ज बुश के ठहाके कितने डालर के होते हैं?'*(लेकिन उदास है पृथ्वी)। इस दौर के तेजस्वी कवि *अरुण कमल* ने भी आनेवाली शताब्दी का चेहरा ठीक से पहचाना है। 'ग्लोबल विलेज' के दायरे में सिमट जाने भर से कवि दुनिया में कोई खास तब्दीली नहीं देख पाता सिवाय इसके कि– *'इतनी छोटी हो गयी है दुनिया एक नक्शे पर/जब आप आराम से खाना खा रहे हैं/तो बिल्कुल पास में कोई भूख से दम तोड़ रहा है'*(सबूत)। कवि इक्कीसवीं शताब्दी की आहट को अपनी समझ के फीते से टटोलता है और पाता है कि *'आ रही है कब्र की मिट्टी झाड़ती ईस्ट इंडिया कम्पनी/डलहौजी के घोड़ों की टाप है रोड पर/टाप कनपट्टी पर/और मेरा चेहरा फूटा हुआ ढेला कम्प्यूटर का दाना/अपने ही घर में किरायेदार हम/जा रहे हैं इक्कीसवीं शताब्दी की ओर'*(सबूत)।

हम देखें कि इस दौर में अच्छी कविताएँ–अपने समय की सच्ची कविताएँ लिखे जाने का सिलसिला उत्तरोत्तर आगे बढ़ा है। मनुष्य की–जीवन की गहरी प्रतीतियाँ कविताओं में उभर कर सामने आई हैं। मनुष्यता को, जीवन को, कविता को बचाने का भाव–इधर की कविताओं में सबल ढंग से सामने आया है। *विश्वनाथ प्रसाद तिवारी* जैसे ग्रामगंधी कवि मनुष्य के वर्तमान को झुठलाकर उसकी त्रासदी को अनदेखा नहीं बनाते, बल्कि सर्जना की आधार-भूमि पर आत्मविश्वास का यह बल बनाये रखते हैं कि–'उठूँगा बनूँगा छतनार वृक्ष/दूँगा आकाश को चुनौती/दिशाओं को इन्द्रधनुष के रंग....../किसी मड़ई का छाजन/किसी आँख की खिड़की/किसी तवे के नीचे थोड़ी-सी आँच'(आखर अनन्त)। इसी तरह जहाँ *विनोद कुमार शुक्ल* की कविताओं में अंततः *'सब कुछ होना बचा रहेगा'* की अनुगूँज है, वहीं *एकांत श्रीवास्तव* की कविताओं में हँसिए का स्वर सुनाई देता है जो पके धान की देह से उठ रहा है। *हेमंत शेष* की सहानुभूति उस स्त्री से है *'जो सारे संसार को बुहारती है, संपूर्ण दुनिया के लिए बेलती है रोटियाँ, विश्व भर के कपड़े धोती है, अनगिनत पतियों के लिए बिस्तर में लेटती है, असंख्य बच्चों की माँ बनने के लिए'*। *मंगलेश डबराल* की यह चाहत मामूली नहीं कि *'स्पर्श बना रहे/स्वाद बचा रहे/सरल वाक्य बचा रहे/इंसान होने के कथन की सचाई बची रहे/फिर से उम्मीद को जाग्रत करने वाली निराश बची रहे/शब्द बचे रहें/प्रेम में बचकानापन बचा रहे और कवियों में बची रहे थोड़ी लज्जा'*। देवीप्रसाद मिश्र दुनिया को बेहतर बनाने के लिए टेंडर आमंत्रित करने का खुला आफर देते दीखते हैं तो *भगवत रावत* इस समय दुनिया को

ढेर सारी करुणा से भर देना चाहते हैं क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि *'सूरज के ताप में अथवा चंद्रमा की ठंडक में कोई कमी नहीं किन्तु दुनिया में करुणा की कमी पड़ गयी है'*। *कुमार विकल* की इस चाहत से पाठक परिचित ही होंगे जिसमें वे दुनिया के हर बच्चे के लिए एक नन्हा पुलओवर बनाने की ख्वाहिश रखते हैं और वह भी–अपनी जिन्दगी की ऊन से। और *हेमंत शेष* का यह विश्वास सचमुच आज की कविता में लौटती हुई प्राणवत्ता का अहसास है जहाँ वे कहते हैं–

> *'इसी जन्म में/मैं तुमसे मिलूँगा किसी दिन/डाक में जैसे मिलती है चिट्ठी/हाथों से मिलते हैं दस्तानें/डायरी में मिल जाता है/कोई पुराना पता/........*किसी सुगंध किसी ध्वनि किसी अर्थ की तरह अचानक किसी दिन/मैं तुमसे मिलूँगा।''
>
> (नींद में मोहनजोदड़ो)।

इस आशावाद की कौंध आज की युवा कवयित्री *संज्ञा सिंह* तक अनवरत मौजूद है जिसकी कविता *'अपने अलावा'* आश्वस्ति का एक सुखद प र्याय लगती है–

> *'एक-एक वास्तविकता के मुकाबिले/रख रही हूँ एक-एक सपना/एक-एक व्यवहार के मुकाबिले/रख रही हूँ एक-एक विचार/एक-एक दुख के मुकाबिले/रख रही हूँ अपना एक-एक सुख/दुनिया को खूबसूरत बनाने का एक ढंग यह भी है।'*

यह बिडम्बना ही है कि हम महानगर में रह रहे कवियों को कोसने के आदी हो गये हैं। कदाचित यह आलोचक *नामवर सिंह* के दिल्ली में आयोजित एक पुरस्कार समारोह में दिये गए वक्तव्य का ही अन्धानुकरण है। यह कहना कि अच्छी कविता आज महानगरों से बाहर केवल कस्बों में लिखी जा रही है, यह भी एक दिग्भ्रमित करने वाला बयान है। ऐसी सार्वजनिक उद्घोषणाएँ पाठकों को ही नहीं, आलोचकों को भी एक हद तक बड़े आलोचकों का 'हमखयाल' बनाने में मदद करती हैं–और सच तो यह है कि इस तरह का कोई मानक तय कर कविता ही क्या, किसी भी साहित्यिक विधा का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। क्योंकि हमारे ही दौर के *विष्णु खरे, मंगलेश डबराल, विजय कुमार, कुमार विकल, आलोकधन्वा, नरेश सक्सेना, राजेश जोशी, लीलाधर मंडलोई* जैसे महानगरीय या राजधानियों में रह रहे कवियों की कविताएँ इतनी सशक्त, विभिन्न रंगतों और अनुभवों वाली हैं, जिनसे इस सदी का तापमान मापा जा सकता है। क्या आप *विजय कुमार* जैसे बम्बई की व्यस्त दिनचर्या वाले कवि के इस अवलोकन को कविता मानने से इन्कार कर सकते हैं– *'अपने पराक्रम पर हँसे वे/उन्होंने बस्तियाँ जलाईं और मिठाइयाँ बाँटीं/खंजर भोंके और मन्दिरों में घंटियाँ बजायीं/हर जगह वे/कविता की पंक्तियों के लिए छोड़ जाते थे/कुछ लुटे मकान/टूटे दरवाजे/स्याह चौखटे'*(चाहे जिस शक्ल से) ; क्या *राजेश जोशी* की *'नेपथ्य में हँसी', 'मारे जाएँगे', 'वह मुझे जन्म देना चाहती थी', 'बच्चे काम पर जा रहे हैं'*; *आलोकधन्वा* की *'ब्रूनो की बेटियाँ', 'कपड़े के जूते'*; *नरेश सक्सेना* की *'रात भर', 'पानी', 'घास'*, तथा *'एक वृक्ष भी बचा रहे संसार में'*;

लीलाधर मंडलोई की *'खबर', 'नये रोम का शैशव'*; *कुमार विकल* की *'एक सुख', 'घर वापसी', 'पहचान', 'धरा-समर्पण', 'तय तो बहुत कुछ था', 'एक पत्र'* तथा *अरुण कमल* की *'अपील', 'खुशबू रचते हैं हाथ', 'धार', 'महात्मा गाँधी सेतु और मजदूर', 'उत्सव', 'छोटी दुनिया', 'नये इलाके में'* तथा *'घोषणा'* जैसी कविताओं का मूल्य केवल इसलिए कमतर आँका जा सकता है कि ये महानगरों या राजधानियों के कवियों की कविताएँ हैं और एक बड़े आलोचक के उस हिट करार दिये वक्तव्य–कि अच्छी कविताएँ केवल कस्बों और गाँवों में लिखी जा रही हैं–से तनिक भी इधर-उधर नहीं होना है। जबकि सच यह है कि जहाँ राजनीतिक खबरों के घटाटोप में महानगरों का आर्तनाद प्राय: तिरोहित ही रहता हो, महानगरों में रह रहे कविजनों से ही हम ऊपर से अट्टहास करते, दिन-रात जागते, उत्सव मनाते शहर की आंतरिक करुणा का आख्यान सुन सकते हैं। कहना न होगा कि *विजय कुमार, विष्णु खरे* तथा *मंगलेश डबराल* की कविताएँ वास्तव में बाहर से दहाड़ते महानगरों के प्रकट हास में दबी करुणा का आलेख हैं। आज की कविता पर एक यह भी टिप्पणी है कि यह उत्तरोत्तर विचार-बोझिल होती गयी है। इसमें वैचारिक शुष्कता का प्राबल्य है तथा कला-चेतना का प्रवाह निरन्तर विरल होता गया है। परन्तु मेरी दृष्टि में आज की कविता के कथ्य, कलेवर और आन्तरिक संरचना में विचार का आतंक अभी इतना गहरा नहीं हुआ है कि वह कविता के काव्यत्व को गौण बना दे। बल्कि आज तो इस सदी की सबसे अच्छी कविताएँ लिखी जा रही हैं–विचार उनमें हैं परन्तु वे कविता के अन्य अनुषंगों का स्थान छीनकर स्थापित नहीं हुए हैं बल्कि कविता की निर्मिति में अपरिहार्य रचना-तत्व की तरह मिले हुए हैं। वे आज की कविता की नींव हैं। बल्कि कहें कि विचारों की अत्यन्त स्वच्छ एवं सर्जनात्मक छाप आज की कविता की पूरी भित्ति पर अंकित है और ऐसा करते हुए कला के अन्य मापदण्डों, कविता के मौलिक आधारों की उपेक्षा नहीं की गयी है। अच्छी कविता आज भी अपनी मूल भित्ति पर ही टिकी है, यह सच है कि वह विरलता से पहचानने-योग्य है;–पर यह देख पाना मुश्किल नहीं कि मानवीय पतन के मौजूदा दौर में कविता को अपने कार्यभार की गहरी पहचान है।
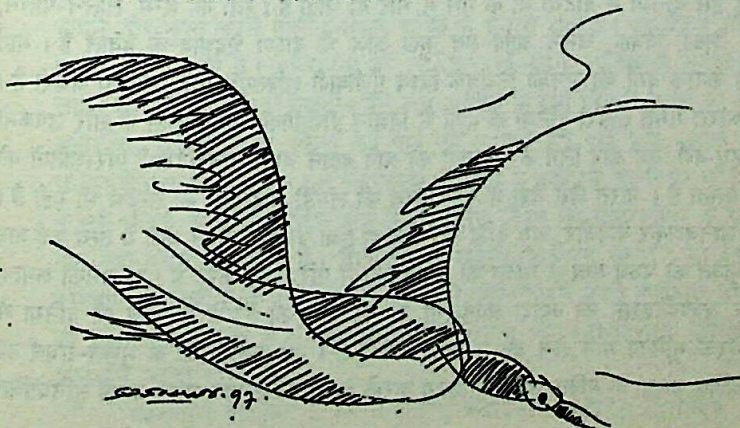
समालोचन

स्त्री और कविता : हक अदा हुआ क्या ?

चन्द्रकला त्रिपाठी

'स्त्री' साहित्य का एक संवेदनशील किन्तु मुश्किल विषय है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र, प्रेमचन्द, निराला या भैरप्पा जैसे तमाम रचनाकारों ने 'स्त्री' को अबला जीवन की हाय-हाय में नहीं लिया है, बल्कि भारतीय समाज में उसकी स्थिति-परिस्थिति और संघर्ष को समझते हुए वे वहीं से इस समाज की अमानवीय जड़ता के लिए समर्थ प्रतिरोधी स्वर उठाते हैं। इस समाज के बन्दपन और क्रूरता को सबसे ज्यादा स्त्री के संन्दर्भ में रेखांकित किया जा सकता है। रघुवीर सहाय से शब्द लेकर कहें तो 'जुल्म की शकल सिर्फ औरत बताती है।' धर्म, जाति और सम्पत्ति का कहर सबसे ज्यादा उसी पर टूटता है। भारतीय नवजागरण के दौर में स्त्री की मुक्ति के सवाल को महत्वपूर्ण रूप से समाज के गतिहीन सामंती ढांचे को चुनौती देने के संन्दर्भ में ही उठाया गया था। पराधीन भारत में औपनिवेशिक पूँजीवाद के आर्थिक हित भारतीय समाज की वर्ण, धर्म और पितृसत्तात्मकता आदि सामंती जड़ताओं को बनाये रखने में थे। इसीलिये भारत में पूँजीवाद ने समाज के मध्ययुगीन सामंती ढांचे को चुनौती देने का ऐतिहासिक काम पूरा नहीं किया और अब आजाद भारत उत्तर औपनिवेशिक आर्थिक दबावों के अधीन है। पूँजीवादी जनतंत्र में कायम विश्व पूँजीवाद की आर्थिक आकांक्षाओं ने इस देश के आर्थिक सांस्कृतिक विकास की विकलांगता बढ़ाई है। इस उत्तर औपनिवेशिक भारतीय परिदृश्य में 'स्त्री' के लिये न केवल नये खतरे बने हैं बल्कि पुराने खतरों ने भी नया कद निकाल लिया है। इस प्रकार संदर्भ साहित्य का हो या समाज का, स्त्री और उसके सरोकारों की बात करना, एक खत्म होने के कगार पर पहुँचती नस्ल पर बात करना है। स्त्री के लिये और मुश्किल होती जाती हुई इस दुनिया में बेटियाँ माँ के गर्भ में मार दी जाती हैं। स्त्री का जन्म, लालन-पालन, स्वास्थ्य, शिक्षा, विवाह, जनन आदि सब कुछ आज भी दारुण भेदभाव के हवाले हैं। यहाँ पूँजीवादी शासक वर्गों की उनकी नियंत्रक विश्व पूँजीवादी शक्तियों समेत समझना जरूरी है। यहीं से भारत समेत तीसरी दुनिया के देशों में विज्ञान प्रौद्योगिकी और विकास के सारे उपक्रमों में बने हुए वर्ण, वर्ग और लिंग के भेदभावों को आगे बढ़ाने वाली मानवविरोधी परिस्थतियों को बढ़ावा मिलता है। भारत जैसे देश में स्त्री मुक्ति की लंगड़ी धारणाओं का सन्दर्भ भी यही है। स्त्री को जानबूझकर कमजोर, कम बुद्धि और पिछड़ा हुआ प्रचारित करने वाले ये तत्व कई बार उसकी मुक्ति को पुरुष मात्र से मुक्ति की अपर्याप्तता में परिभाषित करते हैं। या उसकी क्षमता, कद और आत्मविश्वास की ज्यादा अवहेलना न कर पाने की स्थिति में पुरुष की दुनिया में उसकी पूरक भूमिका मान लेने की उदारता दिखाते हैं। इस प्रकार स्त्री के मुक्ति-संघर्ष को शोषित दलित जनता के मुक्ति-संघर्ष से अलग करके देखने का उनका प्रयत्न काफी सुनियोजित

है। इस तरीके से वे अर्थिक और सामाजिक भेद-भाव से भरी समाज व्यवस्था को अपनी मजबूत चुनौतियों से हिला देने वाले शक्ति स्रोतों पर दबाव बनाना चाहते हैं।

कई बार साहित्य में भी स्त्री की मुक्ति को शोषित जनता की मुक्ति के साथ देखने की समग्र दृष्टि अनुपस्थित होती है। यह समग्र दृष्टि प्रेमचन्द में है। प्रेमचन्द के स्त्री चरित्र सड़ते हुए सामन्ती समाज के निर्भीक आलोचक हैं। निराला में भी इस दृष्टि का संतुलन देखा जा सकता है। 'सरोज-स्मृति' जैसी कविता में वे स्त्री दमन की सामंती पूँजीवादी प्रवृत्तियों पर चोट करना नहीं भूलते। वे यहाँ विवाह जैसी प्रथा में निहित अमानवीयताओं पर चोट करते हैं। 'तोड़ती पत्थर' सिर्फ इसलिए बेमिसाल नहीं है कि उसमे निराला सामंती-पूँजीवादी सौन्दर्य प्रतिमानों को निरस्त करते हैं बल्कि इसलिए भी कि इस कविता में एक मजदूर स्त्री श्रम के दोहन पर टिके पूँजीवादी दमनतंत्र को न केवल पहचान रही है बल्कि उसके प्रति अपनी निर्णायक भूमिका भी तय कर रही है- गुरु हथौड़ा हाथ/करती बार-बार प्रहार, इस प्रकार निराला के लिए स्त्री उत्पीड़ित, वंचित समाज का हिस्सा है तथा उसकी मुक्ति शोषण पर टिके समाज को बदले बिना नहीं है।

निराला की यह दृष्टि नागार्जुन में जाकर और मुकम्मल होती है। वे स्त्री को उसके वर्गीय आधारों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं इसलिए सुवि ाभोगी वर्ग की स्त्रियों के पतन पर बेहिचक चोट करते हैं। वे स्त्री को निष्क्रिय करुणा या सहानुभूति के निर्गुण भाव में न देखकर उसे सहज सक्रिय सामाजिक व्यक्तित्व मानते हैं। 'तन गयी रीढ़', 'सिन्दूर तिलकित भाल' जैसी कविताओ में व्यक्त स्त्री में समूची जातीय संस्कृति की गमक और दृढ़ता है। यह अनायास नहीं है कि 'सिन्दूर तिलकित भाल' में कवि को पत्नी की अकेली याद नहीं आती है, उसके साथ ही अपने स्वजन, अपनी धरती, उसकी रसगंध सब कुछ याद आता है। स्त्री उनके लिए जीवन के समग्र बोध का स्रोत है। नागार्जुन के अलावा त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध और शमशेर ने भी स्त्री की इसी स्वाधीन, सकर्मक छवि को मान दिया है। त्रिलोचन के यहाँ वह पुरुष के श्रम और कर्म का अडिग संबल है। केदारनाथ अग्रवाल ने उसे जीवन को प्रेम से बांधने और मुक्त करने वाली विलक्षण शक्ति के रूप में देखा है। वह बीहड़ जीवन को आसान बनाने वाली साथी है। मुक्तिबोध की गृहस्थिन माँ-बहनें क्रांतिकारी जनशक्तियों को गहरे लगाव के साथ यों ही नहीं देखतीं। वैसे जन-कवियों के यहाँ निखरी 'स्त्री' की यह सम्पूर्ण छवि अतिरंजित भले ही न हो, किन्तु कई बार पर्याप्त नहीं है। यहाँ प्रायः उसके मुक्ति संघर्ष के जटिल क्षेत्र अदृश्य हैं। एक भले सद्गृहस्थ की तरह ये कवि माँ, पत्नी पर कवितायें लिखते हैं। वे स्त्री जीवन के प्रायः सुरक्षित क्षेत्र हैं। इसलिए जीवन की जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य में देखा गया स्त्री-संघर्ष यहाँ नहीं है। नागार्जुन ने अवश्य 'विज्ञापन सुन्दरी' या 'नखरंजनी' जैसी कवितायें भी लिखी हैं जो स्त्री का नये तरीके से दोहन करने वाली पूँजीवादी उपभोक्ता संस्कृति की असलियत खोलती हैं। अतः समकालीन समाज की स्त्री-विरोधी परिस्थितियों के प्रति नागार्जुन ज्यादा सजग हैं।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, वीरेन डंगवाल,

आलोकधन्वा, गोरख पाण्डेय और महेश्वर जैसे कवियों की रचनाओं में आई स्त्रियाँ घर-परिवार सम्हालने वाली, खेतों, खदानों और फैक्टरियों में काम करने वाली, शहरों-महानगरों में दिहाड़ी या घरेलू दासी के रूप में काम करने वाली वे स्त्रियाँ हैं जिनका अपनी गुलामी से निकलने का संघर्ष कठिन है। इन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य और संपत्ति की वे आधारभूत सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं, जिनके द्वारा संगठित विरोध की संभावनाएँ मजबूत होती हैं। किन्तु देखा यह गया है कि समूचे सामंती-पूँजीवादी दमन-तंत्र के विरुद्ध प्रतिरोध के प्रखर सामूहिक चेतना से लैस स्वर की सबसे ज्यादा तैयारी इन्हीं दलित उत्पीड़ित स्त्रियों में है। उनकी यातना, मानसिक क्लेश अमूर्त्त या महिमा-मण्डित नहीं है। उनका जीना, मरने की सीमा तक असह्य और नारकीय है किन्तु वे इस जीवन से हारी हुई नहीं हैं। उनकी ये क्षमताएँ समकालीन कवि को पृथ्वी के जरूरी हिस्से में अन्याय के विरोध के बने रहने के प्रति आश्वस्त करती हैं। इसके विपरीत सुविधाभोगी वर्गों की स्त्रियाँ अपने जीवन की असह्यता को सुविधाभोग की कीमत पर सहती हुई यथास्थिति में बनी रहती हैं। रघुवीर सहाय, मंगलेश डबराल, असद जैदी जैसे कवियों द्वारा पहचानी गयी स्त्रियाँ शहरी मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की ये ही स्त्रियाँ हैं जिनकी यातना या अपमान कम नहीं है किन्तु अन्ततः ये निस्सहाय हैं। इनकी निस्सहायता भी संवेदनशील कवि में तो अपने प्रति करुणा जगा लेती है, किन्तु स्वयं की इस अवहेलना या अन्याय के प्रति किसी चेष्टा की गुंजाइश नहीं छोड़ती। वे भात पकाती हुई, बच्चे पालती हुई, सुहाग-चिह्न पहन व्रत त्यौहार करती हुई वे स्त्रियाँ हैं, जिनके प्रेमहीन जीवन की विडम्बना कवियों को दुःखी करती है। जनकवि इस प्रकार के अवरोधों में अटकी हुई स्त्रियों के प्रति सदय नहीं हैं। वे क्रांतिकारी जनान्दोलनों की भीतरी ताकत के रूप में अपने व्यक्तित्व और ताकत को प्रमाणित करने वाली उन स्त्रियों का पता देते हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं इन आन्दोलनों में गहरी भागीदारी के द्वारा समझा है। उनकी रचनाओं में स्त्री सामर्थ्य और संघर्ष की अभिव्यक्ति अवधारणात्मक स्तर पर नहीं है। ये सचमुच की जीवित स्त्रियाँ हैं जो मोर्चे पर लड़ने के साथ-साथ कुटुम्ब और पति-बच्चों की रक्षा करती हुई परिवार से अपनी मजबूती को और पक्का करती हैं। परिवार में नमक की तरह घुल जाने की उनकी यह स्थिति पराजित या गुलाम स्थिति नहीं है। अपने कुटुम्ब को प्रेम और त्याग से पालने वाली यह स्त्री समाज के अन्याय या दमन का विरोध करना भूल नहीं जाती। यही नहीं परिवार में पड़े हुए स्त्री विरोधी तत्वों के प्रति भी वह सचेत होती है।

दूसरी ओर अज्ञेय, श्रीकांत वर्मा, धर्मवीर भारती आदि कवि स्त्री को अपने-अपने ढंग से प्रेम में जड़ते हैं। ये स्त्रियाँ रीतिवादी कवियों की नायिकाओं का किंचित नया संस्करण भर हैं जिन्हें मान-मनुहार का पुराना घिसा-पिटा शिल्प रिझा नहीं सकता। रीतिवादी कवियों से आधुनिकतावादी कवियों की ऐसी और भी कई समानतायें मिल जाती हैं। स्त्री के सन्दर्भ में दोनों के यहाँ प्रश्न मानवीय सरोकारों का न होकर उक्ति वैचित्र्य का है। वैसे कई प्रगतिशील कहे जाने वाले रचनाकारों की भी स्त्री विषयक धारणाओं में सामंती-पूंजीवादी पतनशीलताओं का दबदबा बना हुआ है। धूमिल जनवाद के सचेतन पक्षधर नहीं है किन्तु जनविरोधी संसद और

पूँजीवादी लोकतंत्र के अन्तर्विरोधों के प्रति उनकी दृष्टि सचेत, टकराव पूर्ण है, मगर स्त्री के प्रति धूमिल में पुरुष सत्तात्मक सामंती दृष्टि का असर बना हुआ है। मध्यवर्ग की समझौता-परस्ती पर चोट करने के प्रसंग में वे लिखते हैं- 'मैंने जिसकी पूंछ उठाई है, उसको मादा पाया है।'

मादा, यानी स्त्री के लिए इससे बड़ा धिक्कार और क्या हो सकता है। यहाँ वह व्यक्तित्वहीनता का पर्याय बन कर प्रस्तुत हुई है। वैसे धूमिल पर राजकमल चौधरी की अकवितावादी अराजकता का भी असर रहा है। यही कारण है कि उनका व्यवस्था विरोधी स्वर भी अपनी प्रखरता के बावजूद उनके अन्तर्विरोधों का शिकार हो जाता है।

रघुवीर सहाय के काव्यानुभव में स्त्री एक 'विडम्बना' है। समाज और संस्कृति का समूचा विकास उसे छोड़ कर आगे बढ़ गया है। 'औरतें' एक किलानुमा बन्द समाज व्यवस्था में मामूली दिनचर्याओं के साथ बीतती हुई अपनी पुरखिनों की यथास्थिति में अवरुद्ध कद-काठी पकड़ लेती हैं। ऐसी औरतों के प्रति लिखते हुए वे करुणा से भरपूर हैं। यहाँ उनकी पत्नी, और बेटी भी है। ये सभी अपने-अपने जीवन का दुःख भार सहती हुई इन दुःखों को बनाने वाली दुनिया का किसी तरह सामना नहीं करती, बल्कि अपने लिए सृष्टि के ओर-छोर तक फैली उदासी चुन लेती हैं। यह प्रायः अन्याय को सहने का एक आत्म-दया या आत्म-प्रतिशोध से भरा ग्रंथिल ढंग है, जो असुरक्षित व्यक्तित्व की असामान्यताओं से बनता है। इस प्रकार ये स्त्रियाँ उन 'पशुवत पालतू स्त्रियों से ज्यादा नहीं हैं जिनमें सामाजिक सरोकार शून्य है तथा जिन्हें यथास्थिति की बीमार कुरूपतायें बेचैन नहीं करतीं। मंगलेश डबराल जैसे समकालीन कवि भी रघुवीर सहाय की इसी निर्गुण करुणा के असर में हैं। लिखते हैं--

'ठगी जाती है रोज/उसे पता नहीं चलता बाहर
क्या हो रहा है/कौन ठग रहा है कौन है खलनायक /
पता नहीं चलता कहाँ से शुरू हुई थी कहानी'

इस तरह इस स्त्री के जीवन का सब कुछ अवरुद्ध है क्योंकि- 'कुछ है जो दिखाई नहीं देता / कई बार देखने के बाद।' वैसे 'स्त्री' के लिए लगभग असंभव इस प्रेम को देखने की कोशिश उसकी परवशता को समझने के सन्दर्भ में ही होती है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या रचनाकार इसे स्त्री को ज्ञान, आत्म विकास और आजादी के हक से बेदखल करने वाले सामाजिक ढांचे के परिप्रेक्ष्य में देख रहा है ?

गगन गिल ने स्त्री की असहायता को और बारीकी में पकड़ा है। 'स्त्री' का उसकी अपनी देह में लौटना' उनकी कविताओं का जैसे धुरी भाव है। इस तरह वह यथास्थिति में ही लौटती है, भले ही यह आत्मपीड़न के उदात्तीकृत दिखावों के द्वारा हो। वहाँ-

सदियों से बैठी वह / अपने भीतर उस जगह /
जहाँ रहते हैं दुःख स्वप्न / इच्छाओं के पागल होने के इन्तजार में

इस तरह यहाँ, इच्छाओं के पागल होने का इन्तजार' ही एक अकेला विकल्प बचता है। यह स्त्री गूंगा और निहत्था कर देने वाले दमनतंत्र का सामना अपनी घातक सहनशीलता से करती है। जबकि कुमार अंबुज के यहाँ स्त्री अजेय और अलंघ्य है। यहाँ जिन्दगी को असहय

बनाने वाली सच्चाइयाँ अनुपस्थित नहीं हैं। इनसे जूझती हुई वह स्त्री एक अनिवार्य स्त्री के रूप में निखरती है। वीरेन डंगवाल के लिए भी स्त्री के वंचित जीवन का त्रास अपनी भयानकता के बावजूद अपराजेय नहीं है। अपने सपनों के बल पर उसे स्त्री ही खत्म करती है। वे लिखते हैं-'हम नींद में भी दरवाजे पर लगा हुआ कान हैं/दरवाजा खोलते ही/अपने उड़े-उड़े बालों और फीकी शक्ल पर/पैदा होने वाला बेधक अपमान है/हम हैं इच्छामृग/वंचित स्वप्नों की चरागाहों में तो/चौकड़ियाँ भर लेने दो कमबख्तो !'– इस तरह लड़ने के आत्मविश्वास में उठती हुई ये औरतें मशक्कत करने वाले उस वर्ग में शामिल हैं जो घर-बाहर की गुलामी में खटती हुई कई शताब्दियों से पृथ्वी की सारी थकान से भरी हुई हैं।

गोरख पाण्डे की सबसे ज्यादा सशक्त कवितायें स्त्रियों और बच्चों के बार में हैं। ठीक यही बात महेश्वर के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। महेश्वर स्त्री के मुक्ति-संघर्ष के प्रति बहुत परिपक्व और सचेत हैं। स्त्री उनके रचनाकार के लिए भावुकता से विगलित कर देने वाला विषय नहीं है। वे उसमें 'मुक्तिपथ' की मुश्किलें जानते हैं और उसके उठ खड़े होने की कठिनाइयाँ भी। वे स्त्री की जटिलता को समाज की जटिलता से कम बड़ी चुनौती नहीं मानते। इसीलिए वे सबसे पहले उसके औरत होने के हक की तरफदारी करते हैं। वे साहित्य में जीती जागती औरतों को उनकी तकलीफों और लड़ाइयों समेत शामिल करने के पक्ष में हैं।

गोरख पाण्डेय की 'कैथर कला की औरतें' आकाश से उतरी हुई नहीं है। उनकी सामूहिक चेतना, उनका जुल्म के खिलाफ खड़े होने का साहस और उनका योद्धा व्यक्तित्व एक सच्चाई है। नागार्जुन की तरह गोरख पांडेय ने भी क्रांतिकारी आन्दोलनों में स्त्री की हिस्सेदारी को समझा है। 'कैथर कला की औरतों का यह विरोध स्वतः स्फूर्त किस्म का नहीं है। वह दमन के पीड़ादायी अनुभवों के साथ विकसित हुआ है क्योंकि इसमें कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने की तैयारी भी है। 'ब्रूनों की बेटियों' कीं तरह 'कैथर कला की औरतें' भी अचानक घटकर खत्म हो जाने वाली घटना नहीं हैं। वे क्षितिज के उस छोर तक मनुष्य की आजादी की फसल काट रही हैं।

बद्री नारायण में स्त्री के दमन और प्रतिरोध की द्वन्द्वात्मकता फर्क तरीके से व्यक्त हुई है। यहाँ वे सुन्दरता और बुद्धिमत्ता साथ-साथ के रूप में 'स्त्री' का 'सेलेबल कमोडिटी' के रूप में इस्तेमाल करने वाली पूँजीवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध जातीय जीवन की क्षमता और अपराजेयता को खड़ा करते हैं। 'लाल मुनि', 'दुलारी धिया' जैसी कविताओं का सन्दर्भ यही है। 'दुलारी धिया' में स्त्री जीवन की परवशता की विडंबना ज्यादा गहरी है किन्तु 'लालमुनि' में तो 'यम की दुआरी' कूटने का साहस है। कात्यायनी के लिए स्त्री जीवन की 'विडंबना' एकांत का विषय नहीं है। इसे वे जनविरोधी समाज व्यवस्था के प्रति सवाल उठाने के लिए चुनती हैं। वे 'स्त्री' को बेबसी में नहीं बल्कि लगातार लड़ाई में चुन रही हैं। पुरुष सत्तात्मकता का बारीक से बारीक असर उनके सवालों की जद में है।

इस तरह 'स्त्री' की लड़ाई उत्पीड़ित मनुष्य की लड़ाई में अनमोल कुछ जोड़ती है। सवाल यहाँ हरदम अमानवीय सामाजिक ठहरावों को तोड़ने का है तथा औरत को अकेला करने

वाली ताकतों पर चोट करने का है। 'स्त्री' कविता के लिए कतई आसान विषय नहीं है इसलिए कुछ कवि उसके प्रति हार्दिक सहानुभूति से भरे हुए, उसका भला चाहते हुए भी यहीं अटके हैं कि 'मैं शिशु सहित माँ के / साथ हूँ, साथ हूँ साथ हूँ, साथ हूँ / बशर्ते बलात्कार से माँ / और बन्दूक से बच्चा / अपने को बचा ले'।

रानी और कानी

माँ उसको कहती है रानी
आदर से, जैसा है नाम;
लेकिन उसका उल्टा रूप,
चेचक के दाग, काली, नक-चिप्टी,
गंजा सर, एक आँख कानी।
रानी अब हो गयी सयानी,
बीनती है, काँड़ती है, कूटती है, पीसती है,
डलियों के सीले अपने रूखे हाथों मीसती है,
घर बुहारती है, करकट फेंकती है,
और घड़ों भरती है पानी;
फिर भी माँ का दिल बैठा रहा,
एक चोर घर में पैठा रहा,
सोचती रहती है दिन-रात
कानी की शादी की बात,
मन मसोसकर वह रहती है
जब पड़ोस की कोई कहती है–
"औरत की जांत रानी,
ब्याह भला कैसे हो
कानी जो है वह !"
सुनकर कानी का दिल हिल गया,
काँपे कुल अंग,
दायीं आँख से
आँसू भी बह चले माँ के दुख से,
लेकिन वह बायीं आँख कानी
ज्यों-की-त्यों रह गयी रखती निगरानी।

निराला (रचनाकाल : १६३६)
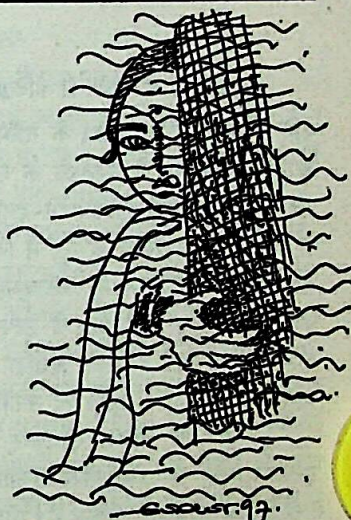
एक मुश्किल सवाल

टाट के पर्दे के पीछे से
एक बारह-तेरह साला चेहरा झाँका
वह चेहरा
बहार के पहले फूल की तरह ताजा था
और आँखें
पहली मोहब्बत की तरह शफ़्फ़ाक
लेकिन उसके हाथ में
तरकारी काटते रहने की लकीरें थीं
और उन लकीरों में
बरतन माँजने की राख जमी थी
उसके हाथ
उसके चेहरे से बीस साल बड़े थे।

परवीन शाकिर

अनुशीलन

प्रकृति–प्रेम से पर्यावरण–चिन्ता तक
अद्यतन हिन्दी कविता

डॉ. पुष्पिता

किसी भी भाषा की कविता की जड़ें उसके भूगोल में होती हैं। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा कवि प्रकृति के साथ मानव के नाभि-नाल-सम्बन्ध के साक्षी थे। प्राकृतिक शक्तियों की ही, ऋग्वैदिक ऋषियों ने देवताओं के रूप में स्तुति की–वे इन्द्र हों या मित्रवरुण, मरुत हों या पर्जन्य। भारत-भूमि को संवारने-दुलारने वाले षट्-ऋतु-चक्र को आनन्दित आँखों निहार कर ही, ऋग्वेद के सारतत्व के रूप में जिसे रेखांकित किया जा सके, उस, 'ऋत' की परिकल्पना ऋषियों ने की। विश्व की व्यतिक्रमहीन, व्रतबद्ध व्यवस्था ही ऋत है। देवों के प्रथम देवता प्रजापति या ब्रह्मा इसी ऋत से उत्पन्न हुए, अतएव इन्हें 'ऋतज' कहा गया। अग्नि, सोम, वरुण, सविता आदि देवों को 'ऋतावा' (याने, ऋत को धारण करने वाले) और 'ऋतपा' (याने ऋत की रक्षा करने वाले) की उपाधियाँ मिलीं।

यहीं पर, तनिक रुक कर, इस आर्ष जीवन-दृष्टि से ही अन्तर्सम्बन्धित भारतीय इतिहास-दृष्टि को चिह्नांकित किया जाना चाहिए, जो पश्चिमी इतिहास-दृष्टि की तरह सरलरैखिक न होकर, चक्रीय है। युगादि की परिकल्पना ही नहीं, पुनर्जन्मादि के सिद्धान्त भी इसी चक्रीय इतिहास-दृष्टि के अंग-उपांग हैं।

महाकवि सूरदास की लेखनी–या कहें, वाणी–से अपने उत्कर्ष को पहुँची, सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति-समर्थ ब्रजभाषा को छोड़कर भारतेन्दु काल में जब खड़ी बोली कविता-भाषा का रूप लेने लगी, तब, दिनों तक, कवि-मानस एक तरह की दुविधा में दोलायित रहा। हिन्दी के अनन्य उन्नायक भारतेन्दु स्वयं सामाजिक चिन्ता और राजनीतिक धार की कविता तो हिन्दी में और राग-अनुराग की कविता, चाहे वह नारी के प्रति हो या प्रकृति के,–ब्रजभाषा में लिखते रहे। इस द्विधाग्रस्त मानसिकता से उबरने की शुरुआत द्विवेदी युग के यथातथ प्रकृति-वर्णन से होते हुए विशेषतः श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी के काव्य-सृजन में प्रस्फुटित स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अभ्युत्थान के साथ ही हुई और नैसर्गिक सुषमावलोकन से ही ब्रह्मानन्द-सहोदर रस-लब्धि करने वाली इस भाव-यात्रा की चरम परिणति हुई छायावाद में। छायावाद के काव्य-काल में खड़ी बोली एक अभिनव रूपान्तरण से गुजरी और वह खड़खड़ी न रहकर अद्भुत मसृणता और मार्दव से सम्पन्न हुई। निराला ने अपनी तूलिका से जिस 'देवी सरस्वती' का चित्र आँका है, उसके रंगों को देखिए, वे भारतीय प्रकृति के रंग हैं–

स्निग्ध पवन में/शस्य-शीर्ष से उठी हुई तुम/मटर-पुष्प के सौरभ-धन से/लुटी हुई तुम/सरसों के पीले पुष्पों की/साड़ी पहने/अलसी के नीले फूलों की/रेखा जिसमें।

कुछ आलोचक चाहे छायावाद को हिन्दी कविता का स्वर्ण-युग कहकर याद करते हों, यह वह काल था जब हिन्दी कविता अपनी सरस्वती का सन्धान माटी की उर्वरता और सुन्दरता में कर रही थी। निराला के ही शब्दों में-

'हरी-भरी खेतों की सरस्वती लहरायी
मग्न किसानों के घर उन्मद बजी बधाई'

पन्त के यहाँ भी 'पल्लव' से लेकर 'ग्राम्या' तक विराट् प्रकृति में रचे-बसे जन-मन के भाव-चित्र मिलेंगे। लेकिन यहाँ, उचित है, कि छायावादी काव्य-धारा में विन्यस्त दो परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों के टकराव और उनके समाहार पर एक निगाह डाली जाय, क्योंकि प्रकृति के प्रति भावी कविता के दृष्टिकोण की निर्मिति में इस द्वन्द्व की महती भूमिका रही है। इस द्वन्द्व के दर्शन निराला और पन्त के काव्य-सृजन को अगल-बगल रखकर किये जा सकते हैं। 'पल्लव' की अपनी ऐतिहासिक भूमिका में पन्त का कथन है: ''कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है।'' इसके बरक्स निराला के 'परिमल' की भूमिका के इस अंश को देखें- ''साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्रप्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली प्रशस्त-भूमि में विहार करना चाहता है।'' भाषिक दृष्टिकोणों में निराला और पन्त के बीच का यह अन्तर कविता, विशेषकर प्रकृति-मूलक कविता में, किस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है इसका मुखर निदर्शन निराला की समीक्षा-कृति 'पन्त जी और पल्लव' में मिलता है। 'पल्लव' के समीक्षा-क्रम में निराला इन पंक्तियों को लेते हैं-'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया/तोड़ प्रकृति से भी माया/बाले ! तेरे बाल-जाल से कैसे उलझा दूँ लोचन ?/भूल अभी से इस जग को'।

इस पर निराला की टिप्पणी है- ''कवि बाला के 'बाल-जाल' से छूटकर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति करायी गयी है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गयी है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है, तो छूट कर जहाँ ठहरिए, उसे दिखलाइए कि वह स्वभावत: 'बाला' के 'बाल-जाल' से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे तो 'द्रुमों की मृदु छाया' में क्या करने गये ? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी ? प्रकृति में ही रहे तो उत्कृष्ट को छोड़कर निकृष्ट को क्यों ग्रहण किया ? प्रकृति में बाला से मधुर और क्या होगा ? 'बाला' को छोड़कर प्रकृति से परे जाते, तो जरूर आकर्षक बन जाता।''

इस विवेचन से निराला निष्कर्ष निकालते हैं-

''यहाँ कला का पतन हुआ है- उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है।.... कवि को हमेशा ध्यान रखना पड़ता है कि कला के विकास का मार्ग क्या है। कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती...... यदि उससे जबरदस्ती की गयी, तो साहित्य में उस बलात्कार की छाप पड़ेगी।''

कहना न होगा, निराला की इस दृष्टिपूर्ण समीक्षा ने अन्ततः पन्त के कवि-मानस को रचनात्मक रूप से प्रभावित किया। इसका स्पष्ट प्रमाण पन्त की 'पल्लव' से 'ग्राम्या' तक की

विकास-यात्रा है। भारतमाता ग्रामवासिनी के निकट-दर्शन कराने वाली 'ग्राम्या' में पन्त जिस प्रौढ़ि को प्राप्त करते हैं वह इस समझ से आती है कि कविता केवल मानव को प्राकृतिक परिवेश में देखने का काम नहीं करती, बल्कि प्रकृति को भी मानवीय परिवेश में आँकती है। निराला की कविता आंरभ से ही इस बोध से अनुप्राणित रही है और अन्त तक अपने स्वाभाविक विकास की पूर्णता प्राप्त करती रही है। निराला के 'फिर बेले में कलियाँ आयीं'- इस शीर्ष-पंक्ति वाले गीत की इन अन्तिम पक्तियों को देखिए-'आमों की सुगन्ध से खिंचकर/वैदेशिक जन आये हैं घर/बन्दनवार बँधे हैं सुंदर/सरिताएँ उमड़ी, उतरायीं।'

आमों की सुगन्धि से खिंचकर वैदेशिक जनों का घर आना कितना मार्मिक है, कितना सार्थक और पन्त की 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया' की तुलना में कितना सहज और सच्चा- यह कहने की आवश्यकता नहीं। सारतः यह कहा जा सकता है कि अपनी तत्सम-बहुलता के बावजूद यदि छायावादी काव्य उत्तरवर्ती कविता के मुकाबले आज भी अधिक लोकप्रिय है, तो उसका कारण भारतीय प्रकृति से उसका तादात्म्य ही है। इसलिए यह अकारण नहीं कि कालिदास और भवभूति के प्रकृति-चित्रण की स्मृतियों के साथ-साथ छायावादी काव्य में दार्शनिक स्तर पर औपनिषदिक प्रतिध्वनियाँ सुन पड़ती हैं और तमाम भावावेग के बावजूद निराला और पन्त की बादल विषयक कविताओं को पढ़ते हुए ऋग्वैदिक पर्जन्य की स्तुतियाँ याद आती हैं। यहाँ पर शान्तिप्रिय द्विवेदी के छायावाद के सन्दर्भ में उस सूक्ष्मदर्शी कथन को याद करना उचित है कि दार्शनिक स्तर पर उसका आधार गाँधीवाद और भौतिक स्तर पर उसका आधार ग्रामोद्योग है। लेकिन छायावाद की ग्राम-सीमा बस वहाँ तक थी, जहाँ निराला ने उसे देखा था-इलाहाबाद के पथ पर, तोड़ती पत्थर। उसके आगे महानगर बनता हुआ नगर शुरू होता था और प्रगतिवाद।

प्रगतिवाद ने प्राकृतिक परिवेश में श्रमरत मानव-चित्र आँके तो जरूर, लेकिन किंचित् अन्यमनस्कता से। उसका मुख्य लगाव मार्क्सीय अवधारणा में क्रान्तिकारी शक्ति माने जाने वाले सर्वहारा याकि मजदूर से ही रहा, तमाम ट्रेड युनियनें जिसे संगठित करने की कोशिशों में लगी रहीं और तमाम कवि जिसे सम्बोधित-प्रेरित करने में ही अपनी सार्थकता मानते रहे। फिर भी, त्रिलोचन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल के यहाँ क्रमशः अवध, मिथिला और बुन्देलखण्ड के अत्यन्त सजीव और प्रांजल प्रकृति-चित्र हैं—कर्मठ मानव की जिजीविषा से अनुप्राणित।

नयी कविता के भीतर, प्रकृति को लेकर दो प्रकार के रवैये लक्षित किये जा सकते हैं। अनुभूति की अद्वितीयता और अभिव्यक्ति की नवीनता के प्रति आग्रहशील नये कवि ने, अज्ञेय के शब्दों में, समस्या को इस प्रकार निरूपित किया:-

> 'अगर मैं तुमको/ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका/अब नहीं कहता/या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई/टटकी कली चम्पे की/वगैरह, तो/नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है/या कि मेरा प्यार मैला है।/बल्कि केवल यही/ये उपमान मैले हो गये हैं।/देवता इन, प्रतीकों के कर गये हैं कूच/कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'

यहाँ प्रथमदृष्ट्या यह लग सकता है कि समस्या रीतिकालीन अर्थात् मात्र उपमान जुटाने की है, लेकिन वस्तुतः प्रतिमान-सन्धान-व्यस्त होते भी प्रतिमानों के सीमित एवं रूढ़ होने की स्थिति झेलती रीतिकालीन दृष्टि का निहित निषेध ही यहाँ लक्षणीय है। लेकिन-अज्ञेय के यहाँ केवल बाजरे की कलगी' जैसे अछूते दृश्य-चित्रों या कि उपमानों का ही सन्धान नहीं हैं, चिरपरिचित दृश्यावलियाँ भी हैं, लेकिन एक अज्ञातपूर्व संवेदना में सनी हुई, जिसके कारण यदि 'डगर चढ़ती उमंगों-सी' दिखती है तो 'बिछी पैरों में नदी ज्यों दर्द की रेखा'। अज्ञेय प्रकृति से यायावर रहे और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति-सम्पन्न भी, इसलिए उनके यहाँ प्राकृतिक दृश्यों की चित्रशाला बहुत बड़ी है और वे चित्र सनेत्र तूलिका से आँके गये हैं, लेकिन प्रायः सर्वत्र ही, सरल प्राकृतिक दृश्यों के मध्य भी जटिल आधुनिक संवेदना का दंश चुभे बिना नहीं रहता, जैसे कि उपरि-संदर्भित 'डगर चढ़ती उमंगों-सी' वाली कविता की ये परवर्ती पंक्तियाँ-

> 'मैंने आँख भर देखा/दिया मन को दिलासा-पुनः आऊँगा।(भले ही बरस दिन-अनगिन युगों के बाद)/क्षितिज ने पलक-सी खोली/तमक कर दामिनी बोली-/अरे यायावर ! रहेगा याद ?'

दूसरी ओर खड़े हैं मुक्तिबोध जिनके लिए 'चाँद का मुँह टेढ़ा है।'। उनके शब्दों में-

> 'मानो या मत मानो/इस नाजुक घड़ी में/चन्द्र है, सविता है/पोस्टर ही कविता है।

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्राकृतिक दृश्यों के अंकन के लिए 'प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता' को बलपूर्वक रेखांकित करने के बाद, वाल्मीकि रामायण के उस श्लोक को याद करते हैं जिसमें लक्ष्मण को पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी ऐसी दिखती है जैसी धूप से साँवली पड़ी हुई सीता, और वे कहते हैं- "विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी-कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है, इसका जैसा सुन्दर उदाहरण आदि-कवि ने दिया है, वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले।''

मुक्तिबोध को कभी तो 'चाँदनी बड़ी मसखरी तिमंजिले की एक खिड़की में बिल्ली के सफेद धब्बे-सी चमकती हुई' दिखती है, कभी वह 'टेढ़े मुँह चाँद की अय्यारी रोशनी' लगती है। कभी मुक्तिबोध 'स्याह चन्द्र का फ्यूज बल्ब' आकाश से खोल लेना चाहते हैं, तो कभी उन्हें देख 'आसमानी फासलों में चतुर संवाददाता चाँद' मुस्कराता है और कभी 'गंजी साफ-सफेद खोपड़ी वाला चाँद' सिरफिरा ज्यामितिशास्त्री लगता है। कभी तो उन्हें दिखता है 'पथरीले नालों की काली-काली धार में, धराशायी चाँदनी के ओंठ काले पड़ गये' और कभी सफलता के पूनों के चाँद की नीली रोशनी में नहाया हुआ सफलता-साधकों का संसार दिखता है और कभी उद्गार चिहाकार मीनारों के बीच चाँदनी की सँवलाई झालरें दिखती हैं। लेकिन हर वक्त यह चाँद जमीनी सच्चाइयों को आलोकित करता है। उसका विरूपण भी जमाने के सच का निरूपण है।

प्रकृति में सामयिक सच्चाइयों को प्रतिबिम्बित देखने वाली इस चिन्ताकुल दृष्टि का विस्तार अपनी तरह से, सामान्यतया प्रकृति के प्रति उपेक्षा-भाव के बावजूद, धूमिल के यहाँ भी

देखा जा सकता है। धूमिल के मोचीराम की आँखों से देखें तो-

'अब आप इस वसन्त को ही लो/यह दिन को ताँत की तरह तानता है/पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हजारों सुखतल्ले/धूप में, सीझने के लिए/लटकाता है।'

सामाजिक चिन्ताओं से आतुर यह कवि-दृष्टि आठवें दशक में एक स्पष्ट राजनीतिक सन्दर्भ प्राप्त कर लेती है। १९६९ में पश्चिम बंगाल के नकसलबाड़ी क्षेत्र में गूँजा विद्रोहोद्घोष- जिसे बाद में नक्सलवादी क्रान्ति कहकर पुकारा गया—हिन्दी कविता के लिए भी एक नया अध्याय-पृष्ठ बन जाता है। इसकी स्वाभाविक—और निराला की उपरि-विवेचित समीक्षक-दृष्टि की आँखों से देखें तो अस्वाभाविक-परिणति प्राकृतिक उपादानों और क्रिया-व्यापारों के भी, एक राजनीतिक रणनीति का हिस्सा बन, निश्चित निहितार्थों को प्रकट करने वाले प्रतीकों में परिणत हो जाने में होती है। इस दौर की कविताओं में पेड़, चिड़ियाँ, बच्चे और फूल, पहाड़, सूर्य आदि तो बहुतायत से मिलते हैं, लेकिन वे सब-के-सब, प्राय: सदा, अपने वास्तविक रूप में न होकर अभीष्ट राजनीतिक लक्ष्य या कि आशय से ही अपना विशिष्ट अर्थ प्राप्त करते हैं। चाहे वे कवि संध्या-भाषा नहीं, मध्याह्न-भाषा बरत रहे हों, उनके भी कुछ बीज-शब्द हैं, कीलाक्षर हैं। उदाहरण के लिए इस दौर के एक महत्वपूर्ण कवि राजेश जोशी को देखें। 'देख चिड़िया' शीर्षक कविता में उनकी नसीहत है—

'बारूद के रंग वाली चिड़िया/बारूद का सुभाव भी सीख/उड़ना गाना/तो ठीक/लेकिन/ताव खाना भी सीख।'

'पहाड़' शीर्षक कविता का यह अन्तिम अंश--

'पहाड़ सरल थे/लकड़हारों की तरह/मैंने गुस्से में नहीं देखा कभी उन्हें/लेकिन लोग कहते हैं/निर्णायक होता है पहाड़ों का गुस्सा/और स्वप्न और फूलों के लिए/वे हत्यारों पर/चट्टानों से वार करते हैं।'

यहाँ तक कि 'प्याज' भी पक्षधर हैं--

'हमारे घरों की औरतें जानती हैं/प्याज/एक तैयार घूँसा है/जिससे/'लू' डरती है।'

कतिपय आलोचकों ने उचित ही, इस दौर को नव प्रगतिवाद की संज्ञा देना पसन्द किया है। लेकिन पिछले प्रगतिवाद और इस नवप्रगतिवाद में जो एक मुख्य अन्तर लक्षित किया जा सकता है वह है- प्रकृति के प्रति कवि का नजरिया। प्रगतिवादी कवियों के यहाँ प्राकृतिक क्रिया-व्यापारों के सजीव चित्रों की पार्श्वभूमि में मानव-श्रम का आस्थाशील चित्रांकन है। जबकि इस नव प्रगतिवादी दौर में प्राकृतिक क्रिया-व्यापार एक निश्चित राजनीतिक सन्दर्भ में शिलीभूत हो वाच्यार्थ से अधिक व्यंग्यार्थ संप्रेषित करना चाहते हैं; दुखद यह है कि यह व्यंग्यार्थ सुनिश्चित राजनीतिक आशय-ग्रस्तता के कारण सदैव एकायामी और रूढ़ होता है। राजनीतिक दृष्टि के कवि-दृष्टि के ऊपर प्रभावी हो जाने के कारण स्थिति यह बनी कि प्राकृतिक क्रिया-व्यापारों से सहजता-स्वाभाविकता का सर्वथा लोप ही हो गया। यहाँ एक बार पुन: निराला की सिखावनी को याद किया जा सकता है--"कला के साथ कभी मनमानी किसी की नहीं चल सकती.... यदि उससे जबरदस्ती की गयी, तो साहित्य में इससे बलात्कार की ही छाप पड़ेगी।

उस जगह साफ जान पड़ेगा कि यह कविता के रूप में अस्वाभाविक और विकृत चेष्टा है।'' चाहे जितने ही पवित्र उद्देश्यों के वशीभूत यह 'मनमानी' की गयी हो, निराला के ही शब्दों में- ''यहाँ कला का पतन हुआ है- उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है।''

लेकिन हर्ष की बात है कि हिन्दी कविता में प्रकृति के प्रति यह अप्राकृतिक दृष्टिकोण दीर्घायु नहीं हुआ और कविगण शीघ्र ही उससे उबर आये। आठवाँ दशक बीतते-न-बीतते समकालीन कविता में एक नया भावोन्मेष लक्षित किया जाने लगा। शायद यह कहा जा सकता है कि प्रकृति के सन्दर्भों में इस नवीन भावोन्मेष का स्वरूप प्रकृति-प्रेम से अधिक पर्यावरण चिन्ता का है। वस्तुत: जब किसी आत्महंता अंधमनोवृत्ति के वशीभूत हो मानव प्रकृति का विनाश की हद तक दोहन करने लगा हो, नवनिर्माण के नाम पर मेघामन्त्रक वन निर्मूल किये जा रहे हों, सदानीरा नदियाँ प्रदूषण से नीली पड़ी गयी हों, पशु-पक्षियों और कीट-पंतगों की ही नहीं, वनस्पतियों और अनाजों की भी प्रजातियों पर प्रजातियाँ विलुप्त हो रही हों, तेजी से उपभोक्तावादी बनते अविकसित और विकासशील देश-समाजों में आनन्द के प्रतिमान बहु-विज्ञापित वस्तुएँ बन रही हों जिन्हें किसी भी तरह हासिल करने की होड़ में लोग मुब्तिला हों, आणविक कचरे और विषाक्त औद्योगिक कचरे से भरे समृद्ध पश्चिमी देशों के जहाज उनके निपटान की समस्या से चिन्ताकुल उन्हें दफन करने वाली किसी गरीब देश की माटी की खोज में सागर-वक्ष पर डोल रहे हों, विकास के नाम पर बाह्य प्रकृति के विनाश के साथ-साथ मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति का भी सभ्यता और आधुनिकता के नाम पर क्षय ही क्षय हो रहा हो, प्रकृति-प्रेम का समकालीन स्वरूप पर्यावरण-चिन्ता के रूप में प्रकट हो, यह स्वाभाविक भी है। यहाँ यह याद करना अप्रासंगिक न होगा, १९७२ में स्टाकहोम में संयुक्त-राष्ट्र संघ ने जब पहला विश्व स्तरीय पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किया तो उसमें भारत और ब्राजील जैसे विकासशील देशों ने पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं का समाधान आर्थिक विकास में निहित माना। ब्राजील के प्रतिनिधि मंडल का कहना था-'धुआँ तो प्रगति की निशानी है।' हमारी प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने इसी सम्मेलन में कहा-''गरीबी सबसे अधिक प्रदूषण फैलाती है।'' पर स्टाकहोम सम्मेलन के दस साल पूरे होने पर जब संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक और पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किया तो उसमें शामिल विकासशील देशों के गैर सरकारी लोगों और संस्थाओं में से शायद ही किसी ने विकास की मौजूदा पश्चिमी प्रक्रिया और मानकों की हिमायत की। इन देशों के सरकारी प्रतिनिधि-मंडलों का रवैया भी पहले से काफी बदला हुआ था। हर गुजरते दिन के साथ यह स्पष्टतर होता जाता है कि विकास की पश्चिमी अवधारणा में बुनियादी खोट है और उसका अन्धानुकरण हमें विकास की राह पर नहीं, बल्कि विनाश के गर्त में ही ले जा सकता है। हर गुजरते दिन के साथ यह स्पष्टतर होता जाता है कि मानव-जाति का भविष्य पशु-पक्षियों, कीट-पंतगों, वनस्पतियों की असंख्य प्रजातियों का अंधाधुंध विनाश करके नहीं सँवारा जा सकता बल्कि उनके संरक्षण-संवर्धन के द्वारा, उनके साथ इस पृथ्वी पर जो हम सबकी 'माँ' है—एक सह-जीवन जीते हुए ही भविष्य के शुभोदय की आशा की जा सकती है।

वस्तुत: इसी सद्‌चिन्ता के उत्स-बिन्दु से, कहते हैं- भारत भूमि की लौकिक कविता का प्रथम प्रस्फुटन हुआ था। मिथुनरत क्रौंच-युगल में से एक को निहत करने वाले व्याध को आदिकवि वाल्मीकि ने क्रोधान्ध होने से अधिक शोकार्त्त हो, श्राप दिया था और शोक, श्लोक बन गया था:-

मा निषाद। प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी: काम मोहितम्।

समकालीन कविता का नवीन उन्मेष आदिकवि की इसी प्राणाश्रयी चिन्ता से अपने को सम्बन्धित करता है। वह 'अपनी अस्थियों में आगामी प्रजातियों के लिए जैविक खाद बनने की खुशी का फासफोरस लिए लुप्त होती प्रजातियों के अन्तिम वंशधरों' के आगे अपराध- बोध से ग्रस्त और नत है, इस आत्म-प्रश्न का कोई यक्षतोषी उत्तर न ढूँढ पाता हुआ कि-"हम आगामी प्रजाति बन आये, अन्तिम क्यों हुए और अन्तक।'' यह सच है कि उसका अंत:करण आदिकवि के भूतदयार्द्र अंत:करण-सा निष्कलुष-निर्मल नहीं, लेकिन उसका चित्त आदिकवि के चित्त्त का ही अद्यतन संस्करण है। कभी ऋग्वैदिक ऋषि विश्वामित्र ने नदियों से एक संवाद किया था। सुदास पैजवन के पुरोहित ऋषि विश्वामित्र ने विपाशा और शतुद्री–व्यास और सतलुज–नदियों के संगम पर पहुँच कर उन ऋतावरियों यानी जलवालियों से मुहूर्त भर रुकने की, सु-पारा अर्थात् पार होने योग्य उथली हो जाने की, प्रार्थना की थी। आज का कवि नदी को उथली पाता है और खेद से भर उससे पूछता है-

'नदी।/तू इतनी दुबली क्यों है/और मैली-कुचैली/मरी हुई इच्छाओं की तरह मछलियाँ क्यों उतराई हैं/तुम्हारे दुर्दिनों के दुर्जल में'

और एक आह के साथ देखता है-

'आह ! लेकिन/स्वार्थी कारखानों का तेजाबी पेशाब झेलते/बैंगनी हो गई तुम्हारी शुभ्र त्वचा/हिमालय के होते भी तुम्हारे सिरहाने/हथेली भर की एक साबुन की टिकिया से/हार गई तुम युद्ध'

समकालीन कवि की चिन्ता-परिधि बहुत विस्तृत है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध में एक स्थल पर कहा है- "साधारण के बीच में ही असाधारण प्रकृति अभिव्यक्त हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है।'' और यह भी कि "केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है।'' और, "स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्‌भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशेष या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं, वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते; अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है, और हृदय के गहरे तलों से सम्बन्ध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतिशबाजी, जुलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की ओछी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे।'' आचार्य शुक्ल यह भी कहते हैं कि साधारण में

असाधारण का दर्शन निरहंकार चित्त से ही सम्भव है। उन्हीं के शब्दों में, "काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं), उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तबतक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।'' और प्रकृति के सब रूप मिलकर ही तो देश- जो कविता का भी देश है- की सृष्टि करते हैं। आचार्य शुक्ल के ही शब्दों में, 'देश-प्रेम है क्या ? प्रेम ही तो है। इस प्रेम का आलम्बन क्या है ? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, नाले, वन, पर्वत सहित सारी भूमि।'' इसी बोध-भूमि पर खड़े थे हमारे ऋषि कवि। वशिष्ठ-कृत पर्जन्य-स्तुति का जब मंडूकों ने हर्ष-ध्वनि से अनुमोदन किया तब प्रसन्न हो वशिष्ठ ने मंडूक-स्तुति में अपना विख्यात सूक्त कहा। व्रतचारी ब्राह्मणों के समान वर्ष पर्यन्त सोये रहने वाले और मेघों को भानेवाली वाचा बोलने वाले मंडूकों की यह स्तुति भारतीय भूमि और भारतीय मेधा की अनन्य उपज है। वशिष्ठ की इस मंडूक-स्तुति से ही तुलनीय है आज के कवि की 'मेढक के साथ वर्षा-मंगल' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ, लेकिन कितनी चिन्ताकातर।–

'नहीं, कानों और बादलों को लुभाने वाले/तुम्हारे गलफड़े नहीं/टाँगें तुम्हारी/भायी हैं यूरोप अमरीका की मांस-स्वाद-लोलुप/जिह्वा को/उनके दाँतों को खूब-खूब भाया है/तुम्हारी टाँगों को चिथोड़ना/उनमें छुपा हुआ स्वाद सभ्य रसज्ञों ने पहचाना है।/ समझो कि नीची और फीकी हो गयी है/मुर्ग की कलगी/हमेशा के लिए/अब जो तुम उछलोगे इस कमरे से बाहर/तो हो सकता है कि/भारत की वर्षा-भीगी मटियाली धरती पर नहीं/अमरीका की किसी सफेद, कपड़े से ढकी टेबुल पर/खाने की प्लेट में गिरो/और इस लम्बी छलांग के लिए तालियाँ बजाने को/बचे रहें हम/कुछ विदेशी मुद्राएँ खनकाते/मलेरिया के मच्छड़ों से घिरे/हाँ भाई मेढक ! आखिर तुम/एक गरीब मुल्क के वासी/बेचे जाते, खरीदे जाते/यहाँ के खनिजों, कंकालों, मेधावी मस्तिष्कों के साथ/खरीदे जाते उनके द्वारा/जो खरीदते हैं सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ/सरकारों, शरीरों, आत्माओं को भी/व्यापारी जो धन्ना सेठ/समाये दुनिया ऐसा पेट'

देश के स्वातंत्र्योत्तर इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना, वस्तुतः दुर्घटना–जिसने कवि-मानस को आत्यन्तिक रूप से उद्वेलित किया–के रूप में भोपाल गैस त्रासदी को चिह्नांकित किया जा सकता है: भले ही राजनीतिक स्वार्थ-साधक-राजनीति, चाहे संसदीय विपक्ष की ही क्यों न हो,–यह दर्जा प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा लगाये गये आन्तरिक आपात्काल को देती रहे। भोपाल में एक बहुराष्ट्रीय कंपनी यूनियन कार्बाइड के कीट नाशक संयन्त्र से निकली विषैली गैस ने एक सर्द रात बहुत ही ठंडेपन से दो हजार से अधिक लोगों को कीड़े-मकोड़ों की तरह मार दिया था। यह सच है कि भारतीय शासन-तन्त्र के शीर्षस्थ लोगों और नीति-नियन्ता नेतृ-वर्ग की अन्तरात्मा पर- जो देशद्रोही होने की हद तक लालची और सुविधा परस्त हो चुकी है- उसके रक्ताल धूम्र-चिह्न न छूटे हों, लेकिन भारतीय कवि के मानस पर उस विकराल त्रासदी की अधुल छाप सदा के लिए अंकित हो चुकी है। यह संभव

है कि दलाली से मालामाल होने की हिकमत में लगे प्रभावशाली राजनेताओं के आगे कवि असहाय-सा दिखे, पर वह सच कहने की अपनी टेक पर बजिद कायम है। वह खुली आँखों देख रहा है कि किस तरह बहुराष्ट्रीय कंपनियों की आक्टोपसी सूँड़ें देश के अर्थ-तंत्र को ही नहीं, भारतीय जन-मन के वेदन-तंत्र को भी अपनी लपेट में ले रही हैं। उस देश की भूमिज एवं खनिज सम्पदा और सस्ते मानव-श्रम का शोषण कर उस देश को ही ग्राहक-बाज़ार में बदल कर उसकी आर्थिक क्षमता का भी दोहन करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपना धन-जाल विश्व के तमाम विकासशील और अविकसित देशों में पसार रही हैं, जिनके पूरक के रूप में 'वर्ल्ड-बैंक' और 'आई. एम. एफ' जैसी संस्थाओं के फैले हुए ऋण-जाल हैं।

अज्ञेय की तरह सागर-मुद्रा आज का कवि भी निहारता है, लेकिन साथ ही वह विदेशी मुद्रा के प्रताप बल्कि प्रकोप को भी देखने से नहीं चूकता-

> 'वे पाँव ! जिन्हें पखारे सागर/हिन्द महासागर/उमड़-उमड़ कर/वे हों फाइव स्टार होटल की सीढ़ियाँ संगमरमरी/विदेशी पर्यटक के गोरे गुलाबी तलवे/मौजों के लिए मोजों से अभी-अभी निकले /वे हों काले धन और गोरे धन के धन्य-धन्य तलवे/भारतमाता के रुखड़े-सिकुड़े बिवाइयों भरे गोखरू-बिंधे पाँव नहीं/कंटीले तारों से घिरे सागर-तट पर, सागर के सन्निकट/जिन्हें जाने भी न देगा/रुआब और अदब से भरा दुरंगा दरबान'

कहाँ तक गिनायें, कल तक प्रकृति के जो क्षेत्र मानव के आत्मिक संपोषण और अकृत्रिम आनन्द के कारण थे, आज़ कवि के लिए नयी चिन्ता के विषय बन रहे हैं। नवोदित-नवें दशक में उभरे-कवि एकान्त श्रीवास्तव का कंठ ऐकान्तिक नहीं, वह हम सब के सामूहिक मन की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है, जीवन की निरन्तरता के आश्वासन से हमारे शंकाकुल चित्त को भरते हुए जब वे कहते हैं--

> 'अन्न/पक्षियों की चोंच में बैठ कर/करेंगे अपनी यात्रा/माढ़ बनकर/गाय का कंठ करेंगे तर/और अगली सुबह/उसके थन में/दूध बनकर मुस्करायेंगे/अन्न हमेशा-हमेशा रहेंगे/प्रलय से पहले/प्रलय के बाद/हमेशा-हमेशा/अपने दूधियापन से/जगर-मगर करते गाँव का मन'

स्थान-सीमा के कारण अन्य अनेक समान महत्वपूर्ण कवियों और कविताओं का चाहते हुए भी उल्लेख तक न कर सकने की विवशता के लिए क्षमायाची होते हुए, हिन्दी की प्रकृतिपरक कविताओं के भूगोल के विनम्र विहगावलोकन के अन्त में- क्योंकि अवलोकक के गिद्ध-आँखें पाये होने का कोई दावा नहीं- एक ही बात कहनी है-भविष्य की कविता हरी है। इसका आशय यह भी कि पिछले दौर की प्रतिरोध की कविता का रंग लाल था। प्रतिष्ठित विचारधाराओं की अपमृत्यु की-इस शताब्दी की भी-अवसान-बेला में प्रतिरोध की कविता का रंग हरा ही हो सकता है। लाल-रंगी कविता के क्रियात्मक आधार के रूप में यदि जुझारू सर्वहारा-चाहे आदर्श के रूप में ही उपलब्ध, वामपंथी दलों के समर्पित कार्यकर्ताओं और क्रान्तिकारी दलों के हिरावल दस्तों को चिह्नांकित किया ज़ा सकता है तो हरी कविता के क्रियात्मक आधार के रूप में 'चिपको

आन्दोलन' और 'बड़े बाँध विरोधी' आन्दोलन और ऐसे ही अन्य क्षेत्रीय तौर पर उपजे जनान्दोलनों और निष्ठावान पर्यावरण-सैनिकों को रेखांकित किया जा सकता है। ज़हाँ तक वैचारिक आधार का सवाल है, लाल कविता के पास एक विचार- धारा थी जो अन्ततः देशज नहीं थी, जबकि हरी कविता को वैचारिक आधार प्रदान करने में वैदिक औपनिषदिक काव्य और लौकिक काव्य से लेकर लोकगीतों तक की एक महत्वपूर्ण भूमिका होगी। इससे कविता में एक नयी वैश्विक चेतना के साथ-साथ अपने सांस्कृतिक मूलों को पहचानने की प्रवृत्ति विकसेगी जो उसे अभिनव प्राण-रस से ऊर्जस्वित करेगी। इस हरी रंग-धुरी पर ही अमीर देशों और अमीर लोगों के द्वारा किये जा रहे पृथ्वीनाशी जीवन विरोधी दोहन-शोषण के विरुद्ध व्यापक जन-मन को संगठित किया जा सकता है। इसलिए अनाश्वस्त महामति आलोचकों को चाहे कविता का भविष्य हरा न दिखता हो—सावन का अंधा कहे जाने के अप-विरुद के डर के बग़ैर, बेखटके—यह कहा जा सकता है कि भविष्य की कविता हरी है।

ठूँठ

ठूँठ यह है आज !
गयी इसकी कला,
गया है सकल साज !
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित, झुकता नहीं अब यह धनुष–सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,
झरते नहीं यहाँ दो प्रणयियों के नयन–तीर।
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद !

निराला (रचनाकाल : १९३७)
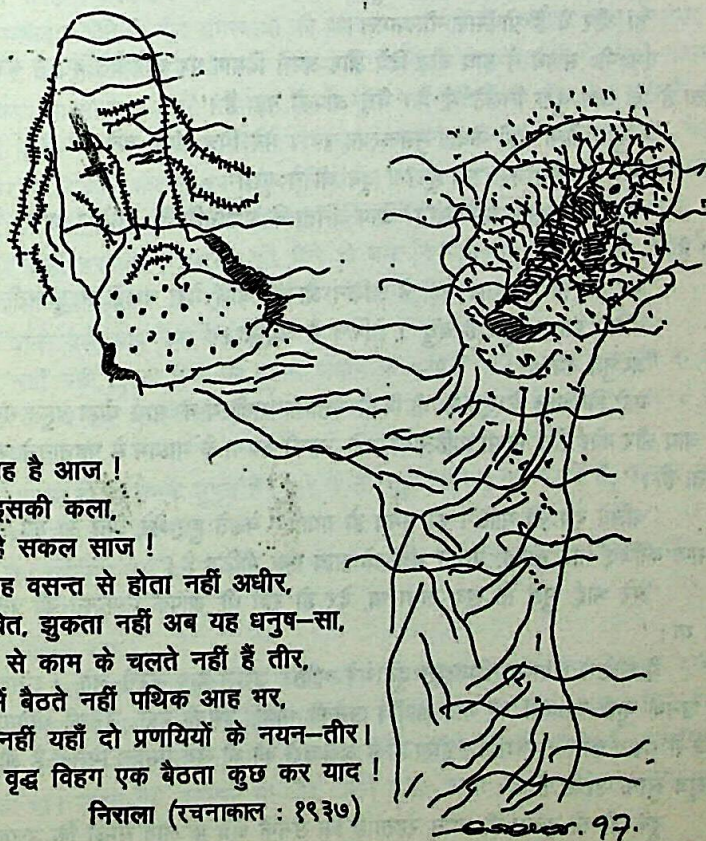
कहानी

नेता

रामदरश मिश्र

उस दिन मेरे एक मित्र राजनेता के यहा एक ठिगना सा युवक दिखाई पड़ा। ठेठ पुरबिहा हुलिया था। मेरे मित्र ने परिचय कराया –"ये हैं शिवदत्त दूबे एम०पी०। ये आपके ही जिले के हैं।''

"अरे हां भाई, इनके तो बड़े नाम हैं।''

"धन्यवाद और आप ! उन्होंने पूछा।

"हां और ये हैं प्रोफेसर नीलकमल।''

एम०पी० साहब ने हाथ जोड़ दिये और अपने दिमाग पर जोर देते हुए से बोले–"मुझे लगता है कि आप कुछ लिखते भी हैं। मैंने आपको पढ़ा है।''

मैं कुछ बोला नहीं केवल मुसकराता रहा। मेरे मित्र अंदर चले गये थे।

"क्यों मैं गलत कह रहा हूँ ?'' दूबे जी ने पूछा

"नहीं आप गलत कैसे कहेंगे? आप जनता के प्रतिनिधि हैं। लेकिन आपने मेरा क्या पढ़ा है ?

"अब यह तो मुझे याद नहीं है लेकिन आपकी चीजें मेरी नजरों से गुजरती रही हैं।

"चलिये इतना बहुत है बंधु । लेकिन है अद्‌भुत।''

"अदभुत क्या ?''

"यही कि आज के युग में भी किसी नेता का साहित्य के साथ थोड़ा बहुत संबंध बना रह जाय और कोई नेता किसी साहित्यकार को उसकी रचना के माध्यम से पहचानने का प्रयत्न करता हो।''

"चलिये दूबे जी मीटिंग का समय हो गया।'' कहते हुए मेरे मित्र आ गये और बोले –"माफ कीजिए भाई साहब, प्रधान मंत्री के साथ एक मीटिंग है।''

"अरे भाई, मुझे तो खुद जाना था, देर हो रही थी, आपके निकलने की प्रतीक्षा कर रहा था।''

मैं लौटने लगा तो शिवदत्त दूबे मेरे भीतर उछल-कूद करने लगे । संसद में दिये गये उनके कुछ वक्तव्यों की याद आयी। उनकी भाषा, उनकी बात, उनकी भंगिमा, उनके लहजे से संसद का तो मनोरंजन होता ही है अखबारों को भी खूब मसाला मिलता है और पाठक भी खूब लुत्फ उठाते हैं।

दूबे जी को इतना ही ध्यान रहता है कि उनके क्षेत्र के लोग समझें कि उनका सांसद

कितना ताकतवर है, संसद में दहाड़ता रहता है–अखबारों की सुर्खियों में छाया रहता है।

दूबे जी के बारे में कुछ सुन तो रखा था किन्तु इस बार जब मैं अपने शहर गया तो वहां के विश्वविद्यालय के अपने कुलपति मित्र जोशी जी से मिलने चला गया। वे पहले वहीं राजनीति विभाग के अध्यक्ष रहे थे। जाने कैसे दूबे जी का नाम आ गया। जोशी जी ठठाकर हंसे।

कुछ देर बाद बोले-"जानते हो इसे मैंने कई बार अपनी कक्षा से और दो बार विश्वविद्यालय से निकाला था।''

"क्यों भला ?''

"अरे संसद में उसका उछलना-कूदना देख कर भी कारण पूछना बाकी रह गया है?''

"तो भी।''

"अरे यह तो तुम आसानी से समझ ही रहे होगे कि यह छात्र नेता रहा ही होगा। छात्र नेता भी दो तरह के होते हैं। एक वे होते हैं जो कुछ पढ़े-लिखे भी होते हैं, कुछ तेजस्वी होते हैं, कुछ समझदार होते हैं और समस्याओं की पहचान कर पाते हैं। आखिर आज के नेता जो मंत्री हैं और देश का भला-बुरा संचालन कर रहे हैं वे भी तो छात्र नेता ही थे। इन्हें नासमझ तो नहीं कहा जा सकता। दूसरे नेता वह हैं जो कुछ नहीं होते हैं तो नेता बन जाते हैं और वे समझते हैं कि मंचों से चीखना-चिल्लाना, हड़ताल कराना, मारपीट करना-कराना, बेहूदी हरकतें करना, निर्लज्ज भाव से अपनी बेवकूफियों का प्रदर्शन करना, क्लास में न जाकर काफी हाउस या टी स्टालों पर बैठे रहना ही नेता होने की निशानी है। यह दूबे इन्हीं में से एक है। इसकी इन्हीं हरकतों के कारण इसे मैंने दो बार निकाला था लेकिन इसके नेता पिता गिड़गिड़ाये तो इसे सुधरने का एक मौका और देना पड़ा।''

"यानी जैसा बाप वैसा बेटा।''

"नहीं नहीं, इसके पिता जी पुराने जमाने के कांग्रेसी रहे हैं-जब राजनीति के साथ मूल्य जुड़े थे। वे उस जमाने के एम०ए० हैं और प्रसिद्ध वकील रहे हैं, अरे तुम जानते होगे यशराज जी को।''

"अच्छा तो ये उनके सुपुत्र हैं। अरे वे तो बहुत यशस्वी व्यक्ति रहे हैं, उनकी समझ और शराफत का क्या कहना?''

"हां इसीलिए जब वे मेरे पास आते थे तो उनके नाते मुझे इसे एक अवसर और देना पड़ता था। लेकिन।''

"लेकिन क्या''

"अरे भाई, वही ढाक के तीन पात। यह नहीं संभला। इसके पिता जी बहुत दुखी हो गये। उन्हें लगा कि यह लड़का तो क्रिमिनल होता जा रहा है। बाहर तो उत्पात किये ही हुए था, उनके लिए भी आतंक बन गया। जब वे समझाते थे तो उनकी गांधीवादी राजनीति को गाली देता था। उनसे पैसे वसूलता था और अपने गलत कामों की सिफारिश कराना चाहता था।''

"फिर''

"वे एक दिन मेरे पास आये और हताश से बोले-"क्या बताऊँ कुलपति जी, मेरी यह इकलौती संतान न जाने मुझे किस जनम के पाप की सजा दे रही है। यह लड़का तो कुछ भी नहीं बन सका और जो बन रहा है वह बहुत अप्रिय है। आप ही कुछ समझाइए।''

उस दिन मेरी कुंडलिनी जाग्रत हो गयी बंधु, और यशराज जी से मैं बोला-"आप निराश न हों दूबे जी, रास्ता मिल गया । आपका पुत्र बहुत योग्य-सिद्ध होगा।''

उन्होंने मेरी ओर इस तरह देखा जैसे मैं मजाक कर रहा होऊँ। और जानना चाहते रहे कि मैं आगे क्या कहता हूँ।

"आप इसे इस बार चुनाव में टिकट दिला दीजिए।''

"अरे इसे टिकट कौन देगा?''

"देखिए इसे इस बार चुनाव में टिकट दिला दीजिए।''

"आप भी क्या मजाक कर रहे हैं कुलपति जी। उस नालायक को टिकट कैसे मिलेगा ? और उसे वोट कौन देगा ?''

"जैसे तमाम नालायकों को मिल रहा है, जैसे तमाम खूनी, डकैत, अपराधी टिकट पा रहे हैं, वैसे यह भी पा जायेगा। और वैसे ही जीत भी जायेगा।

"पाते हों तो पायें, मैं इसके लिए टिकट की सिफारिश नहीं करूँगा। इसका जनाधार भी क्या है?''

"अरे छोड़िए दूबे जी यह सारा नैतिक ऊहापोह। अरे जब पूरी राजनीति ही इसी ओर जा रही है तो आप इसे कब तक बचाइएगा ?''

"नहीं नहीं यह नहीं होगा। मैं इस नालायक को टिकट नहीं दिलाऊँगा ?'' कहते हुए दूबे जी चले गये। लेकिन लगता था कि मेरे ज्ञान का वाण उनके भीतर कहीं चुभ गया था। और एक दिन सुनाई पड़ा कि शिवदत्त चुनाव लड़ रहा है।''

"तब''

"अरे तब क्या ? वह चुनाव लड़ा और जीत गया। विश्वविद्यालय की उसकी गुंडापार्टी ने उसका खूब प्रचार किया। खूब गुल खिलाये। खूब जाली वोट डलवाये, बूथ कैप्चर किये।''

"तब जानते हो क्या हुआ ? एम०पी० बनने के बाद वह एक दिन मुझसे मिलने आया। मैंने उसे भीतर बुला लिया। वह आया तो मैंने कहा-बैठिए। वह बोला-"सुनो जोशी, अब मैं तुमसे बड़े पद पर हूँ। मेरे आते ही तुम्हें कुर्सी से उठ जाना चाहिए था।''

"भूल हुई सर, ये लीजिए।'' मैं खड़ा हो गया। "अब आप बैठें तो मैं बैठूँ।''

वह अकड़ कर कुर्सी पर बैठ गया और बोला-"तुम्हें याद है, तुमने दो बार मुझे निकाला था। अब मैं तुम्हें निकालूँगा।''

"यह तो बहुत अच्छी बात होगी सरकार ! मैं तो छोड़ना चाहता हूँ यह पद, लेकिन कुर्सी ही मुझे नहीं छोड़ती। आप मुक्ति दिला दें तो आपकी यह कृपा होगी।''

"ठीक है ठीक है, देखूँगा।'' कह कर वह चला गया और मैं अकेले में हँसता रहा,

हँसता रहा। मेरा पी०ए० बहुत आहत लग रहा था। बोला- 'सर इसे निकाल क्यों नहीं दिया, बड़ी बद्तमीजी दिखा रहा था।''

"अरे भाई अब वह छात्र नेता नहीं है, एम०पी० है। उसे इस तरह निकाल देना आसान नहीं है और निकाल देता तो यह आनंद कहाँ से मिलता जो मिला है। यह हँसी कहाँ मिलती जिसे वह दे गया है। अरे भाई, आफिस से कुछ अलग हट कर भी जीना सीखो। और आखिर यह अपना ही बच्चा है।'' मैं फिर हँसने लगा। इस बार पी०ए० भी हँसने की सजा भुगतने लगा।

जोशी जी की बात सुन कर मैं भी हँसने लगा। वे भी हँसने लगे।

हँसी से उबरे तो जोशी जी बोले-"बड़ा अहमक है दूबे।''

"लेकिन एक बात है भाई, जिसके लिए इसकी बदतमीजियां माफ की जा सकती हैं।''

"वह क्या है ?'' आँखों में हँसी कसे हुए जोशी जी बोले।

"भाई, इस जमाने में बड़े बड़े दिग्गज नेताओं का साहित्य से कोई वास्ता नहीं रह गया है और वे साहित्य-संस्कृति के भयानक अज्ञान से अपने को मंडित किये हुए इस सांस्कृतिक देश का दर्प के साथ नेतृत्व कर रहे हैं, तब यह छोटा आदमी किसी साहित्यकार को उसके साहित्य के माध्यम से पहचानने की कोशिश तो कर रहा है।''

जोशी आँखों में शरारत भरे मुझे देख रहे थे।

"और क्या इत्तफाक था बंधु कि इस आदमी से भेंट होने से पूर्व मैं एक साहित्यिक समारोह से लौटा था। वहाँ एक बड़े नेता पधारे हुए थे। चाय-पान के वक्त लोग परस्पर मिल जुल रहे थे। वे नेता कुछ क्षण के लिए अकेले हुए तो मैं उनके पास पहुंचा और उन्हें अपना परिचय दिया। और परिचय भी इसलिए दिया कि नेता साहित्यकार के रूप में भी जाने जाते हैं यानी किसी समय पत्रिकाओं में उनकी कविताएं भी छपी थीं। मैं कभी इन लोगों से मिलता जुलता नहीं लेकिन इतनी तो उम्मीद करता ही हूँ कि ये लोग और खासकर साहित्यिक छवि धारण करने वाले लोग मुझे जानते ही होंगे, जानना ही चाहिए। लेकिन जब इस नेता को अपना परिचय दिया तो वह चुप रहा। उसके चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई। इच्छा हुई कि काफी उसके मुंह पर फेंक कर सरक जाऊँ। सरक तो आया किन्तु काफी कैसे फेंक सकता था। इस खिन्न मानसिकता में जब अपना यह दूबे मिला और मेरे साहित्य की बात की तो ताज्जुब भी हुआ और खुशी भी। यह मामूली नेता मेरे साहित्य को जानता तो है।''

"चलिए वह किसी के साहित्य को जानता हो या न जानता हो आपके साहित्य को तो पहचान ही गया।''

जोशी जी व्यंग्य से मुसकरा रहे थे।

"आखिर साहित्य किसका है ?'' कह कर मैं भी मुसकराया।

"और आखिर शिष्य किसका है ?'' जोशी जी फिर मुसकराये और हमारी मुसकानें ठहाके में बदल गयीं।

कहानी

संवेदना का सच

अमरीक सिंह दीप

सख्त सदमा लगा उसे। अकल्पनीय ही है सब उसके लिए। अभी-अभी जो घट गुजरा है। हालांकि अयाचित नहीं है। असंभव अब कुछ भी नहीं रहा। युग ही ऐसा आ गया है। किसी के साथ कहीं भी कुछ भी घट सकता है। भरोसा अब किसी भी बात का नहीं रहा। पर अभी-अभी जो करतब हुआ है वह सन्न कर गया है उसकी संवेदना को। उसकी प्रगतिशील सोच अचकचा कर रह गई है।

बाहर धूप है। कुनकुनी। गुनगुनी। सड़क पर चल रहे वाहनों की पीठ पर बैठ कर झूला झूलती। हवा में बर्फीली ठिठुरन है। कपड़ों के नीचे पहुंच कर नंगे अंगों में चुटकियां काटती। बावजूद इसके मौसम का शरारतीपन उसे छू नहीं रहा।

भीड़ चेमेगोइयां कर रही है-'कमाल है भई...यह तो हद ही हो गई। दिनदहाड़े। खुले खज़ाने। न कोई डर, न खौफ...'आंख से काजल चुराने के किस्से तो सुने थे पर आज देख भी लिया।'

'प्रिय बन्धु अभी क्या देखा है...जिस हिसाब से फिल्म और टेलीविजन वाले तरक्की कर रहे हैं उस हिसाब से सुरक्षित कुछ भी नहीं रह जायेगा।' एक जुकाम से भर्रायी आवाज।

उसका साथी प्रदीप शर्मा उसकी मूर्खता पर चुटकी ले रहा है-'मुझे पहले ही मालूम था। उन्हें देखते ही पहचान गया था मैं। इसीलिए मैं उसके कहने के बावजूद रत्ती भर परे नहीं सरका। तुम्हीं पर दया का दौरा पड़ा था। यह तो कहो, बच गए नहीं तो तुम्हें भी थूक लग गयी होती। भ़लाई वलाई का जमाना नहीं रह गया अब। अपने मतलब से मतलब रखो बस।'

अजय प्रकाश का चेहरा उत्तेजित है-'मैं तो देखते ही तड़ गया था। हरामिन, दिन में ये काम करती है, अगर दांव न लगा तो रात को दूसरा काम तो है ही। गन्दे नाले पर यही सब सूप, डलिया बुनने, कोयला बीनने और कबाड़ बटोरने का काम करती हैं।' अजय प्रकाश की दायीं आँख में तीन चार साल पहले कोई जटिल ऐब आ गया था। इन्जेक्शनों, दवाईयों पर ढेरों रुपया फूंकने के बावजूद उसकी दायीं आंख का रह-रह कर फड़कते हुए दब जाना दूर नहीं हुआ। उत्तेजित ढंग से अपनी बात कहते हुए उसकी दायीं आंख कई बार दबी। बिज्जू जैसा नोकीला जर्द चेहरा तमतमा उठा।

साथियों की बातें सुन रहा है वह चुपचाप। सिर झुकाये। ग्लानि और अपराधबोध ने उसकी गरदन को दबोच रखा है...उसके चलते अगर किसी का बड़ा नुकसान हो जाता तो वह खुद को कभी क्षमा नहीं कर पाता। उसकी आत्मा कराह उठी... आखिर किस रूप में गलत था वह ? जब वह चढ़ाई शुरू होते ही रिक्शे से उतर कर चढ़ाई खत्म होने तक रिक्शे के साथ-साथ

पैदल चला करता है। खाना खाते वक्त अगर सामने कोई कुत्ता या बिल्ली बैठी हो तो पहले उसे रोटी तोड़ कर डालता है। एक बार उसके सीलिंग फैन पर चिड़िया ने घोंसला बना लिया था। पूरी गर्मी उसने किराये का टेबलफैन लेकर काट दी लेकिन घोंसला न छितरा जाये कहीं, इस डर से पंखा नहीं चलाया। वह जानता है, यह सब भावुकता है। फिर भी उसे यह अच्छी लगती है। उसके अन्दर कहीं यह बात घर कर चुकी है कि सारे सकारात्मक इन्सानी जज्बातों की नींव भावुकता ही हुआ करती है। दया, करुणा, नेकी, ईमानदारी, प्रेम भावुक आदमी ही कर सकता है। भावुकता ही आदमी को संवेदनशील बनाती है और संवेदनशील होना ही पहली पहचान है इन्सान होने की।

वह एक बार फिर से घटना की तरफ लौटता है और उसके शुरू के सिरे को पकड़ने का प्रयास करता है।....

उन तीनों ने बड़े चौराहे से बस पकड़ी थी। कचहरी में नदी-सी बहती भीड़ और वकीलों की घाट के पण्डों-सी गुमटियां। लगातार दो-तीन घन्टे इस भीड़ में बहते हुए प्रदीप शर्मा, अजय प्रकाश और उसकी लातों की कचूमर निकल गयी थी। थकान और भूख चिलकने लगी थी, पर बावजूद इसके जिस काम से वे तीनों आये थे वह हो गया था। उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली यूनियन के सचिव के आक्रामक विरोधी रुख से त्रस्त होकर कारखाने के मैनेजमेंट ने क्षेत्रीय पुलिस से सांठ-गांठ कर सचिव पर धारा एक सौ इक्यावन का केस खड़ा करवा दिया था। सचिव रोज सुबह कारखाना शुरू होने से पहले गेट मीटिंग में मैनेजमेंट द्वारा ली जा रही दलालियों के कच्चे चिट्ठे खोलता था। अब मैनेजमेंट की यह कोशिश थी कि सचिव की किसी भी तरह जमानत न होने दी जाये और उसे जेल भेज दिया जाये। पुलिस को मध्यस्थ बना कर ज्यूडीशरी को खरीदने की कोशिश की गई थी पर न्यायपालिका बिकी नहीं थी और उनके नेता की जमानत हो गई थी।

दस मिनिट में ही पूरी बस भर गयी थी। पीछे वाली लम्बी सीट पर जहां वे तीनों बैठे हुए थे, दो और सवारियां आकर बैठ चुकी थीं। सीट पर अब किसी और सवारी के बैठने की गुंजाइश नहीं थी।

जनवरी का सर्द बर्फीली हवा वाला महीना था, लेकिन जिस्म से जिस्म भिड़ा होने के कारण बस में सर्दी नहीं घुस पा रही थी। सवारियों की सांसों की सिम्फनी ने बस की हवा में सुखद् आंच भर दी थी। ड्राइवर की सीट के पास लगा टेपरिकार्डर पूरे मूड में बज रहा था- *हाथ मऽ मेंहदी, मांग मऽ सेनुरवा/बरबाद कजरवा हो गइला/बारे बलम परदेस मऽ छाए/उलझन में सबेरवा हो गइला...*

कलेजे पर पके हुए महुए-सा झरता सायरा बानू फैजाबादी का गमकता हुआ स्वर ढोलक की ठसक भरी धमक और हारमोनियम की सुरीली रूमक। गुर्राती हुई बस में गूंजता हुआ संगीत भला लग रहा था। बस उस कर्कशा स्त्री की तरह लग रही थी जिसके मन में मोहब्बत का झरना बहता है। पेट की भूख पृष्ठभूमि में चली गई थी। अन्दर एक दूसरी ही भूख कुनमुनाने लगी थी। सनसनाता हुआ संगीत रक्त को मथने लगा था। सवारियों के चेहरों

पर चमक और आंखों से रस झरने लगा था।

परेड के स्टाप पर थोड़ी देरे के लिए बस रुकी थी। सवारियों के उतरते ही चढ़ने वाली सवारियों के साथ वे तीनों भी चढ़ी थीं। तीनों का हुलिया ग़रीबी की रेखा से नीचे ही था। चेहरों पर न ताजगी, न उत्साह। एक चीकट सा फटीचरपन, जो कि गरीब की जिन्दगी का स्थायी भाव होता है, उनके हुलिए में घुला-मिला हुआ था।

एक अधेड़ थी। गर्दिशों की आग में झुलस कर खड़ंजे में बदल गई ईंट सरीखा बदन। असमतल, आड़ा तिरछा। झुर्रियों का खाया। उसकी गंदी बदरंग धोती से सड़ते हुए कच्चे चमड़े की सी बास उठ रही थी।

दूसरी युवती थी। उम्र के ज्वार ने, गरीबी के बावजूद, उसके सांवले रंग में लुनाई घोल रखी थी। उसकी सूती लाल धोती मैल की मार से धूसर लोहित रंग में तब्दील हो चुकी थी। युवती की गोद में बच्चा था। पांच या छः महीने का। यूं बच्चा जाग रहा था पर वह आम बच्चों की तरह न हाथ पांव मार रहा था, न रो रहा था। चुपचाप गोद में दुबका हुआ था। दोनों ही औरतों के मुंह पान मसाले से भरे हुए थे।

तीसरी एक छोटी सी लड़की थी। मुश्किल से आठ या नौ साल की। दो, सवा दो फुटा कद। गन्दी फ्राक। बाल बिखरे। आंखों में कीचड़। जैसे महीनों से नहाई ही न हो। शरीर पर मैल की तहें ही तहें। फिर भी उसके मासूम चेहरे पर ऐसा कुछ था जो देखने वाले के मन में अपराध बोध भर देता था।

पहली उन तीनों से कुछ दूर हट कर खिड़की के पास जा कर खड़ी हो गई थी। बच्चे वाली युवती सीटों के बीच वाले गलियारे की ओर बढ़ गई थी।

जैसे ही बस चली थी छोटी लड़की हाथ में कोई पकड़ न होने के कारण उनके सामने तेजी से आगे पीछे लुढ़कने लगी थी।

वह सहम गया था। आशंका उसके सिर पर सवार हो गई थी कि लड़की अब गिरी तब गिरी। उसकी संवेदना सिहर उठी थी। टीसें सी उठने लगी थीं भीतर। आत्मा की धिक्कार उसे ग्लानि के गर्त में धकेले दे रही थी। आखिर उससे रहा न गया। अपनी देह को सिकोड़ कर छोटा किया था उसने और बालिश्त भर बैठने की जगह बना कर उसने लड़की को पुकार कर बैठ जाने का इशारा किया था।

कुछ देर तक अचकचाहट भरी रहस्यमय स्थिति बनी रही। लड़की ने पहले अधेड़ स्त्री के चेहरे की ओर देखा था फिर युवती के। सांकेतिक भाषा में मूक सा संवाद हुआ कुछ। इसके बाद वह युवती लपक कर आगे बढ़ी और लद्द से उस बालिश्त भर रिक्त स्थान में आ-धंसी। युवती का लगभग पूरा बायां नितम्ब उसकी दायीं जांघ पर लद गया। सिटपिटा गया वह। जल्दी से अपने समेटे हुए शरीर की गठरी को उसने और कसा। दूसरी ओर वाले मुसाफिर ने भी खुद को कम्पैक्ट किया। बैठने की पूरी जगह मिलते ही युवती ने अपने बदन को ढीला छोड़ दिया। उसके अंगों की आंच और उसके मुंह से आ रही पान मसाले की तेज गंध से वह खुद को बचा नहीं सका। युवती ने बड़े निस्पृह ढंग से अपने ब्लाउज की नीचे वाली एक हुक खोल

कर अपना बायां स्तन बाहर निकाला, बड़े इत्मीनान से उसे गोद के बच्चे के मुंह में डाला और उसके बाद बच्चे पर धोती का आंचल फैला दिया।

प्रदीप शर्मा, अजय प्रकाश और उसने झेंप के मारे दूसरी ओर मुंह घुमा लिया था। आस-पास के बाकी मुसाफिरों ने भी अपना-अपना ध्यान दूसरी ओर उलझा लिया था। इसी बीच युवती के सामने न जाने कब आ खड़ी हुई उस लड़की ने अपना करतब शुरू कर दिया था। लड़की के सामने जो मुसाफिर खड़ा था उसने आहिस्ता से अपनी छोटी-छोटी बीच वाली दो उंगलियां मुसाफिर की हिप पाकेट में सरका दी थीं। जैसे ही पाकेट में रखे नोट उसने बाहर खींचे थे, युवती की बगल में बैठे युवक ने, जो यह लीला बड़े गौर से देख रहा था, लड़की पर झपटा था- 'ए ऽ ई , चल निकाल रुपये.....'

'रुपिया ? कहां ऽऽ ? कहां है रुपिया ?... लड़की के मैल भरे चेहरे पर हवाईयां उड़ने लगी थीं। नन्हीं उंगलियों की कैंची खोल दी थी फौरन उसने। नन्हीं उगलियों के बीच फंसे नोट नीचे गिर गए थे।

लपक कर रुपये उठा लिए थे युवक ने-'ये क्या है ?....चोट्टी कहीं की....'
रुपये। लड़की। पाकेट। सूत्र खुलते ही बस के सब मुसाफिर उलर आये थे इस ओर- 'पकड़ो. .. मारो.... चोर.... चोट्टी....'

आक्रामक मुद्रा में बढ़े लोग सामने आठेक साल की छोटी-सी बच्ची को देख ठिठक गए थे। हादसे की लपेट में आ गए उस अधेड़ मुसाफिर को पहले अपनी जेब के कटने का एहसास ही नहीं हुआ लेकिन जैसे उसने पीछे घूम कर पहले अपने पीछे खड़ी लड़की और फिर' अपनी हिप पाकेट को देखा था उसके चेहरे का रंग उड़ गया था।

रुपये जब उसे लौटाये गये तो उसका पसीने-पसीने हो गया जर्द चेहरा कांपने लगा। आंखें डबडबा गईं। आवाज भर्राने लगी। उसकी भर्राई आवाज में उसकी व्यथा-कथा टूट-टूट कर उसके आंसुओं के साथ बाहर आ गई थी.... पूरे एक हजार रुपये हैं.... महाजन से कर्ज काढ़ कर ला रहा है.... कल बिटिया का गौना करना है.... भगवान भला करे भय्या तुम्हारा... बेपत होने से बचा लिया तुमने हमें...

इससे पहले कि भीड़ सचेत और संगठित हो, कन्डक्टर ने उस छोटी लड़की को दबोच लिया और बस रुकवाकर उसे झोंटे से पकड़ बस से बाहर धकेल आया। इसके बाद दोनों औरतों को भी धकियाता हुआ बाहर कर आया-'इन साली जेबकतरियों की वजह से बदनाम हम बस वाले होते हैं। अब कोई कैसे पता करे कि कौन शरीफ है और कौन जेबकतरा ?..'
स्तब्धता की स्थिति में कितनी देर तक जकड़ा रहा वह। सब कुछ उसकी आंखों के सामने घटा है फिर भी उसे विश्वास नहीं हो रहा। ऐसा कैसे हो गया ? बच्चे और फूल तो एक समान होते हैं। निष्कलंक, निष्पाप। अपनी महक से कुल आलम महमहा देने वाले। फिर।...

वह अपने आपको इतना जिच, इतना पराजित, इतना थका हुआ महसूस कर रहा था कि कोई अन्धेरा कोना अगर मिल जाता उसे तो उसी में दुबक जाता वह।

भीड़ अलग भड़की हुई थी-' ये बस वाले साले भी मिले हुए हैं, इन औरतों से। जभी

तो बस रोक कर फटाफट उतार दिया उन्हें। सब साले चोर हैं।'

ड्राइवर ने बस रोक दी थी-'हम साले अगर चोर हैं, तो चलो ले चलता हूं बस थाने। पकड़वा दो हमें।...हमें क्या पड़ी है ग़लत काम करने की। मालिक तन्खाह नहीं देता क्या हमें?'

बस के रुकते ही भड़की हुई भीड़ ठण्डी राख में तब्दील हो गई-'अमा यार, तुम तो नाहक ही खफा होने लगे... चलो, चलो, बस चलाओ ज़ल्दी।'

बस फिर दौड़ने लगी थी। दौड़ती हुई बस के साथ-साथ विचार भी दौड़ रहे थे उसके. .. आखिर इन सबके पीछे कौन सी स्थितियां सक्रिय हैं ? क्यों घट रहे हैं ऐसे हादसे ? क्यों 'विवश हो गया है गरीब यह सब करने के लिए ? एक छोटी सी, नन्हीं-मुन्हीं लड़की, जिसकी उम्र पढ़ने लिखने, स्कूल जाने और खेलने कूदने की है। जिसे अभी दुनिया के छल छद्म, धोखे-फरेब से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए, वह इतने शातिर ढंग से गिरोहबन्द होकर लोगों की जेब काट रही है। क्या जरूरत पड़ गई उसे यह सब करने की ? किन कारणों के चलते वह यह सब करने को विवश हुई ? शायद वही भूख, गरीबी, अभाव और अशिक्षा। इसका बस्ता, इसकी किताबें, इसका स्कूल किसने छीन लिया है इससे ? इसके खेल-खिलौनों, इसके बचपन का अपहरणकर्ता कौन है ? इसकी भूख पर अपराध की काली मोहर किसने लगा दी है ? कौन है अपराधी ? किसका कसूर है यह ? धर्म, ईश्वर या भाग्य ? किसने आविष्कृत किए थे ये शब्द ? किसलिए आविष्कृत किये थे ? क्यों बन्दरिया के मरे बच्चे की तरह सीने से चिपटा रखा है हमनें इन्हें ? अगर ईश्वर अन्याय और विषमता नहीं मिटा सकता तो क्या औचित्य है इसके होने का ? अगर धर्म आदमी और आदमी के बीच असमानता की खाई नहीं पाट सकता तो क्यों बोझ की तरह पीठ पर लादे फिरे इसे आदमी ?... वह भीतर ही भीतर बुरी तरह से क्षुब्ध था- अजीब है यह मुल्क ! जो गरीबों के लिए दुनिया का सबसे बड़ा नर्क है और अमीर आदमी के लिए दुनिया की सबसे बड़ी ऐशगाह !! और जिसमें वह पैदा हुआ है।....

अजय प्रकाश अभी भी उत्तेजित है। उसकी बायीं आंख का फड़फड़ाना और तेजी से दबना बदस्तूर जारी है- 'हमारे साथ भी ऐसा ही दांव हो गया था त्यौरस साल। गोरखपुर से छपरा मेल में हम अपने बाल-बतरु के साथ बैठे रहे गाड़ी में। लखनऊ स्टेशन पर भारी भीड़ के साथ ऐसी ही तीन औरतें चढ़ आयीं थी डिब्बे में। उनमें से एक हमारे बक्से पर बैठ गयी थी। बाकी हमारी मेहरिया के सामने खड़ी हो गयी थीं। बक्से पर बैठी औरत ने उन्नाव आने से पहले ही बक्से का सारा कीमती सामान पता नहीं कैसे पार कर दिया था। उन्नाव स्टेशन पर जब वे उतर गयीं और भीड़ कम हुई तो मेहरिया बक्से का टूटा ताला देख कर दय्या-मय्या करने लगी।....'

अजय प्रकाश की आप-बीती सुन कर वह और भी गुमसुम हो गया। अन्दर का सन्नाटा और भी घना होता चला गया।........बाहर हवा के साथ धूप वैसे ही बह रही है। सड़क पर तिरछी होकर गिर रही इमारतों की परछाइयों के साथ धूप-छांव का खेल खेल रही है। अब उसे न धूप अच्छी लग रही है, न हवा।

बस की सवारियों के आक्रोश ने एक दूसरी ही तरह की बहस का रूप ले लिया है।

'कौन सी बथुए की जड़ हासिल हो गई आजादी मिल जाने पर हमें ? आजादी की सारी रबड़ी-मलाई तो नेता साले चांपे जा रहे हैं और हमारे हिस्से में छूंछी छांछ तक नहीं आ रही। इससे अच्छे तो अंग्रेज ही थे। इतना अन्याय और अत्याचार तो नहीं था उनके राज में। ऐसी लूट खसोट तो नहीं होती थी सरेआम।' गलियारे में बस का डण्डा पकड़ कर खड़ा एक अधेड़ स्वर। गर्दिश की घुन से घुनखाया लम्बा, नुकीला चेचरू चेहरा। पपिड़ाये, पथरीले मोटे-मोटे होंठ यूं फड़क रहे हैं, जैसे इनके बीच वह सब कुछ मसल कर रख देगा।

'जीओ रे नाहर, क्या मार्के की बात कही है। बड़ा गला फाड़-फाड़ कर लोकतन्त्र और समाजवाद ले आने की बात कर रहे थे हमारे देश के नेता। पर हुआ क्या... यही कि हाथी आया, हाथी आया, हाथी पादा टीं ईऽ...' एक मुरहे मुंहफट आदमी ने अपनी भड़ास खारिज की।

'अरे भय्या, क्या गजब कर रहे हो ? किसी ने सुन लिया तो सीकचों के अन्दर कर देगा।..सुनते नहीं हो क्या कि हमारे दूरदर्शन महाराज रोज क्या प्रवचन करते हैं : कि देश फिर से सोने की चिड़िया हुआ। और एक तुम हो कि कह रहे हो, हाथी पादा टीं ई ऽऽ...' यह वह युवक है जिसने लड़की को रंगे हाथों पकड़ा था। बेहद चुस्त, फुर्तीला और सजीव। 'हां बचुआ, देश सोने की चिड़िया तो जरूर हुआ है पर सिर्फ उनके लिए, जो धूर्त, बेईमान, धोखेबाज और भ्रष्ट हैं। जो नंगई और गुण्डई दोनों ही करना जानते हैं। जिनका न कोई दीन है, न ईमान है, न धर्म है। जिनमें न आत्मा है, न संवेदना है और न ही कोई दूसरा सकारात्मक मानवीय एहसास। जिनका मां-बाप, भाई-बहन सब पैसा है। सच पूछा जाय तो यह देश राजाओं, महाराजाओं, सामन्तों, ढोंगी सन्तों-महन्तों, पूँजीपतियों, डानों, माफियाओं, दलालों, हर्षद मेहताओं, चन्द्रास्वामियों, नटवर लालों और हवाला जैसे घपलों से जुड़े शातिर दिमाग लोगों के लिए सोने की चिड़िया हुआ है। गरीबों के लिए आज भी यह देश दुनिया का सबसे बड़ा नर्क है।' वृद्ध, जिसने बन्द गले का पुराना भूरे रंग का कोट पहन रखा है और जिसकी जहांदीदा आंखों में टूटे हुए सपनों का दर्द एक स्थायी भाव बन कर जम गया है, मवाद भरे फोड़े की तरह फूट बहा।

'कक्कू, सौ टका खरी बात कहे हैं आप। इस भूलोक पर यही एक ऐसा मुल्क है, जहां, घोड़ों को न मिले घास, गदहे खायें च्यवनप्राश........'

बस में घटी घटना पूरी रात उसकी नींद की बखिए उधेड़ती रही। उसे डराती-दहलाती रही। ढेरों यत्नों के बाद नींद अगर आती भी तो फौरन सपनों का सिलसिला शुरू हो जाता । इन सपनों के बीच वही आठेक साल की लड़की आ जाती बार-बार। कभी उसके हाथ में भीख का कटोरा होता, कभी वह कूड़ाघर में अपने भूख के सवाल का हल खंगालती हुई नजर आती। वह किसी तरह घेर-घार कर बच्ची को नहलाता धुलाता। उसे नई यूनीफार्म पहना कर उसके कन्धे पर किताबों से भरा नया बस्ता टांगता, पर कोई हर्षद मेहता, नटवर लाल, चन्द्रास्वामी तेजी से झपट कर बस्ता छीन लेता, बस्ते से निकाल कर किताबें फाड़ डालता। उसकी यूनीफार्म तार-तार कर उसे नंगा कर देता और उसके नंगे बदन को अपनी खुरदरी जीभ से चाटना शुरू कर देता।

इस हादसे की भयावहता से निकलने में कई दिन लगे उसे।
आज शाम ड्यूटी से लौट कर जैसे वह घर के गेट के सामने सायकिल से उतरा, एक भद्र-सा दिखने वाला सज्जन उसकी सायकिल के आगे आ खड़ा हुआ-'वन मिनिट सर.......'

दिन भर की थकी पस्त देह झुंझला उठी। उसने ठण्डी, रूखी नजरों से भद्र सज्जन की ओर देखा। दुख से पिघला हुआ एक रुआंसा-सा, डबडबाया पीला चेहरा।

चेहरे को कुछ पल तक एकटक देखते रहने के कारण वह विचलित हो उठा। उसने अपने आप को डांटा। अपनी थकान को परे झटक दिया।

'कहो भाई, क्या परेशानी है तुम्हें ?' उसके विनम्र स्वर में हमदर्दी घुली हुई है।'सर मेरा बेटा हास्पीटल में एडमिट है। कल रात एक ट्रक से एक्सीडेन्ट हो गया था उसका। खून और दवाईयों के लिए फिलवक्त मुझे हजार रु. की सख्त जरूरत है। हैल्प मी सर, प्लीज...। आई एम इन हैवी ट्रबल। गली की शुरुवात में जो मकान है, उन लोगों ने बीस रु. दिए हैं। यह देखिए...' सज्जन ने अपनी मैली चैकवाली कमीज से दस-दस के दो नोट निकाल कर उसे दिखाये... 'आप भी थोड़ी मदद कर दीजिए सर। मेरे बच्चे को बचा लीजिए सर...प्लीज।'

उसके अन्दर फिर कुछ पिघलना शुरू हो गया। गलनांक बिन्दु तक पहुंचने से बमुश्किल रोका उसने खुद को-'आप तो खासे पढ़े-लिखे इन्सान दिखाई दे रहे हैं। भीख मांगते हुए शर्म नहीं आती आपको ?

'आती है सर, बहुत आती है। मन तो यही कर रहा है कि सुसाइड कर लूं पर मेरा बेटा....' सज्जन की आंखें बहने लगीं। उसका स्वर भरभराने लगा- 'भीख मांगना मेरा पेशा नहीं है सर, पर क्या करूं, साल भर से नौकरी से सस्पैंड चल रहा हूं। चार बच्चे, वाइफ और बूढ़ी मां है घर में। कुछ समझ नहीं आता क्या करूं ?'

गहरी तकलीफ और द्वन्द्व में उलझ गई है संवेदना...... पिछले साल भर से खुद आर्थिक तंगियों के चंगुल में फंसा हुआ है वह। पत्नी की बीमारी में ही बीस हजार रुपये लग चुके हैं। बायें स्तन के निप्पल में गिल्टी सी पड़ गयी थी। बच्चों की कालेज की पढ़ाई का खर्चा अलग। तिस पर पन्द्रह दिन बाद बहन की लड़की की शादी है दिल्ली में। कारखाने की कोआपरेटिव सोसाइटी से आज ही दो हजार रुपये इमरजेन्ट लोन निकलवाया है उसने। विवाह में मामा होने की अहम् भूमिका भी तो निभानी ही है। वाइफ और बच्चे नये कपड़ों के लिए परेशान कर रहे हैं अलग।'

'सर, मेरे बच्चे को बचा लीजिए। उसे अगर कुछ हो गया तो मेरी वाइफ रो-रो कर अपनी जान दे देगी.....'

अपने आपको और अधिक जब्ब नहीं कर सका वह। कोट की जेब में रखे दो हजार रुपये निकाले उसने और उनमें से सौ रुपये का एक नोट निकाल कर उसने भद्र सज्जन की ओर बढ़ा दिया।

वह यह नहीं समझ पा रहा है कि मुसीबत में पड़े सही व्यक्ति की मदद की है उसने या कि एक बार फिर छला गया है। जानना चाहता भी नहीं है।

कहानी

इल्यूज़न

रामदेव सिंह

शाम होने में अभी काफी देर थी, फिर भी घाट की सीढ़ियों पर देशी, विदेशी सैलानियों की उपस्थिति बढ़ने लगी थी। घाटों का विस्तार हो जाने से अब काफी सुविधा हो गयी है। दो-चार या अधिक समूह में लोग बनारस में होने का आनन्द ले रहे थे। कहीं-कहीं बनारस में रह रहे लोग मेजबान बनकर अपने मेहमानों को इस प्राचीनतम नगर के बारे में बता-समझा रहे थे। जैसे ही सैलानियों का कोई दल या इक्का-दुक्का आदमी सीढ़ियों से नीचे घाटों की ओर उतरता, नाविक उन्हें एक साथ घेर लेते। कुछ वहीं सीढ़ियों पर बैठकर गपियाने लगते।

थोड़ा घूमघाम लेने के बाद हम भी दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों पर बैठ गये थे। यानी मैं और मुकुल वर्मा–छोटे भाई का दोस्त, जो दिल्ली से आया था। मुकुल कल ही बनारस पहुंचा था। अपनी अन्य व्यस्तताओं की वजह से कल मैं अधिक समय नहीं दे सका था। सिवाय औपचारिक बातों के हम दूसरी बातें नहीं कर पाये थे। अरविन्द जब पिछली बार बनारस आया था तो बातों ही बातों में अपने मित्र मुकुल का जिक्र किया था। अरविन्द भी मुकुल के साथ ही दिल्ली में यू.पी.एस.सी. की तैयारी कर रहा था। अरविन्द आखिरी बार एलाइड सर्विसेज में चुना गया था। ट्रेनिंग खत्म होने के बाद बनारस आया तो मेरे जिन दोस्तों को भी पता चला उससे मिलने, बधाई देने आये। बातचीत के किसी संदर्भ में मुकुल का ज़िक्र आया था। अरविन्द ने स्पष्ट स्वीकार किया था कि वह तो खैर 'मिडियॉकर' छात्र रहा है, पता नहीं कैसे कम्पीट कर गया लेकिन उसका मित्र मुकुल तो बहुत जहीन छात्र रहा है, थ्रू-आउट फर्स्टक्लास है, पटना सेंटजेवियर्स से जे. एन. यू. दिल्ली तक, लेकिन बैडलक देखिए कि यू. पी. एस. सी. में नहीं आ सका 'लास्ट चान्स' था उसका। इन दिनों भयानक 'फ्रस्टेशन' में है...''

अरविन्द, भाई से अधिक मेरा दोस्त ही रहा है। सम्बन्ध की यही छूट लेते हुए उसने मुझसे कहा था- "भैया, मैं मुकुल को आप के पास भेजूंगा, उसे भावनात्मक सहारे की जरूरत है। आप उसे बेहतर ढंग से समझा सकते हैं। वह बनारस कभी आया भी नहीं है...घूमने के बहाने ही उसे कभी भेजूंगा...''

आज मेरे अवकाश का दिन था। सुबह से ही मैं मुकुल के साथ था। आज का दिन मैंने उसी के नाम खर्च करने को सोच लिया था। अरविन्द ने यह भी बताया था कि "मुकुल 'इंटेलेक्चुअल' है। बहुत कुछ अलग से पढ़ता रहता है। आपसे अच्छी पटेगी उसकी।''

सुबह से ही मैं मुकुल में अपना 'वैवलेन्थ' ढूंढ़ने की कोशिश कर रहा था। हालांकि

हमारी उम्र में दसियों वर्ष का फासला था, जिसकी वजह से हमारे बीच झिझक जैसा अवरोध मौजूद था। कई वर्षों से दिल्ली रहने के बावजूद भी वह बहुत शिष्ट और शालीन लग रहा था। बात-बात में 'भैया' या 'जी' से मुझे परेशानी भी होने लगी थी।

हम गलियों और मंदिरों में घूमते हुए थक-से गये थे, इसलिये यहाँ आकर जैसे ही सीढ़ियों पर बैठे तो थोड़ी राहत सी मिली। थोड़ी देर मौन रहकर हमने अपनी ऊर्जा बचायी। यही मौन कुछ ज्यादा खिंच गया तो मैंने उसे तोड़ना जरूरी समझा। थोड़े दार्शनिक अंदाज में मैने कहा- "जानते हो मुकुल, मुझे लगता है कि बनारस यदि सचमुच कहीं है, तो यहीं है, कुछ गलियों में और कुछ मंदिरों में। लगता है इन घाटों पर कोई अलग हवा बहती है। यहाँ पहुँचते ही आदमी चिन्तन की ओर उन्मुख होने लगता है...'' मैं सचमुच मुग्ध था- "ओह् बनारस ! रीयली लीविंग कल्चर कहीं है तो बस यहीं है...''

मैं कुछ क्षणों तक फिर मौन रहा, लेकिन जल्द ही अपनी मुग्धता तोड़ी और मुकुल के चेहरे की ओर देखा- "वैसे भई, तुमलोग तो दिल्ली के 'हाई-फाई' कल्चर में रहते हो। बनारस तो तुम्हें गाँव जैसा लग रहा होगा ?''

मुकुल मुस्कराया- "नहीं, ऐसी बात नहीं है भैया, मैं तो वहाँ रहकर भी उतना फास्ट नहीं हो सका। वहाँ तो सिर्फ गति है, मशीन की गति, जीवन तो छूट-छूट सा जाता है। और सच पूछिए तो....'' मुकुल बोलते-बोलते रुक गया और संदर्भ को थोड़ा मोड़ देते हुए कहना जारी रखा- "अरविन्द मेरा बहुत अंतरंग मित्र है। उसी की सलाह थी कि एक बार बनारस हो आओ, कुछ चेंज हो जायेगा। आपका जिक्र तो प्राय: होता ही रहता था।''

मेरी प्रशंसा में वह कुछ बोलता, इससे पहले ही मैं उसे केन्द्र में ले आया- "हाँ, अरविन्द बता रहा था कि तुम बहुत निराश हो गये हो?.... भई, ये आई.ए.एस., आई.पी.एस. बनने की महात्वाकांक्षा भी...'' मैंने अपना वाक्य अधूरा छोड़ उसकी ओर देखा.... "वैसे यह सिर्फ तुम्हारी बात नहीं है...हमारे देश की कई पीढ़ियाँ नष्ट हो गयी हैं...उनकी तो ज्यादा बेहतर उपयोगिता थी लेकिन रुतबे...और वो क्या कहते हैं ? हां स्टैटस-सिम्बल के पीछे पागल हैं हमारे युवा...'' मेरे शब्द उसे ज्यादा न चुभ जायें इसलिए मैंने सहमत करने के अंदाज में कहा- "दरअसल आजादी के बाद हमारे देश में अच्छे मूल्य गढ़े ही नहीं गये। वरना... तुम्हीं कहो न, एक आई. ए. एस. या आई. पी.एस. क्या और कितना देता है समाज को ? इसे हासिल करने के पीछे जो सबसे बड़ा प्रलोभन है, वह है सरकारी ओहदे का रंग और उसी से जुड़ी सामाजिक प्रतिष्ठा... अभी कुछ वर्षों से एक बात और जुड़ गयी है- शादी के बाजार में ऊँचा भाव...एक सर्वेक्षण तो देखा होगा तुमने कि कितना 'हाई रेट' चल रहा है इनका ? कितनी बेहयाई से लोग पचीस या पचास लाख दहेज माँगते हैं, छि: ! घिन आती है, यह सब सुनकर. '' मेरा मन सचमुच कसैला हो आया था।

मुकुल ने मुस्कराते हुए अपना बचाव करना चाहा- "भैया, मेरे साथ ऐसी बात नहीं थी। मैंने अच्छी तैयारी की थी। नहीं होने का सवाल ही नहीं था...आपको आश्चर्य होगा जानकर कि मेरी एक 'फ्रेन्ड' जिसे मैं गाइड करता था, पहली बार में ही कम्पीट कर गयी..

.शी वाज एन एवरेज स्टूडेंट।''

मुझे लगा जैसे काफी देर से वह अंग्रेजी बोलना चाह रहा था लेकिन बोलकर ठिठका, मेरी ओर देखा जैसे कोई गलती कर बैठा हो। मैंने अपनी आँखें उस पर टिकायीं और बात जारी रखने का इशारा किया, यानी "ठीक है, बोलते जाओ।''

अचानक दिये गये इस विराम से मुकुल अपनी बातों का तारतम्य ही भूल बैठा था। मैंने याद दिलायी- "हाँ, तुम किसी फ्रेंड के बारे में बता रहे थे..''

"हां...मेरी एक गर्ल फ्रेंड है।...'' मुकुल ने कहना शुरू किया तो मैंने टोक दिया –"सीधे प्रेमिका कहो न। अरविन्द ने मुझे बता दिया है।'' मेरी जानकारी पर वह थोड़ा चौंका लेकिन तत्क्षण ही उसने खुद हो सामान्य कर लिया "हाँ, प्रेमिका ही समझिए...'' मैंने फिर टोका "यह 'समझिए' क्या होता है, कहो कि 'है'।''

मुकुल के चेहरे पर क्षोभ का भाव उभर आया- "हाँ प्रेमिका ही है। हम लोगों ने शादी करने का निर्णय लिया था...लेकिन...'' वह कहते-कहते फिर रुक गया था। उसके चेहरे पर उदासी मूर्त हो आयी थी।

"यानी निराशा से ज्यादा दूसरी ग्रन्थियाँ बन गयी हैं तुम्हारे मन में'' –उसके मन की टोह लेते हुए मैंने कहा।

"नहीं, ऐसी बात नहीं है, फिर भी...वैसे उसने शादी का भी 'प्रपोजल' रखा था, लेकिन मैं निर्णय नहीं ले पाया कि क्या करूँ। सवाल बदले हुए 'स्टैटस' का था, अब तो वह एक आई. ए.एस. है और मैं कहीं कुछ नहीं...मेरा तो लास्ट चान्स भी निकल गया.....''

कहते-कहते वह चुप हो गया था। उसकी आँखें गंगा के उस पार दूर रेत में जैसे कुछ ढूँढ़ रही थीं।

तभी एक चायवाला एक हाथ में पीतल का बड़ा सा जार और दूसरे हाथ में मिट्टी के कुल्हड़ों से भरी प्लास्टिक की बाल्टी लिए सामने खड़ा हो गया–"चाय दें साब ?'' मुकुल से बिना पूछे ही मैंने चाय देने का इशारा कर दिया। चाय लेकर मैंने उसे पैसे दिये और बात-चीत का सूत्र फिर वहीं से पकड़ा- "जानते हो मुकुल ! प्रेम के लिये कैरियर कोई शर्त नहीं होती। कभी कोई लड़की इस उम्मीद में किसी लड़के से प्रेम नहीं करती है कि वह डाक्टर या इंजिनियर या आई. ए. एस. बनेगा।'' मैंने चाय का खाली कुल्हड़ इस तरह फेंका कि वह टूट जाय, फिर बात-चीत की गंभीरता को कम करते हुए कहा- "यह तो दिल का मामला है, भाई।''

मुकुल एकदम नपे-तुले अंदाज में मुस्कराया, फिर बोला- "इस मामले में तो वह एकदम नहीं बदली है...'' बीईंग ऐन आई.ए.एस. शी स्टिल लव्स मी''

मैंने उसकी ओर हमदर्दी से देखा..."फिर कौन सा द्वन्द्व है तुम्हारे सामने ? तुम भी तो कुछ न कुछ करोगे ही। ब्यूरोक्रेट नहीं बन सकोगे, यही न ? अब तो देख रहे हो, लोग आई.ए.एस. छोड़कर मल्टीनेशनल कम्पनियों में जा रहे हैं। लोग सोचने लगे हैं कि जब नौकरी ही करनी है तो आठ हजार की क्यों, साठ हजार की क्यों न की जाय।''

मेरी इस बात से मुकुल थोड़ा उत्साहित हुआ- "भैया ! हमने तय किया था कि हममें से कोई एक ही नौकरी करेगा। सोमा भी 'थ्रूआउट टॉपर' रही है।'' मुकुल के मुंह से पहली बार अपनी प्रेमिका का नाम निकला और कुछ सेकेन्ड के लिए वह रुका। "उसका नाम सोमा है भैया, वह तो जर्नलिज्म की ओर जाना चाहती थी- इलेक्ट्रानिक मीडिया में। मेरे ही दबाव से आई.ए.एस. में बैठी।''

"चलो इसमें हर्ज क्या है ? उसके हिस्से में नौकरी आयी, तुम कुछ और ही करो।'' मेरी बात से मुकुल थोड़ा आहत सा हुआ लेकिन निरपेक्ष कोशिश करता बोला- "सच्चाई तो यह है कि नौकरी मेरे स्वभाव में है भी नहीं। मैं तो सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों से जुड़ा रहा हूँ। लिखता तो नही हूँ, लेकिन अच्छा साहित्य पढ़ने में मेरी भी रुचि रही है... मैं जानता हूँ कि कुछ सीमित प्रश्नोत्तर पढ़कर आई.ए.एस. या आई.पी.एस. बन जाना ही सबसे बड़ी उपलब्धि नहीं है...लेकिन मेरी इस बात से आप भी सहमत होंगे कि इस दौर में हमारे जो- 'सोसल रिकाग्निशन' हैं उसमें आई.ए.एस. बन जाना सबसे बड़ी उपलब्धि है...सबसे बड़ा स्टैटस सिम्बल...''

अपनी बात को कटते महसूस कर मैं व्यंग्य में ही हँसा तो वह कहते-कहते रुक गया जैसे, मैंने उसे बोलने से रोका हो।

"यस-यस गो ऑन...'' मैंने चेहरे पर गंभीरता ओढ़ते हुए आँखें बन्द कर कहा।

लेकिन वह थोड़ा लड़खड़ा गया था। फिर संभलते हुए बोला- "भैया, मैं आपकी बात से पूरी तरह सहमत हूँ। लेकिन मैं इसे प्राप्त करके छोड़ना चाहता था।''

"यानी यह सिद्ध करना चाहते थे कि तुम नाकारे नहीं हो, तुम मेरिट के ऊँचे मानदंड पर पहुँचकर सुख-सुविधा हासिल करने के बाद इसे छोड़ना चाहते थे....यानी समाज में रातोरात हीरो बनने के लिए वैभव की तिलांजलि...'' मैं पूरी तरह उपदेश की मुद्रा में आ गया था- "सुनो, तुम अभी जिस मानसिकता से गुजर रहे हो न ! कभी मैं भी गुजर चुका हूँ। मैं तो पूर्णकालिक कम्युनिस्ट बनना चाहता था, लेकिन तुम्हारी ही तरह नौकरी पाने और छोड़ने के बाद। परिवार और समाज की परवाह मुझे भी थी कि वे मुझे फालतू या नाकारा न समझें। मैं भी रिश्तेदारों में या समाज के बीच एक 'थ्रिल' पैदा करना चाहता था। इन्टरमीडिएट में था, तभी दो कहानियाँ छप गयी थीं। नक्सलवादी आन्दोलन के ग्लैमर ने इतना प्रभावित कर रखा था कि जिस किसी अखबार या पत्रिका में नक्सलवाद पर कोई लेख छपता, मैं तुरन्त अपनी प्रतिक्रिया भेज देता ताकि लोग मुझे भी उस आन्दोलन से जुड़ा हुआ समझें।''

"क्रांतिकारी लेखकों को पत्र लिखता। उनके जबाब भी आते। मैं अपने को आधा नक्सलाइट समझने लगा था। 'ग्वेवारा' से चारू मजुमदार और कानू दा से जंगल संथाल तक के नाम मैं अपनी जुबान से ऐसे उच्चारता जैसे उनका क्रान्तिकारी सखा होऊँ। लेकिन यह सब चाय की दूकानों तक ही सीमित था। व्यवहार में तो मेरे बाबा जब अपनी सामंती अकड़ में मजदूरों को गालियाँ देते, उनपर हाथ उठाते तो मैं मूक श्रोता और दर्शक बना रहता। दोस्तों के बीच चाय की चुस्कियों के साथ मजे लेकर चर्चा करता कि भई, मेरे बाबा तो सामंतवाद के

अंतिम प्रतिनिधि हैं। इन्हें तो 'प्रीजर्व' करके रखना चाहिए। ऐसा कहते हुए मेरे मन में बाबा के प्रति घृणा नहीं भी होती। हस्तक्षेप का साहस तो खैर था ही नहीं, एक क्षुद्र भय था कि पिता जी व्यंग्य करेंगे कि चार साल से बी. ए. पास कर के घर का आटा गीला कर रहे हो, चार पैसे कमाओ, तब न समझेंगे। इसलिए मैं पी.सी.एस. और बैंकिंग की परीक्षा के लिए जी तोड़ मेहनत कर रहा था। मैं भी कोई अच्छी-सी नौकरी प्राप्त करके, उसे छोड़ने का मन बना रहा था। सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई में अपनी हिस्सेदारी एक 'थ्रिल' के साथ शुरू करना चाहता था। जानते ही हो उन दिनों कैसा 'क्रेज' था...। यही 'कन्ट्राडिक्शन' मैं तुम्हारे भीतर भी देख रहा हूँ। जानते हो, ऐसा क्यों होता है ? हमारे मन की लालसा,...अपने वर्ग का अतिक्रमण कर ऊपर जाने की लालसा। वरना, विचारधारा का यदि सही प्रभाव है तो हम अपने को 'डिक्लास' क्यों नहीं करते, भौतिक सुखों को कम ही तो करना है...''

"भैया, काफी डीप स्टडी है आपकी।'' पता नहीं मुकुल सचमुच प्रभाव में बोल रहा था या यूँ ही मुझे खुश करने के लिए, मैं समझ नहीं पाया। फिर भी मैंने नकली गर्व के साथ अपने सिर के खिचड़ी बालों पर हाथ फेरते हुए कहा- "हाँ यार, ये बाल यूँ ही सफेद नहीं हुए हैं न।''

एक सम्मिलित ठहाका गूंज गया। हमारे ठहाके से आस-पास बैठे लोगों की निगाहें अचानक हम पर केन्द्रित हो गयी थीं।

वही चायवाला पुन: दिखा तो मैंने इशारे से पास बुलाया। उसने दो कुल्हड़ चाय दी, जिसे लेकर हम चुपचाप पीने लगे।

मुकुल की झिझक अब काफी हद तक कम हो गयी थी। हमारे सामने से एक नाव गुजर रही थी जिस पर एक प्रेमी युगल बैठा था। वे एक-दूसरे पर गिर-गिरकर हँसी-ठिठोली कर रहे थे, बिना किसी की परवाह किये। मुकुल की निगाहें भी वहीं टिक गयी थीं। नौका-बिहार के इस दृश्य ने उसके चेहरे पर मुस्कान ला दी थी।

मैंने चुहल की- "हाँ यार, यह बनारस है...वैसे तुम्हारी दिल्ली में तो सब कुछ खुला-खुला सा है, लेकिन बनारस की बात ही कुछ और है। लोलार्क कुण्ड में स्नान करती स्त्रियों में भी विकृति नहीं ढूंढ़ पाओगे।''

बात-चीत में थोड़ी सरसता आयी तो मैंने अचानक ही पूछा- "अच्छा एक बात....यदि संकोच न हो तो अपने मित्र के बारे में कुछ बताओ न...। मेरा मतलब तुम्हारी सोमा से है।''

मुकुल अब कुछ सहज हो चुका था। उसने जीन्स की पिछली जेब से अपना पर्स निकाला और उसे सीधा करके मेरे सामने बढ़ा दिया। पर्स में लगे पारदर्शी कार्ड के नीचे सोमा की तस्वीर थी। मैंने तस्वीर को गौर से देखा, फिर नजरें हटा मुग्धता का अभिनय करते हुए मुकुल की ओर देखा- "भई, मान गये तुम्हारा सेलेक्शन।'' मैंने सोमा की आँखों की सुन्दरता का वर्णन शुरू ही किया था कि बाकी मुकुल ने स्वयं ही संभाल लिया- "भैया, आप मिलेंगे कभी, तो बहुत प्रभावित होंगे। बड़े घर की है, लेकिन बहुत सिम्प्लीसिटी है और टेस्ट एकदम क्लासिक। भरतनाट्यम सीख रही है। टी.वी. पर भी आ चुकी है।'' उसके ढेर सारे गुणों को

बखानते मुकुल ने इन शब्दों में उपसंहार किया, "रीयली शी इज ए कम्प्लीट वूमन।" लेकिन इसके साथ ही उसके चेहरे पर कुछ अफ़सोस और कुछ उदासी का भाव मूर्त हो गया। सोमा के वर्णन में छलक रहे उत्साह पर अचानक ब्रेक लग गया। मैं कुछ समझ नहीं पाया था, लेकिन फिर भी सन्दर्भ बदल दिया- "चने खाओगे ?" और उसका जबाब सुने बिना उठ गया। कुछ ही कदमों की दूरी पर एक खोमचा वाला चने बेच रहा था। कागज के दो ठोंगे में चने लेकर लौटा तो देखा, मुकुल अभी तक स्मृतियों में खोया था। पर्स अब भी उसकी उँगलियों के बीच था। मेरी उपस्थिति के एहसास से वह कुछ चैतन्य हुआ और पर्स को वापस जेब में रख लिया।

मैने एक ठोंगा उसकी ओर बढ़ाया- "लो भई, मेरी तो फेबरिट...चीज है।" मुकुल ने ठोंगा पकड़ते हुए दिलचस्पी दिखायी- "यह तो मेरी भी फेवरिट है।" चने के दानों को मुँह में फेंकते हुए मैने चुटकी ली- "अब यह मत कह देना कि यह सर्वहारा वर्ग में ज्यादा लोकप्रिय है इसलिए...वैसे तुम्हें मालूम होना चाहिए कि चना बहुत मँहगा हो चुका है...सर्वहारा की पकड़ से बाहर..."

खुद के मेजबान होने का एहसास था मुझे, इसलिए प्रसंग बदल कर मैंने मुकुल को फिर से इन्वाल्व करने की कोशिश की- "आगे की क्या योजना है तुम्हारी ?"

मुकुल ने अपनी भौहों के संधिस्थल को चुटकियों से पकड़ा और आँखें बन्द करते हुए बोला-"कुछ समझ में नहीं आ रहा है भैया !" फिर मेरी ओर देखते हुए बोला-"आप ही कुछ सजेस्ट कीजिए न। सचमुच बहुत फ्रस्टेशन में जी रहा हूँ। कुछ करने की इच्छा ही नहीं होती। दिल्ली तो अब चिढ़ाता सा लगता है। कई बैचमेट आजकल वहीं हैं, अच्छी जगहों पर पहुँच गये हैं..." मुकुल ने अपने चेहरे पर फ्रस्टेशन को मूर्त करने की कोशिश की, जिसमें वह असफल रहा। फिर भी मैंने सहानुभूति जताते हुए सलाह दी- "पी.सी.एस. में क्यों नहीं बैठते ? बैंकिंग या स्टाफ सेलेक्शन वाले में 'एज' हो तो वहाँ ट्राई करो, कहीं न कहीं तो आ ही जाओगे।"

मुकुल बोला कुछ नहीं, लेकिन हिकारत से मुँह बिचकाया, जैसे कि मैंने चपरासी में भर्ती होने की बात कह दी हो। मैं भी थोड़ा कुढ़ गया- "आखिर जब तुम्हें नौकरी करनी है तो अब तो यही सब है....और फिर तुम्हें तो ज्यादा दिन नौकरी करनी भी नहीं है।" अनजाने ही मेरी सलाह में व्यंग्य शामिल हो गया, तो मैंने संभालने की कोशिश की- "या फिर मेरी मानो तो लेक्चररशिप के लिए ट्राई करो। उसकी अलग प्रतिष्ठा है और फिर तुम्हें सामाजिक कार्यों में रुचि है तो वहाँ काफी समय भी मिलेगा।"

मुकुल फिर भी चुप रहा तो मुझे कोफ्त होने लगी- 'देखो भई, हम तो कहेंगे कि यथार्थ के ठोस धरातल पर रहकर सोचो। कभी-कभी बड़ी महत्वाकांक्षाएं हमें कहीं का नहीं छोड़तीं।"

मुकुल ने अब जाकर गहरी साँस ली और कहना शुरू किया- 'देखिए भैया, इस बात को तो मैं भी महसूस करता हूँ। पारिवारिक दबाव भी मुझपर हैं कि जल्द से जल्द कुछ करूँ।

दो-तीन 'आप्संश' हैं मेरे पास। प्राविंसियल सर्विसेज में बैठूँ या कहीं लेक्चररशिप के लिए ट्राई करूँ, या फिर एक और 'अपार्चुनिटी' है मेरे पास। प्लानिंग कमीशन के एक मेम्बर से मेरे अच्छे सम्बन्ध हैं; यदि मैं चाहूँ तो किसी प्राइवेट या पब्लिक सेक्टर में वे मुझे किसी एज्क्यूटिव जॉब में लगवा सकते हैं।''

मुकुल की बातों से लगा कि वह आश्वस्त है। मैंने तुरन्त समर्थन किया- "यह तो बहुत अच्छी ब.त है, अब तो जिनके पास टेलेन्ट है, वह अच्छी से अच्छी सरकारी नौकरी छोड़कर प्राइवेट सेक्टर या मल्टीनेशनल कम्पनियों में जा रहे हैं। सरकारी नौकरी में तो उतनी सुविधा तभी है जब आप खूब भ्रष्ट हो जायें...वैसे यह अच्छा ही रहेगा कि तुम प्राइवेट सेक्टर चुनो। सोमा के साथ तुम्हारा पुरुषोचित अहम् भी नहीं टकरायेगा। आखिर शादी भी तो होनी है तुम दोनो की।''

मैं जिस रुचि से सोमा और उसके सम्बन्ध को महत्व दे रहा था, इसकी कोई खुशी मुकुल के चेहरे पर नहीं थी। कुछ क्षणों तक हमारे बीच मौन पसरा रहा। अचानक ही उसने अपनी गंभीरता तोड़ी- "भैया, एक्चुअली आइ एम सफरिंग फ्राम सो मेनी इल्यूजन्स...''

बस, इतना कहकर वह चुप हो गया था। हमारे बीच पनप चुकी अंतरंगता एक बार फिर सिकुड़ने लगी थी। मुझ वाचाल को भी.शब्द नहीं मिल रहे थे कि तभी आरती की थाल लिए एक जनेऊधारी वटुक सामने खड़ा हो गया था, जिसने हमें संवादहीनता के इस संकट से उबार लिया। वटुक ने टीका लगाने के लिए अपनी उंगली मुकुल की ओर बढ़ायी तो उसने रोक दिया। वह मेरी ओर अपनी उँगली बढ़ाता, इससे पहले ही मैंने एक अठन्नी उसकी थाल में रखा और इशारे से विदा कर दिया।

"आप ईश्वर में विश्वास करते हैं भैया ?'' संवाद की टूटी कड़ी को मुकुल ने ही जोड़ने का प्रयास किया।

यह संकट में डालने वाला सवाल था, लेकिन मैंने बहुत साफगोई से उत्तर दिया- "देखो मुकुल, सच्चाई तो यह है कि मैं आज भी कन्फ्यूज्ड हूँ। मंदिरों में स्थापित प्रतिमाओं में मेरी आस्था नहीं है। हाँ, किसी सर्वशक्तिमान की अदृश्य सत्ता से असहमति भी नहीं है। सूरज, धरती और जल को ही ईश्वर मानता हूँ। किसी मंदिर में तो मेरा ध्यान आज तक केन्द्रित नहीं हो सका।'' अपनी बात को विराम देते हुए मैंने मुकुल से प्रतिप्रश्न किया- "वैसे तुम्हारा क्या ख्याल है ?''

"पहले मानता था लेकिन अब मेरा भी विश्वास डिग गया है'' संक्षिप्त सा उत्तर देकर वह चुप हो गया।

मैंने भी अधिक कुरेदना उचित नहीं समझा। काफी देर तक हम चुप ही रहे। सामने से कुछ नावें खुलकर उस पार जा रही थीं। मैंने मुकुल को नयी जानकारी दी- "जानते हो, ये लोग उस पार क्यों जा रहे हैं ? बनारसी लहजे में इसे 'दिव्य निपटान' कहा जाता है। अपने 'दिव्य निपटान' के बाद ये घंटे-दो घंटे में नहा-धोकर, भंग छानकर लौटेंगे। यह इनकी रोज की दिनचर्या है। किस शहर के लोगों के पास इतनी फुर्सत है ? कहीं कोई तनाव नहीं, कितनी

मस्ती है चेहरे पर। यही तो बनारसीपन है।''

मैं आनन्दित होकर उसे यह सब बता रहा था, लेकिन उसके चेहरे पर कोई 'रेस्पांस' नहीं था। बड़ा अजीब आदमी है। मुझे मन ही मन कोफ्त हुई। उसकी इस अनुपस्थिति का कोई कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा था। मैं मुकुल से अपना ध्यान हटाकर उन विदेशी युवक-युवतियों को देखने लगा, जो पास ही चाय की गुमटी के पास बैठे थे और चाय, सोडा ...या सिगरेट पी रहे थे। दो-तीन गाइडनुमा लड़के उन्हीं के बीच घुले-मिले बैठे थे।

तभी हमारे ठीक पीछे कुछ प्रौढ़ विदेशी स्त्री-पुरुष आकर खड़े हुए। एक नाववाला उनके पीछे पड़ा था-"ओनली फिफ्टी रुपीज सर, फ्राम दशाश्वमेध टू अस्सी'' लेकिन उसकी बात की अनसुनी करते हुए वे लोग अपने-अपने कैमरे से लगातार तस्वीरें उतार रहे थे।

मुझे अचानक ही एहसास हुआ कि शाम गहराती जा रही है। दिन का उजाला अब घाट पर लगे सोडियम और नियोन बल्बों में संकुचित होता जा रहा था। मंदिर के घंटे की आवाज हवा में गूंजने लगी थी। घाट की सबसे निचली सीढ़ी पर एक नवविवाहित जोड़े के हाथों उनके परिजन जोड़ा दीप प्रवाहित करवाकर गंगा जल से स्वयं को सिक्त कर रहे थे। यह दृश्य मुझे इतना प्रिय लगा कि मेरी दिन भर की थकान कम हो गयी।

मैं यही अनुभूति मुकुल के चेहरे पर भी ढूंढ़ रहा था। मुकुल भी एकटक उसी दृश्य को देख रहा था। मुकुल के चेहरे का भाव स्पष्ट नहीं हो रहा था। मैं इस बारे में उससे कुछ पूछता, इसके पहले वह स्वयं ही बोल पड़ा- "भैया मैंने आपसे एक बात नहीं बतायी, दरअसल, सोमा ने एक महीने पहले ही अपने बैचमेट आई.ए.एस. लड़के से शादी कर ली।''

मुकुल के इस रहस्योद्घाटन से मैं तो लगभग चौंक ही गया। लेकिन मुकुल की आवाज में न तो गुस्से की आग थी, न रुलाई की आर्द्रता। हाँ, एक टीस, एक कसक जरूर थी। उसकी आँखें अभी भी उस नवविवाहित जोड़े पर टिकी थीं, जो सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ रहे थे।

मुकुल की इस सूचना से मैं अभी भी अवाक् था। बातचीत के बीच उसका बार-बार अनुपस्थित होना, अब मेरी समझ में आ रहा था।

हम वापसी के लिए खड़े हो गये थे। मेरे मन में एक छद्म संवाद चल रहा था कि मुकुल स्वस्थ कदमों पर खड़ा हुआ है और मुझसे कह रहा है कि "चलिए भैया, मैं सोमा से मुक्त हो गया हूँ। मेरे मन में कोई 'इल्यूजन' नहीं है। मुझे फिर से अपनी दिशा मिल गयी है।''

लेकिन वास्तव में हम अभी भी चुप थे। हमारी आंखें उस जोड़ी पर टिकी थीं, जो अब बिल्कुल करीब आ चुकी थीं। उनके परिजनों की हँसी-ठिठोली से माहौल में रस घुल रहा था। उस कारवाँ के ऊपर चढ़ते ही हम भी अनायास ही मुड़ गये थे, जैसे उन्हीं के साथ हों।

हम सधे कदमों से ऊपर चढ़ रहे थे। एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ते हुए मेरा ध्यान मुकुल के कदमों पर ही था। उसकी विभ्रम से मुक्ति मैं उसके कदमों की गति में ढूँढ़ रहा था। जिसे समझ पाने में मैं असफल रहा। हम संवादहीन थे, इसलिए एक दूसरे की तरफ देख भी नहीं रहे थे। सड़क पर आने में अब दो-चार सीढ़ियाँ ही बची थीं। हम भीड़ में प्रवेश करने वाले थे, लेकिन वह अभी भी चुप था और अब उसकी चुप्पी से मुझे परेशानी होने लगी थी।

सान्निध्य

आज के दौर में किसी ताज्जुब की तरह है उनका होना

शैलेश मटियानी के जीवन पर प्रकाश मनु

खूब अच्छी तरह याद है... पहली मुलाकात उनसे राजेन्द्र यादव ने करवाई थी। मैं 'हंस' के दफ्तर गया था, राजेन्द्र जी से मिलने। उन्होंने सामने सोफे पर विराजमान एक भव्य 'काया' की ओर इशारा करते हुए कहा, "इनसे परिचय है आपका......?''

"नहीं.......'' मैंने अचकचाकर कहा।

"आप शैलेश मटियानी....''

"ओह...'' मैं खड़ा हुआ, दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया और शायद बेतुके ढंग से हाथ भीं मिलाया।

मेरी खुशी ऐसी है जैसे इस अपार संसार में किसी को एकाएक किसी मोड़ पर अपना हमसफर–नहीं-नहीं, 'हमशक्ल' मिल जाए। कहते हैं न कि दुनिया में हर किसी का कोई ना कोई 'हमशक्ल' जरूर होता है–और किसने कहा कि वह उम्र में बड़ा नहीं हो सकता ?... (यों हमशक्ल की व्याख्या नहीं कर पाऊंगा, इसलिए किसी को एतराज हो तो बेहतर है कि वह ऊपर वाला वाक्य काट दे !)

"इधर आप, लगता है साहित्य के मैदान की सफाई में जुटे हैं- बड़े-बड़े युद्ध लड़ रहे हैं, एकदम खड्गहस्त होकर.....''

यह उनसे मिलने पर मेरा पहला वाक्य था। मुझे आज भी याद है- खूब अच्छी तरह।

"अच्छा..... तो पढ़ लिया आपने ?'', वह हँस रहे हैं। किसी भोले-भाले गोलमटोल बच्चे की तरह, जो जरा सी बात पर खुश हो जाता है, जरा सी बात पर तिनक जाता है- लेकिन अपने भीतर कुछ नहीं रखता। मुझे वह हँसी बड़ी प्यारी मालूम देती है- एकदम निर्मल, निष्कलुष। जैसी बेलाग बातें, वैसी बेलाग हँसी। क्षण भर में जैसे हम 'संवाद' की स्थिति में आ गए हों।

"सारा कुछ तो शायद नहीं पढ़ा होगा... हाँ, कभी-कभी 'अमर उजाला' में सुधीश पचौरी पर जो लिखा है आपने- उनके गुलशन नंदाई मेनिया के जबाव में, वह देखा है..''

"गुलशन नंदाई मेनिया....'' वह फिर हँसे हैं। यह एक्सप्रेशन शायद उन्हें खासा जोरदार लगा होगा।

"कैसा लगा लेख....?''

"शानदार.... एकदम शानदार...आपके तर्क लपेट-लपेटकर पीटने वाले हैं- वैसे भी यह आदमी बहुत चालू लटकों पर उतर आया है। इसके लिए लिखने का मतलब है, बहुत चीप भाषा में कोई ऐसी चीज उछाल देना जिससे सनसनी फैले...शायद इसलिए लिखने का कोई बड़ा मकसद भी हो सकता है, यह आदमी समझ ही नहीं सकता...यानी पहले आप सोच लेते हैं कि इस बार आपको कुछ ऐसा कहना है, फिर तर्क आप बाद में कुछ न कुछ जुटा लेते हैं और फिर हर बार कोई न कोई सनसनी वाली चीज उठाए रखते हैं- यह आपकी मजबूरी है वरना कोई आप को मानेगा ही नहीं कि आप बड़े लिक्खाड़ हैं....'' मैं किसी तरह अपनी बात 'खोलकर' समझाता हूँ।

"असल में मैंने लिखा भी है उस लेख में- इनका सोचना किसी स्कूल मास्टर की तरह है-किसी कुंजी लेखक अध्यापक की तरह जो साहित्य के सरोकारों को समझ ही नहीं सकता।'' मटियानी जी अपनी रौ में आकर कहते हैं- "इसलिए सिर्फ चालू बातें वह कहते हैं और लेखकों को अपने डंडे से हाँकना चाहते हैं...यानी ताज्जुब है, गुलशन नंदा प्रेमचंद से बड़े हो गए क्योंकि प्रेमचंद तो इतने बिकेंगे नहीं...जाहिर है, नहीं बिकेंगे। तो...असल में हिंदी में लेखक के स्वाभिमान को खतरा है तो इन्हीं लोगों से ....''

इतनी लम्बी चौड़ी बातचीत के बाद उन्हें ख्याल आता है- "आप क्या लिखते हैं?''

"थोड़ा-बहुत लिखता हूँ- कुछ कविताएँ, लेख....'' मैं संकोच से कहता हूँ।

'देवेन्द्र सत्यार्थी पर इनकी किताब आई है- 'देवेन्द्र सत्यार्थी : चुनी हुई रचनाएँ'... राजेन्द्र यादव जो हमें भिड़ाकर उत्सुकता से सुन रहे थे, किताब के साथ-साथ बातचीत का एक सिरा पकड़ा देते हैं।

"अच्छा... यह तो बहुत अच्छा काम है।'' पुस्तक पलटते हुए मटियानी जी कहते हैं।

"आपने पढ़ा है सत्यार्थी जी को ?.... मिले हैं उनसे...?'' उत्सुकता से पूछ लेता हूँ।

"उन दिनों जब किशोरावस्था में साहित्य के संस्कार हम बटोर रहे थे-तब सत्यार्थी जी की बहुत पुस्तकें पढ़ी थी। हमारे शहर के पुस्तकालय में थीं- 'धरती गाती है', 'बाजत आवे ढोल', 'ब्रह्मपुत्र'....'' मटियानी जी याद करके बताते हैं।

'ये काफी निकट हैं सत्यार्थी जी के, सारा साहित्य पढ़ा है उनका...'' राजेन्द्र यादव मेरे परिचय को हल्का सा गाढ़ा करते हैं। फिर मेरी ओर मुखातिब होते हैं-"आप कुछ बताइए सत्यार्थी जी के बारे में.... आपको लगता नहीं कि ऐसा आदमी परिवार वालों के लिए तो बड़ी मुसीबत बन जाता है...लेखक के लिए सामाजिक जिम्मेदारियां भी जरूरी हैं कि नहीं ?''

"ऐसा है, राजेन्द्र जी, लेखक चौखटों से बाहर तो रहता ही है, रहेगा ही- वरना वह रह नहीं जाएगा....मुझे याद है, आपने लिखा था अपने एक लेख में, शायद 'प्रेमचंद की विरासत' में है वह लेख कि अगर मैं यह सोचूँ कि आज मैं ठीक से कमा लूँ, सेटिल हो जाऊँ, यह-वह हो मेरे पास, लिख तो मैं कभी भी लूँगा...तो जाहिर है, लिखना आपका स्थगित होता चला जाएगा और आप कभी नहीं लिख पाएँगे...तो यह शख्स ऐसे ही लेखकों में से हैं, जिसने लिखने की

कीमत पर सब कुछ छोड़ा—और फिर भी साहित्य में कैसी बेकदरी हुई उसकी—आप देख ही रहे हैं—क्योंकि साहित्य में भी वही जाने जा रहे हैं जिनके पास पैसे, कुर्सी, दबदबा-सभी कुछ है।''

और फिर मैं बताने लगता हूँ सत्यार्थी जी से अपनी पहली मुलाकात के बारे में कि मैं वहाँ गया तो अपनी पत्रिका के काम से था मगर वहाँ जाकर ऐसा फँसा कि आज तक नहीं निकल पाया....

"क्या आप जानना चाहेंगे कि उन्होंने मुझे कैसे फाँसा ?''- चमकती आँखों से मैं कहता हूँ तो लगता है, राजेन्द्र यादव से ज्यादा मटियानी मुझे सुन रहे हैं- "असल में मैं वहाँ गया, तो पास ही उनकी पांडुलिपि पड़ी थी—चिप्पियों से भरी हुई। मैंने उन्हें टोका कि आप ऐसा क्यों करते हैं इस बुढ़ापे में ? मेरी तरह क्यों नहीं करते कि अलग-अलग पन्ने लिए और जिस पन्ने पर ज्यादा काटपीट हुई उसे बदल दिया—इस पर सत्यार्थी जी ने एक मीठी खिलखिलाहट के साथ जो जबाव दिया, उसे मैं कभी नहीं भूल पाऊँगा-"यह तो ऐसे ही है जैसे एक प्रेमिका दूसरे से कहे कि बहना, प्रेम ऐसे नहीं ऐसे किया जाता है...असल में हर किसी का प्रेम करने का अलग ढंग होता है...'' उस दिन के बाद से मैंने महसूस किया, मैं इस खूबसूरत बूढ़े से—जो मन से, विचारों से, आत्मा से खूबसूरत है—प्यार करने लगा हूँ...''

इस पर मटियानी जी सुनकर हँसते हैं, राजेन्द्र यादव भी।

"मैंने अपनी पुस्तक में लिखा है, यह प्रसंग...'' मैंने बताया और यह भी कि किस बेबाकी से मैंने सत्यार्थी जी के साथ अपने झगड़ों के बारे में लिखा है। इसके बाद कुछ और प्रसंग सत्यार्थी जी के होते हैं। मैं बताता हूँ, उनकी शुरू की रचनाएँ जिनमें सहजता है, मुझे ज्यादा प्रिय हैं बनिस्पत इधर की रचनाओं के। तब की कहानियों में एक बिल्कुल अलग-सी कहानी 'आटोग्राफ बुक' की चर्चा छेड़ देता हूँ।

अब तक मटियानी जी पुस्तक उलट-पुलट चुके हैं और वह फिर से राजेन्द्र यादव की मेज पर आ गई है।

"मैं पुस्तक की एक प्रति आपको भेंट करना चाहता हूँ। कैसे हो, बताइए...अभी तो मेरे पास है नहीं।'' मैं अपनी समस्या बताता हूँ।

यहाँ आप छोड़ दें तो मुझे मिल जाएगी...'' कुछ देर बाद कहते हैं, "वैसे हो सकता है, मैं आऊँ उधर, दो-एक रोज में...खुद आकर ले लूँगा।''

चलने लगा तो मटियानी जी उठकर मिले। बोले- "रमेश उपाध्याय से जो बहस हुई है 'इंदप्रस्थ भारती' में, वह आपने नहीं पढ़ी?''

"नहीं... मुझे जानकारी नहीं थी। अब पढ़ूँगा खोजकर...'' मैं कहता हूँ "आपको खोज-खोजकर पढ़ना मुझे प्रिय है...''

एक संक्षिप्त-सी मुलाकात। लगभग बेमालूम-सी। लेकिन मिलकर आया तो लगा, मटियानी जी मेरे भीतर आकर बैठ गए हैं।

इसके दो-तीन रोज बाद की बात है। लंच में जब मैं दफ्तर में अकेला ही था और पैर फैलाकर कोई किताब पढ़ रहा था, देखा दरवाजा खुला और वही भव्याकृति जो 'हंस' में मिली थी, मुस्कराती हुई मेरी मेज की ओर बढ़ी चली आ रही है। फर्क सिर्फ यही कि अब हाथ में एक छोटा-सा काला ब्रीफकेस है–दाढ़ी कुछ-कुछ उसी तरह बढ़ी हुई...मुस्कराहट में अपनत्व।

"अरे, मटियानी जी !..'' घबराहट, उत्सुकता और सम्मान के मिले-जुले भाव से मैं खड़ा हो गया और सम्मान से उन्हें बैठाया, "आइए...आइए...''

वह बैठ गए हैं, फिर भी देर तक मेरे भीतर खुदर-बुदर चलती रहती है–जैसे विश्वास न हो रहा हो कि जो शख्स सामने बैठा है, वह शैलेश मटियानी ही है–शैलेश मटियानी मुझे इतने सहज प्राप्त कैसे हो सकते हैं ?

यह खुशी से अवाक या सन्न रहने की स्थिति थोड़ी ही देर रहती है। फिर एक छोटा-सा विषाद आकर मुझे घेर लेता है- "अरे, पुस्तक लेने खुद मटियानी जी आये, लेकिन पुस्तक की प्रति है ही नहीं। मेरे पास एक प्रति थी, वह एक सज्जन आकर ले गए...उन्हें देते हुए शायद मैंने सोचा हो कि मटियानी जी ने कहा तो है, मगर वह कहाँ आएंगे।...इतने बड़े लेखक हैं, क्या याद रहेगा ?''

मैं मटियानी जी को बड़े संकोच सहित बताता हूँ तो हंसकर कहते हैं-"कोई बात नहीं फिर कभी आकर ले लूँगा। मैं तो आपसे मिलने चला आया।''

मैं उनकी इस सरल सादगी पर मिट चला हूँ- क्या यह सच है ?...मुझसे।...मुझसे मिलने आए हैं मटियानी जी...मुझ जैसे तुच्छ आदमी से।

मैं महसूस करता हूँ, मटियानी का बड़प्पन और बड़ा हो गया है और मेरी 'तुच्छता' भी उनकी निकटता से महिमामंडित हो चली है।

मैं फिर वही विषय छेड़ देता हूँ–मीडिया और साहित्य का–कि वह बहस चली कैसे थी? आखिर क्या था जिससे वह इतना चिढ गए ? मटियानी जी विस्तार से बताने लगते हैं कि गुलशन नंदा लाखों में बिकता है, इसीलिए वह बड़ा है–सुधीश पचौरी का यह वाक्य उन्हें तिलमिला गया। हिंदी का लेखक इतना गरिमाविहीन नहीं हो गया कि एक स्कूली मास्टर कुछ भी कहता रहे और वह उसे सुन ले।

"इन्हें साहित्य के नेता होने का शौक चर्रा रहा है,'' और फिर लोग लेखक और साहित्य की संवेदना को समझते नहीं हैं और अपने पुलिसिया डंडे से लेखक को हाँकना चाहते हैं, उन पर बेहद-बेहद....गुस्सा आता है।''

"तभी पहले-पहल पता चला–और बाद में तो बीसियों प्रसंग ऐसे बने कि मालूम पड़ता चला गया–कि लेखक के स्वाभिमान का जहाँ भी सवाल आता है, मटियानी मर मिटने की हद तक जूझ पड़ते हैं और इस मामले में बड़े से बड़े दिग्गज की परवाह नहीं करते। गुलशन नंदा से अपनी या हिंदी के किसी भी प्रतिष्ठित लेखक की तुलना ने इसीलिए उन्हें बौखला दिया...

.और मटियानी गुस्से में हों तो उनके शब्द किसी बिफरे हुए सांड़ की तरह हरहराने लगते हैं.

"असल में गुलशन नंदा का शिगूफा तो केवल नाम चमकाने के लिए था...'' मैं कहता हूँ। "क्योंकि इसी तरह लुढ़कते चले गए तो रानू, राजवंश, कर्नल रंजीत, सच्ची कहानियाँ, रसीली कहानियाँ... जाने कहाँ जाकर टिकेंगे ? और फ़िर कहानी पर गुलशन नंदाई फार्मूला लागू होता है तो कविताओं पर क्यों नहीं ?.....क्यों सस्ते हास्य कवियों का वह जय-जयकार नहीं करते ? उन कवियों का नाम क्यों लेते हैं जो किसी की समझ में नहीं आते और खासकर जनता से कटे हुए हैं ?..... यहाँ भी वह काका हाथरसी को बेहतर कवि घोषित करें न, क्योंकि जनता तो काका हाथरसी को ही कवि मानती है।''

"सच तो यह है कि यह जो कुछ लिख रहे हैं, वह मीडिया विशेषज्ञता के नाम पर लोगों को बेवकूफ बनाना है।'' फिर वह एक गोष्ठी के बारे में बताने लगे जो साहित्य और मीडिया के संबंधों की पहचान को लेकर हुई थी–

"मनु, उसमें जितने लोग थे, सब 'मीडिया-मीडिया' चिल्ला रहे थे और मीडिया माने टी.वी....तो उठकर मैंने कहा- "आप लोगों की बातचीत से जो निष्कर्ष मैंने निकाला, वह तो कुछ-कुछ यों है कि जो लेखक टी.वी. पर आएगा नहीं, उसे कोई जानेगा नहीं, चाहे वह एकांत में कितने ही कागज काले करता रहे–यानी लेखक होने के लिए यह जरूरी है कि वह टी.वी. पर आए ही....''

"अब मेरी सुनिए.... मैं इतने बरसों से लिख रहा हूँ कहानियाँ....मैं भी चाहता हूँ कि मैं कहानीकार बना रहूँ, यानी टी.वी. पर मेरी कहानियाँ आयें पर मेरी मुश्किल यह है कि मैं घूस दे नहीं सकता और बगैर घूस दिए टी.वी. पर मेरी कहानी आती नहीं। तो चूँकि मेरी कहानी टी.वी. पर आयी ही नहीं, इसलिए मैं आपके हिसाब से कहानीकार हूँ ही नहीं। अब आप लोग जो गण्य-मान्य सज्जन यहाँ उपस्थित हैं, कृपापूर्वक मेरे लिए कुछ पैसे का इन्तजाम कीजिए तो मैं घूस में दूँ और कहानीकार कहलवाऊँ'' कहते-कहते वह क्षण भर रुके, फिर विजयी भाव से गर्दन हिलाकर कहा-"इस पर मनु, जितने लोग थे वे दाएँ-बाएँ देखने लगे।. ....असल में, किसी लेखक के लिए लिखना तो जरूरी है–वह उसकी आंतरिक जरूरत भी है– पर मेरी समझ में नहीं आता कि वह अगर यही देखता रहे कि वह टी.वी. पर आता है या नहीं और इसके लिए प्रयास करता रहे, तो वह लिखेगा कैसे ?'' कहने के बाद वह चुप हुए तो अपनी बात कह पाने की तसल्ली उनके चेहरे पर नजर आई।

"आप जैसे विचार मेरे भी हैं..... मैंने लिखा था 'सारिका' में सुधीश पचौरी की टिप्पणी कथा दर्शन के खिलाफ....बड़ी लम्बी प्रतिक्रिया थी वह–और उन्होंने पूरी की पूरी छाप दी...'' मैंने कहा। फिर पूछ लिया- "आप सुनना चाहेंगे ?....उसकी एक प्रति मेरे पास है।''

मैं पढ़ना शुरू करता हूँ। मटियानी जी गौर से एक-एक शब्द सुन रहे हैं। लेख पूरा हुआ तो बोले- "बहुत अच्छा लिखा है आपने। करीव-करीब वही जो मेरे विचार हैं।....''

सुनकर एक अजीब तरह का थ्रिल महसूस हुआ।.....कैसा, मैं बता नहीं सकता।

कोई डेढ़-दो घंटे तक बातचीत चली। इसमें बड़ा अपनापा था क्योंकि बीच में 'माध्यम' कोई नहीं था। लिहाजा किसी दिखावे या बनावट की भी जरूरत नहीं थी।

उठकर चलने लगे, तो लगा उनसे खूब खुल कर बात हो सकती है- एकदम बेझिझक होकर।

इस दफा मटियानी जी से मिलकर लगा, बहुत दिनों बाद एक अपने जैसे आदमी से मिला हूँ।

मैं नीचे तक छोड़कर आया। इस बात के लिए फिर से माफी माँगी कि वह आये तो किताब नहीं थी।

"कोई बात नहीं। अब की आप मेरा नाम लिखकर अलग रख दीजिएगा। फिर कोई नहीं लेगा....'' चलते-चलते हँसकर कहते हैं।

उन्हें छोड़कर ऊपर आया। कमरे में बैठा तो देर तक दिमाग झनझनाता रहा। एक अजब-सा नशा था, जो पूरे दिन को–जी नहीं, आपके होने को 'कुछ नया-नया-सा' कर देता है।

इसके बाद तो उनसे लगातार मिलना हुआ। कभी-कभी हफ्ते में दो-दो बार भी। कोई विषय हम उठा लेते और उस पर मटियानी जी के विचार–जो यह तय था कि सौ प्रतिशत मटियानी जी के ही विचार होते और पूरे हिंदी जगत में वैसा सोचने वाला लेखक शायद ही कोई और हो, सुनने को मिलते।

जल्दी ही पता चल गया कि बातचीत में मटियानी जी 'दीर्घसूत्री' हैं और उनसे बातचीत करते हुए समय का अन्दाजा न आपको रहता है, न उन्हें। और अगर पंद्रह-बीस मिनट में आपको कोई बात करनी है तो हो सकता है दो-ढाई घंटे हो जाएँ और बात फिर भी अधूरी ही रहे और अचानक घड़ी पर आप की नज़र पड़े और आप अचकचा जाएँ–"अच्छा, ढाई घंटे हो गए...कुछ पता नहीं चला–कमाल है !'' मुझे अच्छी तरह याद है, एक बार दफ्तर का समय खत्म होने के बाद कोई आठ बजे चौकीदार के खटखटाने पर हम उठे थे।

ऐसी दो लम्बी मुलाकातों की याद अब तक बनी है। एक में लेखक-सम्पादक के रिश्तों की बात चली थी, जो पता नहीं कैसे घूमते-घुमाते, लेखक के स्वाभिमान, सत्ता और लेखक के संबंध वगैरह से होती हुई पुरस्कार-चर्चा तक चली गई थी। दूसरी में सुप्रीम कोर्ट तक लड़े गए मटियानी के मुकदमे की चर्चा थी, जिसने सुप्रीम कोर्ट के जजों तक को थका दिया था।

लेखक-सम्पादक संबंधों की चर्चा शायद इस बात से चली थी कि आज के दौर में संपादक की कुर्सी दैत्याकार होती जा रही है और लेखक बौना होता जा रहा है। कुल मिलाकर लेखक वही रह गये हैं जो मूषक की तरह संपादक की कुर्सी की परिक्रमा कर सकें !... मेरी इस बात पर मटियानी जी की टिप्पणी थी, "आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं....'' और फिर सुनाने लगते हैं- "मैंने राजेन्द्र जी से कहा-भाई साहब, आप क्यों लेखकों को नष्ट करने पर तुले हैं? जो आप कर रहे हैं, उससे तो कुछ भी बचेगा नहीं....क्योंकि जो कद्दावर लेखक हैं, उन्हें तो

आपने बाहर कर रखा है और आपके लिए लेखक वही हैं जो आपकी हथेली पर चल-फिर सकें।....इससे कुछ और हो न हो, एक पूरी युवा पीढ़ी तबाह हो जाएगी और जो भी कद्दावर हैं, वे तो फिर भी रहेंगे....''

फिर लेखक और संपादक के आदर्श संबंधों को वह क्या समझते हैं, यानी आदर्श संपादक की तस्वीर उनके जेहन में क्या है, यह समझाने लगते हैं.....

"मान लीजिए कि मैं संपादक हूँ-हूँ नहीं, लेकिन कल्पना में तो हो सकता हूँ-तो मैं संपादक हूँ और सड़क पर जा रहा हूँ- सामने से कोई लेखक आ रहा है। मान लीजिए, उस लेखक से रास्ते में मेरी बहस होने लगती है। होते-होते झगड़ा शुरू हो जाता है। अब वह लेखक रास्ते में पड़ा पत्थर उठाकर मेरे सिर पर दे मारता है और मैं खूनमखून हो जाता हूँ। इस पर मुझे गुस्सा न आए, ऐसा नहीं हो सकता। लेकिन अगर मैं सच में संपादक हूँ तो उससे कहूँगा- भाई मेरे, तुमने मेरा सिर फोड़ दिया, यह अलग बात है... लेकिन लेखक तुम अच्छे हो। अपनी कोई बढ़िया रचना लिखो तो पहले-पहले मुझी को देना।''

यानी आदर्श संपादक मटियानी के हिसाब से भिखारी है- जो आदर्श भिखारी होगा, वही आदर्श संपादक हो सकता है !....इसी सिलसिले में उन्होंने कन्हैयालाल नंदन का एक प्रसंग सुनाया था- उस समय का जब वह 'सारिका' के संपादक थे। उस समय उनकी कोई गर्वस्फीति भरी बात सुनकर उन्होंने उनकी घूमने वाली कुर्सी पर जो फब्ती कसी थी, उससे नंदन जी का मुँह उतर गया था।

फिर पुरस्कार की चर्चा चल पड़ी तो वह इस मुद्दे पर राजेन्द्र यादव से हुए लम्बे पत्र-व्यवहार की चर्चा छेड़ देते हैं कि-"हिंदी अकादमी राजेन्द्र यादव को पुरस्कृत करना चाहती थी। राजेन्द्र यादव इस पर ऊहापोह में थे और उन्होंने पत्र लिखकर मुझसे राय माँगी थी। एक बात यह भी आई थी कि पुरस्कार लेकर वह किसी ऐसे व्यक्ति को दे दें जो अभावग्रस्त हो- यानी आर्थिक कष्ट में पड़ा हो.....''

यहाँ तक कि एक बार तो उनके मन में यह आया कि वह यह पुरस्कार लेकर मटियानी की मदद कर दें। मटियानी यह पूरा प्रसंग इस तरह दोहराते हैं जैसे एक-एक शब्द उन्हें याद हो। मुझे उनकी स्मरण-शक्ति की दाद देनी पड़ती है।

"अच्छा, पुरस्कारों के बारे में आपकी अपनी राय...'' इस विषय में उनकी दो-टूक राय जानना चाहता हूँ और मटियानी एक क्षण को भी देर नहीं लगाते- "पुरस्कार मल में पड़ा हुआ सोना है..... मेरे मन में इस बात को लेकर कोई संदेह नहीं है।'' वह अपने खास अंदाज में कहते हैं, "लेखक को पुरस्कार लेना नहीं चाहिए। यह लेखक के आत्मसम्मान के खिलाफ है।''

"यानी आप पुरस्कार ले रहे हैं तो इसका मतलब है, मल में हाथ सानकर सोना उठा रहे हैं.... आपने पुरस्कार लिए भी हैं न मटियानी जी-चाहे छोटे-मोटे सही...?'' मैं सीधा सवाल दागता हूँ, थोड़ी दुष्टता से।

इसलिए कि मेरे लिए जीना ज्यादा जरूरी है....'' वह हँसकर कहते हैं, "अगर पुरस्कार

के पैसे से मेरे घर की रोटी चलती है....तो मैं यह कहूँगा कि मल में पड़ा हुआ सोना उठाऊँगा। फिर हाथ धो लूँगा। उस सोने को बेच कर मैं घर की जरूरत की चीजें ले आऊँगा।''

मुझे उनकी भावना, उनके तर्क, दोनों का कायल होना पड़ा। तभी याद आया कि यही शख्स था जो लेखक के स्वाभिमान की लड़ाई को सुप्रीम कोर्ट तक ले गया था... धर्मवीर भारती और रवीन्द्र कालिया को उसने नाकों चने चबवा दिये थे क्योंकि आपातकाल में गलत संदर्भ में उन्होंने मटियानी के नाम का गलत इस्तेमाल किया था। मटियानी की इस लड़ाई में न जाने कब हिंदी की अस्मिता की लड़ाई भी शामिल होती गई और मटियानी ने बगैर किसी वकील के खुद वकालत के पोथे पढ़कर इसे लड़ा। बड़े से बड़े वकीलों का सामना किया। सुप्रीम कोर्ट के जज उनके तर्क सुनकर हक्के-बक्के रह गए।

'राष्ट्रभाषा का सवाल' में इसी के आधार पर वह साबित करते हैं कि 'राष्ट्रपति' एक अश्लील शब्द है। इसे बदला जाना चाहिए।....इसी तरह उनका तर्क है कि उन बड़े से बड़े अधिकारियों के खिलाफ देश-द्रोह का मुकदमा चलाना चाहिए, अगर ये हिंदी नहीं जानते। यहाँ तक कि इस मामले में वह राष्ट्रपति और राज्यपालों को भी नहीं बख्शते ! उनका तार्किक दुस्साहस मुग्ध करता है। शायद हर दुस्साहस की यही खूबी है और मटियानी में यह भरपूर है। इस मामले में हिंदी के दबे, सहमे, सिर झुकाए लेखकों से वे अलग नजर आते हैं।

इन्हीं दिनों उनके कहानी संग्रह 'बर्फ की चट्टानें' पर मैंने दैनिक हिन्दुस्तान में एक लम्बा आलोचनात्मक लेख लिखा। इसमें संग्रह की अच्छी कहानियों 'छाक', 'अर्द्धांगिनी', 'दो दुखों का एक सुख' और 'प्रेत मुक्ति' की विस्तार से चर्चा के साथ-साथ जो कमजोर कहानियाँ थीं, उन पर भी टिप्पणी की थी कि इन्हें हरगिज इस संग्रह में नहीं होना चाहिए था।

लेख छपा तो मुझे आशंका थी, हो सकता है मटियानी जी बुरा मान जाएँ। उनके बारे में चारो तरफ इसी तरह की बात कही जा रही थी।....पर जब उन्होंने पढ़ा तो मेरी तमाम आशंकाओं को ध्वस्त करते हुए उन्होंने उस पर खुशी ही प्रकट की। बोले–"इतने विस्तार से मेरी कहानियों पर कम ही लोगों ने लिखा है। ऐसा भी हुआ कि लेख छपने गया और आखिरी वक्त रोक लिया गया। तुमने जिन कहानियों को कमजोर बताया है, वे मेरी भी प्रिय कहानियाँ नहीं हैं। बस, आ गईं किसी तरह....'' और फिर उन्होंने उन लेखों की चर्चा छेड़ दी जिनमें विस्तार से इनके लेखन की मीमांसा थी लेकिन हिंदी साहित्य की राजनीति, उन्हें मार गई।

कुछ समय बाद अमर गोस्वामी जी 'संडे आब्जर्वर' में आ गए तो मटियानी जी से मुलाकातों का सिलसिला और बढ़ गया। 'संडे आब्जर्वर' का दफ्तर हमारे दफ्तर के ही पास था।....अमर गोस्वामी मटियानी जी के परम आत्मीय और निकटस्थ लोगों में से थे और मुझसे भी उनका कुछ-कुछ परिचय आकार ले रहा था।

अब मटियानी जी को जब भी मिलना होता, वह मुझे वहीं बुला लेते। कभी-कभी फोन पर उनकी गूँजती हुई आवाज सुनाई दे जाती– "मनु, मैं इतने बजे आ रहा हूँ, तुम 'संडे

आब्ज़र्वर' में आ जाना। वहीं इंतजार करूँगा...''

और जब उनसे बात हो रही हो तो समय का कोई दखल नहीं होता था। एकाध दफा जब चर्चा ज्यादा लम्बी खिंच गई तो अमर गोस्वामी ने थोड़ी समझदारी की। एक अलग केबिन में जो उस समय खाली नजर आयी, हमारे बैठने की व्यवस्था कर दी और खुद काम में लग गये। रात उतरने के साथ ही जब मुझे फरीदाबाद की ओर जाती अपनी आखिरी गाड़ी का ख्याल आता तभी यह चर्चा खत्म होती।

इसी बीच मैं सत्यार्थी जी के लिए 'तीन पीढ़ियों का सफर' किताब पर काम कर रहा था, मैंने उनसे सत्यार्थी जी की कहानियों पर कुछ लिखने के लिए कहा। उन्होंने 'हाँ' की और उसे निभाया। सत्यार्थी जी की कहानियों के बारे में उनका लेख इस किताब के बेहतरीन लेखों में से एक है।

इस लेख की खासियत यह है कि सत्यार्थी जी की केवल दो कहानियों 'जन्मभूमि' और 'कबरों के बीचोबीच' को लेकर पूरा किया गया है। और इसमें सत्यार्थी के कहानीकार व्यक्तित्व की कमजोरी और खासियत की कमाल की व्याख्या है।

कुछ रोज बाद भाषा पर मटियानी जी के लेखों की किताब 'राष्ट्रभाषा का सवाल' आई। ये लेख अखबारों में छपकर खूब चर्चित हो चुके थे और एक शब्द में कहा जाए तो दुस्साहसी लेख थे। मुझे हिंदी के सवाल पर इतनी बेबाकी से लिखने वाला कोई लेखक नजर नहीं आता—मटियानी के सिवाय। लेकिन किताब आई तो हिंदी में समीक्षा की जो हालत है, उसे देखते हुए यह तय ही था कि उसकी उपेक्षा होगी। और सचमुच यही हुआ था। कुछ समय बाद अमर गोस्वामी के कहने पर मैंने उस किताब पर एक टिप्पणी लिखी थी 'भाषा के मोरचे पर एक खतरनाक किताब'। और उसमें मटियानी के विचारों की चर्चा की थी कि ये विचार दूसरों से कितने अलग और समस्या से सीधा-सीधा मोरचा लेने वाले हैं।

इस किताब में सबसे ज्यादा चोट तथाकथित 'हिंदी भक्तों' पर की गई थी जो दिखावे के लिए हिंदी की पूजा करते हैं, लेकिन असल में हिंदी के भक्त नहीं, हिन्दी के दलाल हैं, जो हिंदी के नाम पर सरकार से पैसे खाते हैं—हवा में उड़ान भरते हैं, बड़े-बड़े फंड डकार जाते हैं और हिंदी की हालत पहले से ज्यादा दुबली होती जाती है। अपने मक्खन-मलाई की चिंता में जो हिंदी की बेकद्री होते देख रहे हैं, वे हिन्दी का भला चाहने वाले नहीं ढोंगी हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी और हिंदी-दिवस के नाम पर ऐसे छिपे हुए ढोंगियों को कोसते रहने से तो बेहतर है कि हिंदी के बजाय सीधे-सीधे अंग्रेजी को ही राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया जाए।

जाहिर है 'राष्ट्रभाषा का सवाल' किताब में मटियानी जी का गहरा फ्रस्ट्रेशन है—लेकिन इसके ठोस कारण भी हैं। हिंदी की जो हालत उन्होंने अपनी आँखों से देखी है और उससे वे जितना विचलित हुए हैं, उसे भला वे भुलायें कैसे ? मुझे खूब अच्छी तरह से याद है, एक बार बड़ी पीड़ा के साथ उन्होंने एक प्रसंग सुनाया। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की पूर्व संपादिका मृणाल पांडे ने उनसे हिंदी-दिवस पर लेख लिखने के लिए कहा तो उन्होंने जबाब में पूछ लिया था- "आप यह बताइए कि १४ सितम्बर को हिंदी दिवस मनाया क्यों जाता है ?

.. और अपने ही देश में हिंदी-दिवस मनाया जाना क्या कोई सम्मान की बात है ?''

जाहिर है कि मृणाल पांडे के पास उनके किसी सवाल का जबाब नहीं था। बोलीं- "मैं नहीं जानती....''

"लेकिन हिंदी-दिवस पर लेख लिखवाने की सार्थकता....?'' मटियानी जी ने अपनी सीधी-स्पष्ट भाषा में पूछा। मृणाल पांडे ने इसका उस समय तो कोई जबाब नहीं दिया लेकिन थोड़े समय बाद मटियानी जी को इसका जबाब मिल गया–हालांकि सीधी-स्पष्ट भाषा में नहीं। हुआ यह कि अगली बार वह मृणाल पांडे से मिलने गए और स्लिप भीतर भिजवा दी। कोई आधा-पौन घंटा वह प्रतीक्षा करते रहे। फिर भी यह देखकर कि तमाम लोग तो यूं ही भीतर जा रहे हैं और सिर्फ उन्हीं को इंतजार करने के लिए बाहर बैठा रहने दिया गया है, वह झटके से उठे और चले आए। फिर वह कभी वह 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के दफ्तर नहीं गए।

संपादकों के इस व्यवहार का मटियानी को इतना अनुभव है कि वह चाहें तो इस पर पूरा एक उपन्यास लिख दें।....लेकिन हर जगह–बड़ा से बड़ा नुकसान झेलकर भी–उन्होंने संपादकों को अहसास दिलाया कि वे लेखक से बड़ी चीज नहीं हैं, और न किसी लेखक की रचना छापने का मतलब उस पर अहसान करना ही है।

और संपादक ही क्यों ?... जहाँ मौका मिला, बड़े से बड़े लेखकों के ढोंग का परदाफाश करने से वह नहीं चूके। जिस इंदिरा गाँधी ने इमरजेंसी लगाकर पूरे देश को कारागार में बदल दिया, उनके हाथों से पुस्तक लेने पर महादेवी वर्मा और नागार्जुन दोनों को उन्होंने 'पुरस्कारों की प्रासंगिकता' लेख में खूब आड़े हाथों लिया है। इसी तरह 'लेखक और संवेदना' में अज्ञेय के आभिजात्य पर एक लम्बी बहस है, जिसमें जगदीश गुप्त, रमेशचन्द्र शाह और चंद्रकांत बांदिवडेकर मटियानी के आविष्ट तर्कों के आगे पानी मांगते नजर आते हैं।.....

मटियानी जी से हुई मुलाकातों को याद करूँ तो उसमें कहानी की मौजूदा हालत, लेखक के सरोकार और सामाजिक प्रश्नों को लेकर मटियानी जी के अतीत, घर-परिवार आदि के साथ उनकी कहानियों की चर्चा की याद ही ज्यादा आती है।

मटियानी की 'बर्फ की चट्टानें' के अलावा 'त्रिज्या' में छपी कहानियाँ और लेख मैंने पढ़ लिए थे। उनकी 'लेखक और संवेदना' वगैरह किताबें भी। कुछ रोज बाद मटियानी जी अपने उपन्यासों का एक सेट भेंट करके गए। सचिन प्रकाशन ने उनके चार उपन्यास एक जिल्द में छापने की योजना बनाई थी। मटियानी जी ने अपनी पसंद के चार उपन्यास छाँटने से लेकर भूमिका के रूप में उन पर एक विस्तृत आलोचनात्मक लेख लिखने का जिम्मा मुझ पर डाला था। उन्ही दिनों एक के बाद एक मटियानी जी के उपन्यास पढने का सिलसिला चला। 'बोरीबली से बोरीबंदर तक', 'गोपुली गफूरन', 'मुठभेड़', 'बावन नदियों का संगम', 'रामकली', 'बर्फ गिर चुकने के बाद'.....वगैरह।

मटियानी जी जब भी मिलते, मैं इन उपन्यासों के रचनाकाल और उनके लिखे जाने के समय की मनःस्थिति के बारे में उनमें खोद-खोद कर पूछता। कभी-कभी मुझे हैरानी होती-

इतने अच्छे उपन्यास ! इनकी ज्यादा चर्चा क्यों नहीं हुई...? 'मुठभेड़' और 'बावन नदियों का संगम' का तो मुझे बिलकुल पता नहीं था, हालांकि ये बिल्कुल अपने ढंग के अनूठे उपन्यास हैं...

कभी-कभी चर्चा राजेन्द्र यादव और 'हंस' की ओर मुड़ जाती। हम दोनों इस बात पर सहमत थे कि अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद 'हंस' हिंदी कहानी की एक मात्र प्रतिनिधि पत्रिका रह गई है और हम इस पर भी सहमत थे कि राजेन्द्र यादव कहानीकार जितने बड़े हैं, संपादक उतने बड़े नहीं हैं तथा वे कहानी के नाम पर खूब राजनीति और घालमेल कर रहे हैं। वरना 'हंस' जैसी पत्रिका है, उससे कहीं बड़ी पत्रिका होती और बड़ा कर पाती। एक दफा 'हंस' के एक संपादकीय में छपे विचारों पर मैंने मटियानी को आगबबूला होते देखा। इस संपादकीय में राजेन्द्र यादव ने पुराने लेखकों की तुलना गलित, क्षरित, बुढ़ियाई हुई अभिनेत्रियों से की है- दर्शक जिन्हें इस रूप में परदे पर बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं। फिर इस पर यह टीप भी है कि हालांकि कुछ लेखकों को यह तुलना बुरी लग सकती है, मगर इसमें गलत क्या है ? मटियानी जी तिलमिला कर कह रहे थे-"ऐसा ही है जैसे किसी को घूँसा मारने के बाद कहा जाए-लो, लग गई मिरचें ! कुछ देर बाद खुद पर थोड़ा-सा काबू पाकर कहा-"किसी और भाषा में ऐसा होता-लेखक के स्वाभिमान पर चोट पहुँचती तो क्या वे यह बर्दाश्त करते? सभी मिलकर पत्रिका का बायकाट कर देते...और जब तक संपादक माफी नहीं माँगता, कोई प्रतिष्ठित लेखक उसमें लिखने के लिए तैयार नहीं होता...पर हिंदी के लेखक, ये ससुरे स्वाभिमान से कोरे हैं- उन्हें कुछ महसूस नहीं होता।'' फिर बोले-"मैने आज सुबह ही राजेन्द्र यादव को फोन पर कहा था- "भाई साहब आप 'हंस' के दफ्तर के बाहर एक ब्यूटी सैलून खुलवा दें...ताकि जो बूढ़े, चुसे हुए लेखक-लेखिकाएँ हैं, क्रीम पाउडर लगवाने के बाद आप तक आएँ...और आपको उनकी बदबू बर्दाश्त न करनी पड़े। वैसे आप एक नजर कृपापूर्वक खुद पर भी डालिये न। आप खुद भी कौन ऐसे खूबसूरत हैं ! मौका मिले तो जरा अपनी भी प्लास्टिक सर्जरी करवा डालिए.....''

किसी संपादक से ऐसी खरी बातें कहने का साहस रखने वाला लेखक हिन्दी में शैलेश मटियानी ही हो सकता है। बहुत ढूढें तो हो सकता है, दो-चार नाम और मिल जाएं.... लेकिन यह तय है कि हिन्दी में ऐसे लेखक उंगलियों पर गिने जाने लायक ही हैं।

इसी सिलसिले में एक और प्रसंग याद आ रहा है। मंडल आयोग वाले फैसले पर जब देश भर में आग लगी हुई थी तो 'हंस' में उस पर इतना- और इतने अधिक प्रतिक्रियात्मक ढंग से छप रहा था कि हमें लगने लगा था- 'हंस' एक साहित्यिक से अधिक राजनीतिक पत्रिका है...और राजेन्द्र यादव दो-दो यादव मुख्यमंत्रियों के ठीक सुर में सुर मिलाकर बोल रहे हैं। मटियानी जी से बात हुई तो मैंने कहा, 'ऐसा है मटियानी जी ! बरसों से राजेन्द्र यादव का नाम पढ़ते आ रहे हैं।....उनका नाम पढ़ते हुए 'यादव' उसी तरह इनके नाम का हिस्सा लगता था, जैसे मोहन राकेश के नाम में राकेश....लेकिन आज पता चला कि नहीं, यह गलत था। ये राजेन्द्र यादव तो उसी ढंग के यादव हैं- जैसे मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव....यानी

यादवों जैसे यादव हैं, कुछ और नहीं। ठीक वैसे ही जैसे महीप सिंह ने साबित कर दिया था कि वह लेखक-वेखक तो बाद में हैं, पहले तो वह 'सिंह' हैं।

सुनकर मटियानी जी को हँसी आ गई। बड़ी देर तक हंसते रहे। फिर कहा, "तुम यह बात लिखकर भेजो राजेन्द्र यादव को....."

मैं भी हंसने लगा, "देखूँगा..."

फिर बताते हैं, "मैंने एक पत्र लिखा था राजेन्द्र यादव को। पोस्टकार्ड था। उस पर पता लिखा था, "पिछड़े लेखक राजेन्द्र यादव को मिले...."

"अरे, बुरा नहीं लगा उन्हें? मैंने चौंक कर पूछा। इस पर मटियानी जी हंसे, "लगा जरूर होगा।..... कह रहे थे- 'यार ये क्या गड़बड़ करते रहते हो ?' मैंने कहा- 'आप ही चिल्लाते रहते हैं- 'हम पिछड़े हैं, हम दलित हैं....अब पिछड़े हैं तो पते में पिछड़ा लेखक लिखने पर आफत क्या आ गई ?...'"

कुछ देर बाद कहने लगे, "वैसे राजेन्द्र यादव क्या मेरी तुलना में दलित हैं ? क्या कोई सिर्फ 'यादव' हो जाने से पिछड़ा हो जाता है ?... हिन्दी साहित्य में राजेन्द्र यादव की हैसियत किसी पिछड़े जैसी है ? ये जो पूरे हिन्दी कथा साहित्य को जैसे मर्जी धक्के मार-मार कर हेकड़ी से ठेले जा रहे हैं-क्या ये दीन, हीन, दरिद्र हैं ?"

"वह तो ठीक है....मगर" मैंने कहा, "क्यों लेते रहते हैं आप इस तरह के पंगे ?... फिर आप दिल्ली आते हैं तो बैठते भी उन्हीं के पास हैं ! बुरा तो जरूर मानते होंगे, कहते भले ही न हों।"

"बुरा मानते हों तो मानते रहें- मुझे परवाह नहीं...."मटियानी जी एक फीकी मुस्कुराहट के साथ बोले। फिर गम्भीर हो गए," वैसे अपनी आलोचना बर्दाश्त करने की क्षमता अदभुत है इस आदमी में"

"अच्छा आपका उनसे क्या झगड़ा नहीं होता ?" मैं हौले से पूछ लेता हूँ।"

"अभी तक तो नहीं हुआ....हालांकि बहसें खूब हुई हैं- अब भी होती हैं। विचार की स्वतन्त्रता को लेकर मैंने कभी कोई समझौता नहीं किया।" मटियानी जी साफगोई से कहते हैं।

"अच्छा, राजेन्द्र यादव की कहानियाँ आपको कैसी लगती हैं....?" थोड़ा विषय-परिवर्तन करते हुए पूछता हूँ।

"मुझे कमलेश्वर की तुलना में राजेन्द्र यादव की कहानियां कहीं ज्यादा अच्छी लगती हैं..." मटियानी साफ-साफ कहते हैं, "हालांकि उनकी बहुत सी कहानियाँ ऐसी हैं, जिनकी तरफ लोगों का ज्यादा ध्यान नहीं गया...यह दुख की बात है कि खुद इतने अच्छे कहानीकार होते हुए भी 'हंस' को वह हिन्दी की अच्छी कहानियों की पत्रिका नहीं बना पाए।" और मैंने देखा-विस्मय के साथ-कि राजेन्द्र यादव की कहानियों की व्याख्या करते समय वह इतने शांत, इतने निर्मल हो गए कि सारी कटुता और तिड़-तिड़-तिड़ जलता गुस्सा न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। "असल में मानवीय चरित्र की बड़ी गहरी समझ उस आदमी को है, और कहानी बुनने

की कला, क्राफ्ट यह जानता है.....'' मटियानी बता रहे हैं और मैं मुँह बाए उनके चेहरे को देख रहा हूँ।

बहुत समय से मटियानी जी के लेख ज्यादा पढ़ने को मिल रहे थे, कहानियाँ नहीं। हर बार मिलने पर वह अपने किसी नए लिखे गए या अभी हाल में छपे या छपने जा रहे लेख की चर्चा करते। कोई एक मुद्दा जो उनके मन में छा जाता, एक के बाद एक उसी पर लेख लिखते जाते, जो स्वतंत्र लेख होते हुए भी लेखों की एक श्रृंखला का आभास कराते।....मुझे हिन्दी के अलावा मंडल आयोग और अयोध्या के मंदिर-मस्जिद विवाद पर एक के बाद एक छपे उनके लेखों की याद आ रही है..इन पर बात करते हुए पहले वह विरोधियों के विचार उद्धृत करते और फिर बड़ी कुशलता से एक-एक कर उन्हें काटते जाते। मटियानी जैसा तर्ककुशल व्यक्ति मैंने अपने जीवन में कोई और नहीं देखा। बल्कि इतनी होशियारी से कहना चाहिए कि किसी घिसे हुए वकील की तरह तर्क करते देखकर लगता है—क्या यही वह व्यक्ति है जो इतनी बारीक संवेदना की बुनावट वाली कहानियां लिखता है ? (राजेन्द्र यादव ने अपने एक संपादकीय में इस पर एक गजब की टिप्पणी लिखी थी कि ऐसे खड़खड़ाते कर्णकटु लेख लिखने वाला आदमी कहानी लिखते समय इतना सॉफ्ट कैसे हो जाता है ! और उसे पढ़ कर मैं चौंका था- अरे मटियानी के भीतर ऐसा क्या कुछ देख लिया उन्होंने ! और उसे कहा किस खूबसूरती से।)

कभी-कभी मैं आजिज आकर पूछता, "आप लेखों में ही क्यों खुद को जोते हुए हैं? कहानियां क्यों नहीं लिखते ?'' कभी-कभी चिढ़कर कहता, "आप लेख, टिप्पणियां कुछ भी लिखिये, लेकिन 'खुदा की अदालत' में आपको तो एक कहानीकार के रूप में ही जाना जाएगा।''

इस पर वह कहते, "ठीक है, आपकी बात मैं मान लेता हूँ। यह सब नहीं लिखता... .लेकिन फिर कहानी लिखने के लिए जो अनुभव चाहिए, वे कहाँ से आएंगे ? यह जो बहसों में शामिल होना है, साफ-साफ, खरी बात कहना और दूसरों को भी प्रतिक्रियाएं देने के लिए आमंत्रित करना है, इन्हीं के बीच से वह ऊर्जा मिलती है, जो आगे नया लिखने को प्रेरित करती है....और फिर लेख तुरंत छप जाते हैं...पैसा भी मिल जाता है, जिससे घर चलता है। ..कहानियाँ लिखने पर आजकल तो छपने का ही संकट है, पारिश्रमिक तो बाद की बात है। .''

फिर थोड़ी देर बाद कहते हैं, "कोई एडवांस पैसा दे तो जितनी चाहे कहानियां, उपन्यास लिखवा ले।...असल में तो कितनी ही कहानियों, उपन्यासों के प्लाट मेरे दिमाग में तैरते रहते हैं। थोड़ा-सा मौका मिले, थोड़ी-सी शांति, थोड़ी-सी आर्थिक सुरक्षा हो तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है, मगर अब तो भागमभाग है।...देखिए, उम्मीद रखिए, अभी तो बहुत कुछ लिखना है...लेकिन अब छोटी रचना लिख पाना मेरे बस की बात नहीं रह गयी। कुछ बड़ी और सघन रचनाएँ ही लिखी जाएँगी...उन्हें लिखने के लिए अब भी मेरे पास बहुत शक्ति है''

कभी-कभी राजेन्द्र यादव पर उनका गुस्सा हद से अधिक बढ़ा हुआ लगता है। उनके संपादकीयों की भाषा और तौर-तरीका कई बार उन्हें अक्षम्य लगता है- कहानियों के चयन में होने वाली राजनीति और लापरवाही भी।....एकाध दफा मैंने पूछ लिया, "हंस में क्यों नहीं

रही है आपकी कहानी ?'' इस पर बड़ा तिलमिलाता हुआ जबाव मिला, "मैंने एक पत्र भेजा था, वह उन्होंने नहीं छापा। मैंने फैसला कर लिया है, जब तक वह नहीं छपेगा, मैं 'हंस' के लिये कुछ नहीं लिखूंगा।....फिर वैसे भी मेरा निश्चय है, जब तक कोई संपादक लिखकर मुझसे कहानी नहीं मांगता, मैं नहीं लिखता।''

"अच्छा...क्या था उस पत्र में जिसे छापने की इतनी जिद कर रहे हैं ?'' पूछने पर वह बताते हैं, उसमें मैने लिखा था, आप एक बेईमान संपादक हैं।''

आपका 'बंबई खराद पर' वाला संस्मरणों का सिलसिला बहुत अच्छा जा रहा था, फिर वह अचानक बंद कैसे हो गया ?'' पूछने पर वह कहते हैं, "मुझे शुरू से ही आशंका थी कि ऐसा होगा....पाठकों के खूब पत्र और अच्छी प्रतिक्रियाएं आ रही थीं। पर राजेन्द्र यह कैसे पसंद कर सकते हैं ? उन्होंने संपादकीय में मेरे खिलाफ टिप्पणी लिखी। ये तमाम तरीके थे मुझे निरस्त करने के...आखिर मैंने फैसला किया कि अब नहीं लिखूंगा।'' कहते हुए एक अनबुझी कड़वाहट उनकी आवाज में नजर आती है।

कुछ देर रुक कर कहते हैं, "यह अब आएगा कभी आत्मकथा की शक्ल में....तैयारी चल रही है- देखिये कब तक हो पाता है ?'' कहते हुए मटियानी जी के चेहरे पर मस्ती नजर आती है। मुझे 'सारिका' के 'गर्दिश के दिन' के लिए लिखी गयी उनकी टिप्पणी 'लेखक की हैसियत से' याद आती है जिसमें उन्होंने दूसरों की तरह आत्मदया से ग्रस्त होकर अपने अतीत के दुखों को ग्लोरीफाई करने बजाय अपने भीतर की उस ताकत के बारे में लिखा है जो बुरे से बुरे हालात में लड़ने की ताकत देती रही। सिर्फ उनके संघर्षी जीवन के कुछ संकेत उसमें हैं- "मुंबा देवी के मन्दिर के सामने भिखारियों की कतार है और अन्न की प्रतीक्षा है...चर्च गेट, बोरीबली या बोरीबंदर से कुरला थाना तक की बिना टिकट यात्राएँ हैं और अन्न की प्रतीक्षा है। और इस अन्न की तलाश में भिखारियों की पंगत में बैठने से लेकर जान-बूझ कर "दफा चौवन'' में भारत सरकार की शरण में जाना और जूते-चप्पलों तक का चुराना ही शामिल नहीं, राष्ट्रीय बेंतों और सामाजिक जूते-चप्पलों से पिटना भी शामिल है।''

काश, मटियानी जी उस दौर के अनुभवों पर अब विस्तार से कलम चलाएँ, ताकि वह 'महाभारत' जिससे वह निकलकर आए हैं, जो समय की ओट में है, वह हम सबके सामने आ सके !...वह किसी उपन्यास से ज्यादा सजीव और रोमांचक होगा—पर क्या मटियानी सब ओर से खुद को समेटकर लिख पाएंगे वह ?

"आपने सुप्रीम कोर्ट तक हिन्दी के लिए लड़ाई लड़ी और अपनी शक्ति, ऊर्जा आपने उसमें झोंक दी। यह शक्ति आपके लेखन में भी लग सकती थी ?...आखिर यह आपका काम तो नहीं है न !'' बातों-बातों में यह सवाल पूछ लेता हूँ।

सुनकर वह गंभीर हो जाते हैं। फिर कुछ सोचते हुए कहते हैं, "हां, औरों ने भी यह सवाल किया है, और ऊपर से देखने पर यह बात सही सी लग सकती है कि एक लेखक यह सब क्यों करे- या इस हद तक क्यों जाए ?...लेकिन इस सवाल के जवाब में मेरा भी एक सवाल है कि अगर मैं यह लड़ाई न लडूँ—अधबीच हारकर या चुप होकर बैठ जाऊँ तो कहानी या

उपन्यास लिखने के लिऐ अनुभव कहाँ से निकलेंगे ?...क्या लिखने के लिए अनुभव किसी से उधार मागूंगा ?....और बगैर अनुभव के–या इधर-उधर की सुनी-सुनाई या उड़ाई हुई बातों के आधार पर लिखना मुझे पसंद नही है।...'लेखक और संवेदना' में आपने पढा होगा, कोर्ट में मेरे यह कहने पर कि मैं हिन्दी का एक सम्मानित लेखक हूँ, जज का खौलता हुआ जबाब आया था, यू मे बी द ग्रेटेस्ट राइटर आफ द वर्ल्ड .. सो व्हाट ?..' आप कल्पना कर सकते हैं, यह सुनकर मुझ पर क्या बीती होगी ?..यह एक जज की संवेदनशून्यता तो थी ही, हमारे समाज में लेखक की जगह क्या है, इस पर टिप्पणी भी है। एक लेखक इस पर 'कन्सर्न्ड' महसूस नहीं करेगा तो कौन करेगा ? हाँ, इस बीच आपने मेरी 'अर्द्धांगिनी' या 'छाक' बगैरह कहानियां पढ़ी हों तो आप समझ जाएंगे कि मैं अभी चुका नहीं हूँ। कहानियां मैं अब भी बेहतर लिख सकता हूँ, अगर लिखने पर आया तो...''

अब तक मन बन गया था कि मटियानी जी का एक लंबा इंटरव्यू लिया जाए। इतने बीहड़ आदमी को अपने सामने अंतरंगता के साथ खुलते देखकर बार-बार लगता था–मैं उनके भीतरी अंतर्द्वंद्व का गवाह हूँ। उसे लिखना मेरी जिम्मेदारी है..

एक दिन बात करते-करते बीच में टोक कर अपनी इच्छा कही तो बोले, "हाँ, इच्छा मेरी भी है...लेकिन वह आप बाद में कभी करें, उसके लिए टेप रिकार्डर होना जरूरी है। एक-एक शब्द टेप हो, फिर लिखा जाय...और कुछ मुद्दे तय कर लिए जायं–वे साहित्य के हो सकते हैं, लेखक और समाज के सम्बन्ध में या लेखक और सत्ता के सम्बन्ध में हो सकते हैं. ...मेरी रचनाओं पर भी अलग से बात हो सकती है, आज के लेखक के सामने खड़े संकट पर बात हो सकती है। रचना और पुरस्कार तथा रचना और पारिश्रमिक को लेकर भी बात हो सकती है....और भी विषय लिए जा सकते हैं। कोई हफ्ता या पंद्रह दिन यह सिलसिला चले. ...फिर इस पर चाहे तो एक किताब भी हो सकती है। शर्त यह है कि उसकी रायल्टी आधी-आधी रहेगी।...''

इस शर्त को मानने में तो भला क्या आपत्ति हो सकती थी ? लेकिन उनकी इतनी बड़ी योजना सुनकर मैं भीतर से कुछ हिल गया।...योजना मुझे बुरी नहीं लगी थी, लेकिन इसके पूरा होने की उम्मीद बहुत कम नजर आ रही थी। खासकर जिस तरह वह भागते हुए आते, भागते हुए जाते थे...और तीन-चार घंटे का समय मुश्किल से मिलता था। (अगली मुलाकात तो अनिश्चित होती ही थी).... उससे यह सपना भी देख पाना कि वह हफ्ता, पंद्रह दिन मेरे यहाँ आकर ठहरेंगे, असंभव लगने लगा था।

...तो हारकर एक तरकीब निकाली। जब-जब मिलते, मैं उनके जीवन-इतिहास का कोई पन्ना खोल देता और वह बताना शुरू होते तो बताते चले जाते। इसी सिलसिले में उनके परिवार की पृष्ठभूमि का पता चला। पता चला कि बचपन उनका घोर नरक जैसी गरीबी में बीता। स्कूल की फीस एक-दो आने होती थी, लेकिन उतना देने को भी घर में पैसे नहीं थे। माता-पिता छोटी उम्र में अनाथ छोड़कर गुजर गये थे। चाचा खिला रहे थे तो काम कैसे नहीं लेते ? लिहाजा मटियानी बकरियां चराने के लिए जाते तो एक स्कूल के सामने बैठ जाते।

बच्चों को साफ-सुथरे कपड़े पहने स्कूल में जाते देखते रहते–लालसा भरी करुण आंखों से। स्कूल के बच्चों की गिनती-पहाड़े याद करने की आवाजें आतीं तो वह पेड़ के नीचे बैठे-बैठे दोहराते जाते। इस तरह उन्होंने वर्णमालाएं, गिनती और पहाड़े थोड़े-थोड़े सीख लिए। एक दिन स्कूल के हैडमास्टर बाहर निकले। बालक से पूछा-'क्यों..पढ़ोगे?' और बालक की आंखों से आंसुओं का झरना फूट पड़ा। वह बिलख-बिलख कर रोया।

मटियानी जी इस प्रसंग को सुनाते हुए भावुक हो जाते हैं। खुद मेरी हालत यह है कि वह रोता हुआ बच्चा मेरे अवचेतन का एक जरूरी हिस्सा हो गया है।.. फिर उन्होंने भागकर बंबई चले जाने और एक होटल में बैरागिरी करने की 'कथा' सुनाई।.. वहीं होटल में 'छोटू' की भूमिका निभाते हुए, मैले बर्तन घिसने के साथ-साथ उन्होंने कहानियां लिखीं। एक कहानी 'धर्मयुग' में छपने भेज दी और साथ में अपनी हालत भी बयान कर दी। 'धर्मयुग' के संपादक सत्यकाम विद्यालंकार ने वह पत्र पढ़ा तो अपने सहयोगियों के साथ उस अनोखे बालक से मिलने के लिए आए। किशोर रमेश मटियानी 'शैलेश' ने (तब शैलेश मटियानी इसी नाम से लिखा करते थे) उन्हें चाय पिलाई और बाद में बात चलने पर उसे धर्मयुग संपादकीय परिवार में लिए जाने की भी चर्चा चली। लेकिन रमेश मटियानी 'शैलेश' हाई स्कूल पास भी नहीं था जो संपादकीय परिवार में शामिल किए जाने की न्यूनतम शर्त थी। तो उसकी रचनाएं 'धर्मयुग' में स्थान पाने लगीं। उसने अपने जीवन की वह पहली और आखिरी नौकरी छोड़ दी और रचनाओं के पारिश्रमिक के आधार पर अपना गुजर-बसर करने लगा। फिर तो धीरे-धीरे यह हुआ कि उनकी कहानियों की धूम मच गई और पाठकों ने इतना अधिक पंसद किया कि देखते ही देखते वह हिंदी की पहली कोटि के कहानीकारों की पांत में आ गए।

लेकिन हिंदी कहानी में उनका यह स्थान बना तो आलोचकों के बल पर नहीं, पाठकों के बल पर !.. आलोचकों से उनको उपेक्षा ही मिली और आलोचना जगत में उनकी किसी कहानी की कुछ खास चर्चा रही हो, उन्हें याद नहीं आता। खुद मटियानी ने कभी आलोचकों की ज्यादा परवाह की होगी, नहीं लगता। हिन्दी में आलोचकीय तानाशाही पर उनका निबंध, रचना पाठ और आलोचना रामविलास शर्मा से लेकर नामवर और अशोक वाजपेयी तक की खूब धज्जियाँ उड़ाता है। और यहाँ वह इतने कठोर और क्रूर हो सकते हैं जिसकी मिसाल हिंदी में कम ही मिलती है। कोई कहानी, कब सचेतन कहानी हो जाती है, कब समांतर, कब सहज- इस मुद्दे पर नामवर पर करीब-करीब धोबीपाट चलाते हुए उन्होंने पूछा है- "क्या नामवर जी बता सकेंगे कि यदि महीप सिंह उनके गिरोह में शामिल हुए होते तो उनकी कहानियां 'नई कहानियाँ' होतीं या सचेतन?...." यहाँ गिरोह शब्द पर गौर करें तो शैलेश मटियानी की पूरी गुस्सैल मुद्रा सामने आ जाती है। (प्रसंगवश यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा, दुर्वासाओं की अगर एक छोटी-सी सूची बनाई जाए तो मटियानी का नाम अनिवार्यतः उसमें होगा ही।)

हिन्दी के बहुत से पाठकों को शायद पता न हो, पहले शैलेश मटियानी कविताएं भी लिखा करते थे बल्कि उनके लेखन की शुरुआत कविताओं से ही हुई। फिर धीरे-धीरे कविताएं

छूट गईं और वह कहानीकार के रूप में ही ख्याति पा गए। मटियानी यह बता रहे थे, तो मैंने पूछा "क्यों ऐसा क्यों ?'' इस पर अपनी 'भव्य' काया की ओर इशारा करके वह बड़े जोर से हंसे, "भई, एक तर्क तो शरीर का तर्क भी था- कि इतने बड़े शरीर वाले आदमी को कुछ जरा जम कर बड़ी रचनाएं लिखनी चाहिए।... सोलह-बीस पंक्तियों की कविता लिखते शर्म आती थी।''

इतनी बड़ा जीवन उन्होंने बगैर नौकरी के कैसे निकाल दिया ? कैसे उनके घर-परिवार का खर्चा चला ? जीवन में उन्हें क्या-क्या मुसीबतें, कैसे-कैसे अपमान झेलने पड़े? इसे शायद ही किसी ने समझने, जानने की कोशिश की हो। 'मटियानी जैसे एक फ्रीलांस राइटर के लिए डाकिए का क्या महत्व होता है ?'' मटियानी एक बार बता रहे थे, "इसे कोई दूसरा जान नहीं सकता .. कई बार तो हालत यह होती है कि घर में एक दाना तक नहीं है। पैसे के नाम पर एक फूटी चवन्नी तक नहीं...और घर में कोई मेहमान आया बैठा है!....आप बाहर सड़क पर चहलकदमी कर रहे हैं कि शायद डाकिया आए और मनीआर्डर लेकर आए. ...उस वक्त कभी-कभी तो यह हालत होती है कि इसका सिर फोड़ दिया जाए...''

"....हालांकि चिट्ठी लाना क्या उसके बस की बात है ?'' मैं कहता हूँ तो हंस पड़ते हैं और कहते वक्त चेहरे पर इकट्ठा हुआ तनाव बिखर जाता है।

इतना सब करने के बाद भी आखिर क्या मिला–पूरा जीवन साहित्य के लिये झोंक देने के बाद मैं सोचता हूँ और थरथरा उठता हूँ।

"...और साहित्य की दुनिया में भी मैं कहाँ हूँ, कभी-कभी निराश होकर वह कहते हैं, "मुझे कहाँ रहने दिया गया ? .. इनका बस चलता तो मुझे मिटा ही डालते। ...."आलोचना की हालत बहुत बुरी है। इतनी किताबें मेरी छपी हैं। लेकिन शायद ही मेरी किसी किताब पर आपने कोई समीक्षात्मक लेख या टिप्पणी देखी होगी। ...किसी की रुचि इसमें नहीं है कि मैं जिंदा रहूँ..... मैं तो खत्म ही हो जाता, बस किसी तरह अपनी इच्छा-शक्ति के सहारे जी रहा हूँ।.... स्थितियाँ मुझे लगातार खत्म करने पर तुली हैं। मुझे खुद ताज्जुब होता है, मैं जीवित कैसे हूँ ?''

कुछ देर बार फिर 'समीक्षा' वाला सवाल उठा लेते हैं, "हंस के संपादक राजेन्द्र यादव तो ऐसा नहीं कि मुझे जानते न हों- लेकिन क्या 'हंस' में आपने मेरी किसी किताब की समीक्षा देखी ?''

"क्यों ?'' मैं हैरानी से पूछता हूँ।

"इसलिये कि नहीं चाहते....'' वह एक फीकी मुस्कराहट के साथ कहते हैं, "वह नहीं चाहते कि कोई मुझे जाने...''

अचानक 'फ्लैश' की तरह एक प्रसंग मेरे सामने आता है। मैं उन्हें बताता हूँ "मैंने 'बर्फ की चट्टानें' पर समीक्षा करने के लिए कहा था, राजेन्द्र यादव से।.... ताजा-ताजा पढ़ा था उन दिनों–तो लिखने का मन था। सुनकर बोले-"क्या तुम पहाड़ी हो ?'' मेरे 'न' कहने पर कहा- "फिर रहने दो। किसी पहाड़ी से ही लिखवाएंगे...'' मटियानी उत्सुकता से मेरी बात

सुनते हैं। "क्या एक पहाड़ी की कहानियाँ पहाड़ी ही समझेगा ? मेरी आज तक समझ में नहीं आया ?'' मेरे मुंह से ये शब्द निकलते ही मटियानी जोर से हंस पड़ते हैं, "लेकिन साहित्य में इस तरह की चूतियागिरी क्षम्य है... अगर उसे करने वाला संपादक है तो।''

कुछ देर बार पूछ लेते हैं, "आपने बातचीत करते समय 'बर्फ की चट्टानें' की कहानियों की तारीफ की होगी।''

"हां...''

यही वजह है कि उन्होंने आपसे नहीं लिखवाया। अगर आप कहते कि ये कहानियाँ कूड़ा हैं, निहायत रद्दी हैं, तो वह कहते कि हां, यह लिख कर दे दो....''

"क्यों ?'', मुझे हैरानी हुई, "वह तो आपके मित्र हैं....आपकी कहानियों के प्रशंसक भी हैं, आपके संघर्षों को जानते हैं...''

"हाँ, ऐसी ही मित्रता है।'' वह कहते हैं- "असल में राजेन्द्र यादव मुझे उठता हुआ देख नहीं सकते। मेरी चर्चा हो, यह उन्हें कतई पसंद नहीं है।''

...उस दिन उस बात पर विश्वास नहीं हुआ था। आज भी पूरी तरह तो नहीं है। लेकिन क्या बात है कि मटियानी जैसा बड़ा लेखक, जो हिन्दी कहानी की सबसे बड़ी शख्सियतों में से एक है—एकदम अलग-थलग पड़ जाता है... और दुश्मन तो दुश्मन, उसके दोस्त भी इन क्षणों में साथ देने के बजाए अलग-थलग खड़े हो जाते हैं....क्यों भला ? क्या मटियानी के 'व्यक्तित्व' में ही ऐसा खोट है या हमारे सोचने-समझने के ढंग में ? मैं स्वीकार करूँगा, इस सवाल का जबाब मैं आज तक नहीं खोज पाया। हो सकता है असहमतियों का सम्मान न कर पाने का हमारा जो स्वभाव है, उसी के चलते ये स्थितियाँ पैदा हुई हों। और मटियानी का अपराध तो यही है कि अपनी असहमतियों को छिपा लेना उन्हें पाप लगता है।... या फिर हो सकता है, 'भाईवादी' प्रतिमानों का असर हो जिसमें मटियानी कहीं फिट नहीं होते। भाईवादी प्रतिमान.. यानी ? खुद मटियानी के शब्दों में- ''नामवर को छोटे भइया काशीनाथ सिंह की निहायत ही रूपवादी कहानियाँ भी (इस भाईवादी प्रतिमान से) न सिर्फ हिन्दी की अत्यंत ही विरल प्रगतिशील कहानियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं, बल्कि निर्लज्ज भाव से वे ऐसा घोषित भी करते हैं।''

नामवर के 'भाईवाद' को इतनी बेरहमी से उघाड़ने के बाद भी मटियानी भला कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि नामवर उन्हें कहानीकार मानेंगे ? हिन्दी आलोचना के उस सहज धर्म से विमुख होकर भी वह अब टिके हुए कैसे हैं- ताज्जुब तो इस बात का है। .. तो भी, न मटियानी की असहमतियाँ खत्म होती हैं, न उनकी लड़ाई, न उनका लिखना। क्या यह किसी बड़ी आत्मिक ताकत के बगैर संभव है ? •

इस बीच एक मर्माहत कर देने वाला समाचार सुनाई पड़ा। मटियानी जी के युवा बेटे की इलाहाबाद में गुंडों ने दिन-दहाड़े हत्या कर दी।... यह ऐसा समाचार था कि जिसने भी सुना वह सन्न रह गया। असलियत क्या थी, क्या नहीं—किसी को पता नहीं चला। यह भी

सुनने में आया कि वे किसी और की हत्या करने आए थे और गलती से उसकी हत्या करके चले गए। घटना के बारे में आधे-अधूरे समाचार इधर-उधर से मिलते रहे। उसके कोई दो-एक महीने बाद दरियागंज से मटियानी जी का फोन आया- उन्होंने मिलने के लिए बुलाया था। मटियानी जी के भाई दिल्ली के लोक संस्कृति, संगीत और नाट्य विभाग में निदेशक के पद पर नियुक्त हुए थे। उसी दफ्तर का पता मटियानी जी ने दिया था।

उस वक्त के एकदम टूटे हुए, भग्न हृदय मटियानी की शक्ल अभी मेरे सामने है, लेकिन मैं उसे शब्दों में कह नही सकूँगा। लगता था, किसी ने उनकी सारी ताकत निचोड़ ली हो और सिर्फ छिलका बचा हो। इतना बड़ा शरीर, लेकिन सफेद, बिल्कुल रक्तहीन....वह ठीक से बात नहीं कर पा रहे थे। इतने बड़े सदमे को झेलने और खुद को बिखराव से बचाने की कोशिश लगातार जाहिर हो रही थी। वह थक कर बार-बार लेट जाते थे। एक मरी हुई सी कराह बार-बार उनके होठों पर आती और डूब जाती थी। इस हालत में भी अपनी कराह या रुदन को वह बाहर नहीं आने देना चाहते थे। गो कि आंखों से गरम भाप निकलती महसूस होती थी।

"मनु मैं तो जीते जी खत्म हो गया।...घर में एक यही था जो मुझे सबसे ज्यादा समझता था और...''-एक ठंडी सांस लेकर उन्होंने कहा।

"लेकिन....यह सब हुआ कैसे ?'' मैं डरते-डरते पूछता हूँ। वह बहुत थोड़ा सा बताते हैं, टुकड़ों-टुकड़ों में। फिर जैसे अपने आप से कह रहे हों, वह अपने में खोए हुए से कहते हैं "परमात्मा ने मुझे अपने जीवन की सबसे कठिन परीक्षा में डाल दिया है। पता नहीं, जीवित रहूँगा या नहीं। जीवित रहा तो फिर से कुछ लिखूंगा...'' फिर कहा- "मनु, अब मैं इलाहाबाद में रहना नहीं चाहता। मैं इलाहाबाद छोड़ दूँगा...''

"कहाँ जाएंगे फिर ?''

"कहीं न कहीं जाऊँगा ही....अभी तय नहीं किया। लेकिन इलाहाबाद नहीं, हरगिज नहीं....'' कुछ देर बाद चाय आई। चाय के बाद बोले-"मनु अब तुम जाओ। मैं अगली बार आऊंगा तो फोन करूँगा।....तभी बातें हो पाएंगी।''

मटियानी जी के साथ इस दफा उनकी बेटी भी थी। उसके भविष्य की चिंता ने भी शायद उन्हें उद्विग्न किया था, क्योंकि अपनी परवाह वह करें न करें, लेकिन बच्चों को लेकर बेहद सजग हैं....

लौट रहा था तो मुझे याद आया, एक दफा न जाने किस झोंक में मैंने पूछ लिया था-"आप शराब नहीं पीते ?'' और उनका जवाब ऐसा था जो इससे पहले मुझे किसी लेखक से सुनने को नहीं मिला था। उन्होंने कहा था- "मैं शराब, सिगरेट या किसी भी नशे का सेवन नहीं करता- इसलिए कि शराब या कोई भी नशा लेने का मतलब है, मैं हार गया। यह मेरी मूल प्रतिज्ञा के खिलाफ है। दुख-दर्द जो भी मेरे हिस्से का है उसे सहकर-सीधे-सीधे झेलकर ही मै लेखक हूँ- तो मैं उसे सहूँगा। हर कीमत पर-हर हाल में...''

अगली मुलाकात में वह थोड़े संभले हुए लगे। इलाहाबाद छोड़ने का फैसला उनका

और पक्का हो गया था। बस, इलाहाबाद छोड़ने के बाद दिल्ली आएं या हल्द्वानी–यही सवाल उन्हें तंग कर रहा था ? इस दफा बटरोही की चर्चा हुई।

उन्होंने नवभारत टाइम्स में एक लेख लिखा था मटियानी जी पर–उसी को लेकर। लेख के कुछ हिस्सों पर मटियानी जी को आपत्ति थी कि बटरोही उन्हें एक खास रंग में रंगकर पेश करना चाहते हैं।.....हालांकि लेख मैंने भी पढ़ा था, और मुझे वह अच्छा लगा था। थोड़ी-बहुत असहमतियां हों तो मेरे ख्याल से यह ज्यादा बड़ी चीज नहीं है।... फिर पंकज बिष्ट ने 'हंस' में एक पत्र लिखकर मटियानी जी के विचारों की आलोचना की थी, उससे भी वह क्षुब्ध थे। 'हंस' का वह अंक मेरे सामने नहीं था और पूरा प्रसंग भी मुझे समझ में नहीं आ रहा था। हालांकि इतना मुझे पता था कि इन्ही पंकज बिष्ट ने कुछ समय पहले हिन्दी अकादमी का पुरस्कार लेने से सिर्फ इसलिए इंकार कर दिया था क्योंकि उसने शैलेश मटियानी जी की उपेक्षा की थी। और मटियानी जी के किसी कार्यक्रम के सिलसिले में पंकज बिष्ट ने विजयमोहन सिंह को जो पत्र लिखा था, उसका उन्हें जवाब नहीं मिला था। वही पंकज बिष्ट अब मटियानी को पिछड़ा हुआ या कम से कम 'आउट आफ ट्रैक', साबित करने पर तुले थे।

मटियानी के लिए यह दोहरी-तिहरी तकलीफ का समय था- मैं साथ था, लेकिन बेकार-लाचार !

ऊपर शायद चर्चा हुई है कि सचिन प्रकाशन ने मटियानी जी के चार उपन्यासों को एक जिल्द में छापने का निर्णय किया था। उपन्यास चुनने का निर्णय मुझे करना था और उस पर एक विस्तृत भूमिका लिखनी थी। जो चार उपन्यास मैंने चुने थे, वे थे- 'मुठभेड़', 'बावन नदियों का संगम', 'गोपुली गफूरन' और 'रामकली'। कई रोज की मेहनत के बाद भूमिका के रूप में जाने वाला लेख लिखा गया–कोई साठ पेज लम्बा। लेकिन वह इन चारों उपन्यासों के बारे में ही न था। मटियानी जी के सभी उपन्यासों की व्यापक छानबीन इनमें की गई थी। लिखने के बाद मुझे सचमुच संतोष मिला।

मटियानी जी के दूसरे उपन्यासों की तुलना में 'मुठभेड़' और 'बावन नदियों का संगम' मुझे अलग ढंग के बेहतरीन उपन्यास लगे और आज भी लगते हैं। अगर किसी जनवादी ने उन्हें लिखा होता तो तथाकथित जनवादियों की भीड़ उसे कंधे पर उठाए-उठाए दौड़ती। इसी तरह 'गोपुली गफूरन' में उस स्त्री की मन:स्थिति है, स्थितियाँ जिसे मुसलमान होने को मजबूर कर देती हैं, लेकिन उसका मन नहीं बदलता और परिवार के लोगों के लिए जिसकी तड़प नहीं जाती।...एक ही स्त्री के इन दोनों पहलुओं को इतने असरदार ढंग से और इतनी पूर्णता के साथ उभार पाना, मटियानी जैसे महाप्राण लेखक के बस की ही बात थी। इसकी तुलना में 'रामकली' उपन्यास हल्का-सा कमजोर लग सकता है, पर उसके केन्द्रीय पात्र 'रामकली' के चरित्र में मौलिकता गजब की है।

ये उपन्यास किसी ऐसे लेखक के होते जिसके साथ 'वाद' और उस वाद के पुछल्ले में बंधे सौ-पचास 'जुलूस निकालने वाले लोग' होते तो आज हिन्दी में इन उपन्यासों का हल्ला होता। मगर मटियानी जी बिलकुल दूसरी मिट्टी के लेखक हैं। दुश्मन बनाने की ऐसी

विशेषता हिन्दी में उनके सिवा शायद ही किसी और में हो। इस मामले में वह अकेले हैं–नितांत अकेले और अपनी मिसाल खुद हैं।.....इस बार मटियानी जी मिले तो मैं लेख की एक प्रति लेकर गया। उन्होंने देखकर रख लिया। कहा- "पढूंगा....थोड़ी फुर्सत होगी तब !''

तभी पता चला कि उन्होंने अपना प्रकाशन प्रकल्प चलाना तय कर लिया है। इस सवाल का भी कि इलाहाबाद छोड़ने के बाद कहाँ टिकें–दिल्ली या हलद्वानी–समाधान उन्हें मिल गया था।

अंततः उन्होंने हलद्वानी में ही टिकने का फैसला किया। वहाँ संयोग से उनके एक पूर्व परिचित मिल गए जिन्होंने मकान ढुंढ़वाने से लेकर हर तरह की परेशानियों में उनकी मदद की। न जाने क्यों उनका यह फैसला (दिल्ली के बजाय हलद्वानी रहने का) मुझे सही लगा–क्योंकि दिमाग में बार-बार यह खट-खट हो रही थी कि न दिल्ली मटियानी जैसों के लिए बनी है और न मटियानी दिल्ली के लिए।

इस समय अर्थिक स्थिति को जो पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो गई थी, फिर से लाइन पर लाना उनके लिये बड़ी चुनौती थी। और उनकी हालत–उन्हीं के शब्दों में लगभग एक नंगे आदमी की तरह हो गयी थी जिसे आगे-पीछे कुछ नजर नहीं आ रहा था। बस चलना है, चलते जाना है, यही जीवन है। कहीं न कहीं से उन्हें आर्थिक सहारे की जरूरत थी, उन्होंने दो-एक दफा फोन पर भानुप्रताप शुक्ल से बातें करने की कोशिश की तो मै चौंका–भानुप्रताप शुक्ल तो संघी हैं न, फिर ये....''

वह शायद चाहते थे कि उनकी कुछ किताबें उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा खरीद ली जाएं जिससे उनके घर का दाल नमक चलता रहे....फिर कुछ और बातें अंतरंग ढंग से।.... एक सवाल मेरे भीतर पैदा हुआ और हौले से खदबदा कर बुझ गया।

मैं चाहता था पूछूँ, लेकिन चुप रहना ही मैंने ठीक समझा। ऐसी हालत में जब मैं उनकी कुछ भी मदद करने की हालत में नही था–मैं कौन होता था पूछने वाला कि आर. एस. एस. वालों से उनका रिश्ता कैसा है ? हालांकि एक तरह की खिन्नता और विषाद मेरे भीतर जन्म ले रहा था। एक छोटा-सा बिन्दु मेरे भीतर छूट गया था–अव्याख्येय, जो बाद में धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया। और एक दिन तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि वह राम जन्म भूमि के मुद्दे पर आर. एस. एस. के विचारों से सहमत हैं। मस्जिद गिराई जानी चाहिए, मन्दिर बनना चाहिए–इति !

इसके बाद धीरे-धीरे उनके चारो ओर आर. एस. एस के प्रभाव का घेरा कसता गया जिसे देखने के लिए किसी को खास कोशिश करने की जरूरत नहीं थी। रामजन्मभूमि के मामले में अखबारों में छपे उनके लेखों के रिप्रिन्ट हजारों की संख्या में पुस्तकाकार में छपवाकर विश्व हिन्दू परिषद ने घर-घर बँटवाए।

थोड़े ही अर्से बाद–जैसी कि आशंका थी, मटियानी जी हिंदू राष्ट्र की वकालत करते नजर आए। अब वह संघियों की तरह यह सवाल पूछने लगे कि आखिर भारत हिंदू राष्ट्र क्यों नहीं है ?

मेरी उनसे इस बात को लेकर लम्बी बहस हुई। संघियों के चरित्र को मैंने उन्हें समझाना चाहा कि ये लोग तानाशाही दिमाग वाले लोग हैं, आप इनसे क्या हासिल करेंगे ? इनके यहाँ कला, साहित्य–किसी चीज का कोई मतलब नहीं। लेखक के सम्मान और स्वतंत्रता की कद्र करने वाले लोग ये नहीं हैं....आप इधर आए तो हैं, लेकिन आपको बाद में पछतावा होगा–यकीनन होगा। जैसा आपका स्वभाव है, पटरी इन लोगों से हरगिज नहीं बैठेगी....और आपको जो लेखन है, वह तो खुद ही हिंदू राष्ट्र की नीति के खिलाफ खड़ा है...

लेकिन नहीं–एक तेज प्रतिक्रिया उनको लगभग एक तूफान की तरह उड़ाए लिए जा रही थी। आर. एस. एस. के विचारों और कार्यक्रमों में उनकी हिस्सेदारी लगातार बढ़ती गई। जब मैं उनसे कहता कि ये संघी लोग आपको ज्यादा समय बर्दाश्त नहीं करेंगे तो उनका जवाब होता–"तुम क्या समझते हो, ये वामपंथी मुझे बर्दाश्त करेंगे ?....तो फिर इन्हें मेरी इतनी परवाह करने की क्या जरूरत है ? मै जिऊँ-मरूँ इनकी बला से।''

फिर एक बार इसी विषय पर बात चलने पर बोले–"जनवादियों का एक बहुत बड़ा सम्मेलन हो रहा है धर्मनिरपेक्षता के मसले पर।...'क्या आपको लगता है कि ये मुझे बुलाएंगे? हरगिज नहीं–क्योंकि वे जानते हैं कि यह आदमी बोलने खड़ा हो गया तो किसी का लिहाज नहीं करेगा और हम सबकी बोलती बंद हो जाएगी।''

'आपको मालूम है, आर. एस. एस. के लोग असहमतियों को बर्दाश्त नहीं करते ? आप वहाँ खप नहीं पाएंगे।' मैंने कहा तो बोले-"उन्हें अच्छी तरह पता है, मैं जब बोलने खड़ा होता हूँ तो वही कहता हूँ जो मुझे कहना होता है।.....मैं किसी से प्रभावित नहीं होता हूँ और बड़े से बड़े आदमी की आलोचना कर सकता हूँ–यह उन्हें मालूम है....''

फिर वह बताने लगे कि एक गोष्ठी में हिंदू राष्ट्र के प्रश्न पर राजेन्द्र माथुर बोल कर बैठे ही थे कि वह खड़े हो गये और कहा कि राजेन्द्र माथुर इस विषय पर घंटा भर बोलकर गए हैं पर मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि वह 'राष्ट्र' शब्द का क ख ग भी नहीं जानते. ..अगर जानते हों तो वह 'राष्ट्र' की परिभाषा कर के बताएं !... इस पर सभा में सन्नाटा छा गया। बाद में राजेन्द्र यादव ने कहा, "मटियानी, तुम्हें यज्ञध्वंस करने में मजा आता है....तुम हमेशा कोई न कोई ऐसी बात कहकर सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हो। यह अच्छी बात नहीं है...''

इस पर मटियानी का जवाब था–मैं तो सच कहता हूँ–किसी को अच्छा लगे, बुरा लगे, मुझे परवाह नहीं...''

इसी तरह राजेन्द्र यादव जब पहले पहल 'जनवादी' हुए तो मटियानी से उनकी काफी लंबी बहस और पत्र-व्यवहार चला। मटियानी का विचार था 'गिरोह तो चोर-डाकुओं के होते हैं, लेखकों के गिरोह का क्या मतलब ?'' और राजेन्द्र यादव का कहना था कि आज के वक्त में कुछ करने के लिए एक जैसा सोचने वाले लोगों का साथ आना जरूरी है.... उनका कहना था, हमें नैतिक सवालों और मानव मूल्यों की बात एक तरफ रखकर एकदम व्यावहारिक धरातल पर इस बारें में सोचना चाहिए–क्योंकि कर्म का यही रास्ता है।

लेकिन मटियानी लगातार उनसे असहमत रहे। 'अनैतिक कर्म' के कीचड़ में शामिल होने के बजाए वह लेखक होने के नाते बुरी शक्तियों और अन्यायों के खिलाफ आवाज उठाते रहने की लेखक की विद्रोही फितरत पर ज्यादा यकीन करते हैं। बहस 'अनिर्णीत' रही.. और राजेन्द्र यादव न सिर्फ 'जनवादी' हुए बल्कि खुद को नया जनवादी 'अवतार' साबित करने के लिए उन्होंने ऐसी-ऐसी कहानियाँ छापीं कि 'समांतर' के दौर में चुन-चुनकर एक खास तरह की कहानियाँ छापने वाले कमलेश्वर भी लज्जित नजर आए।

मैंने अक्सर देखा है, मटियानी के तर्कों का कोई जवाब नहीं है... वह जब बहस करने पर उतारू होते हैं तो आप उनके अकाट्य तर्कों का कायल हुए बगैर नहीं रह पाते। मुझे 'संघ' के मामले में उनसे हुई एक बहस की अब भी याद है। मैंने उन्हें कहा था-"आपके आर. एस. एस. से जुड़ने की काफी आलोचना हो रही है।'' इस पर उन्होंने कहा-"आपको गलतफहमी हुई है।....मैं तो सिर्फ उनके मंच का इस्तेमाल कर रहा हूँ। वहाँ खड़े होकर मैं अपनी बात करूँगा।''

"देखिएगा वे इसी तरह धीरे-धीरे आपको निगल जाएंगे।....आपको पता भी नहीं चलेगा...'' मैंने खीजकर कहा।

"यह तो बाद की बाद है।.... पहले आप मुझे उनके दल में घुसा तो दीजिए।... जरा पूछिए उनसे, क्या मुझे स्वीकार करने के लिए तैयार हैं ?'' कहकर वह हंसते हैं, बड़ी निर्मल हंसी।

मैं और भी चिढ़ गया, "मटियानी जी. आप भटक गए हैं।.... शायद आप भूल गए हैं कि आप कहानी लेखक हैं ?....''

इस पर जो कुछ उन्होंने कहा, वह शायद दो दर्जन बार पहले भी कह चुके थे-"मनु, मैं उसी की तैयारी में तो लगा हूँ...जल्दी ही तुम देखोगे कि मैं फिर कहानी की ओर लौटूँगा. .. अभी तो मेरी समस्या अपने घर को चलाने और अपना बिखराव समेटने की है...''

लेकिन इसके बाद उन्होंने जो कुछ कहा, वह मेरी कल्पना से परे की चीज थी। उन्होंने बताया कि वह आजकल "योग वशिष्ठ'' का अध्ययन कर रहे हैं और जैसी विराट मेधा उन्हें "योग वशिष्ठ'' में मिली है उसका अंशमात्र भी शायद दुनिया की और पुस्तक में न हो। कुछ और नहीं तो 'तर्ककुशलता' और 'एक्सप्रेशन' की खूबसूरती के लिए इसकी तारीफ की जानी चाहिए।... फिर योग तो कोई अलग रखकर, अपने से दूर रखकर तारीफ करने की चीज नहीं। वह तो हमेशा जीवन में अपनाए जाने के लिए है...

वह 'योग वशिष्ठ' में क्या है, क्या नहीं और किसी तरह की मुग्ध कर देने वाली चमत्कारी मेधा उसमें है, इस पर लगातार बोलते जा रहे थे और मैं कयास लगा रहा था, आगे के कुछ महीनों का काम शायद मटियानी जी का तय हो गया। वह अब यही करेंगे-बस यही करेंगे... और आगे की मुलाकातों ने साबित कर दिया कि मेरा अनुमान कुछ गलत नहीं था। बल्कि एक दफा तो शरमाकर (या शायद मुझे ही ऐसा लगा हो) उन्होंने कहा था, "आपको यकीन नहीं आएगा, मैंने कुछ भजन भी लिखे हैं...''

"क्या ?'' मैं आसमान से जमीन पर गिरा तो मुँह से चीख निकलते-निकलते रह गई। बड़ी मुश्किल से मैं अपने विस्मय पर काबू पा सका था। फिर मेरे अनुरोध पर उन्होंने एक भजन की कुछ पंक्तियां सुनाई भी थी। भजन बुरा न था, पर मटियानी और भजन। मामला कुछ जम नहीं रहा था। "कहीं आप 'स्वामी जी' टाइप कोई चीज बनने तो नहीं जा रहे ? कोई आश्रम-वाश्रम खोलने का इरादा तो नहीं ? मैंने डरते-डरते पूछा। इस पर वह जमकर हँसे। बोले-"क्या आपको ऐसा लगता है ?''

फिर वह समझाने लगे अपना मकसद कि इधर इसीलिए आए हैं कि अपनी जो पीढ़ी दर पीढ़ी चली आई संपदा है और नष्ट हो रही है, उसे बचाया जाए। कुल मिलाकर उनके विचारों का सार यह था, "योग भारतीय चीज है...हमारी अपनी चीज...। हमें इस पर गर्व करना चाहिए। यह लोगों तक पहुँचने का जरिया भी हो सकता है.... हालांकि योग को मैं कभी पिटे पिटाये नजरिए से नहीं देखता...'' उन्होंने मेरी जिज्ञासा को शमन करने की कोशिश की, लेकिन मैं महसूस कर रहा था कि मेरा असंतोष और बढ़ गया है।

"आप... दरअसल आप कन्फ्यूज्ड हैं। आप खुद को बरबाद करने पर तुले हैं।.. आप खुद अपने दुश्मन हैं...'' मैंने खामखा तैश में आकर कह दिया।

"हरगिज नहीं... मैं इसे केवल ध्यान एकाग्र करने के लिए कन्सेंट्रेशन के लिए करता हूँ और दिन में कई घंटे मेरे इसी में बीतते हैं, यह अपने भीतर से शक्ति हासिल करना है. ताकि मैं ऐसी कहानियाँ लिख सकूँ जो मेरी पिछली कहानियों से आगे की चीज हो....''

कुछ देर बाद खुद ही उन्होंने सवाल किया, "आपने मेरी इधर की कहानी—सबसे आखिरी कहानी—'माता' पढ़ी होगी ? बताइए, कहीं उसमें कोई कसर आपको नजर आई ?''

इस पर मैंने कोई जवाब नहीं दिया तो बोले, "आप मेरा एक लम्बा इंटरव्यू करना चाहते थे न, वह कीजिए, उसमें आप और सवालों के साथ-साथ यह सवाल भी कीजिए। मैं आपको विस्तार से जवाब दूँगा।''

"अच्छा क्या आप घंटों योग की स्थिति में बने रहते हैं ?'' मैं एक बार फिर सवाल पूछता हूँ—डरते-डरते।

इस पर मटियानी जी का जवाब मिलता है, "मेरे जीवित रहने के लिए यह जरूरी है। ...यह भीतर से शक्ति पाना है.....अपने बिखराव पर काबू पाना मेरे लिए इस समय सबसे ज्यादा जरूरी है। मेरी हालत इस समय यह है कि मैं जैसे मौत के घर में जाकर उससे संघर्ष कर रहा हूँ, और योग ऐसे में...'' मुझे पूरी तरह योग की शक्ति पर यकीन नहीं होता, लेकिन जबकि वह कह रहे हैं—और 'आत्मविश्वास' से कह रहे हैं—तो अविश्वास करने का भी कोई कारण नहीं है। एक बार फिर मटियानी जी के परिवार की स्थितियाँ मेरे सामने आ जाती हैं और मैं लज्जित हो जाता हूँ। बगैर नौकरी के यह शख्स जाने किस तरह अपने परिवार की गाड़ी को ठेल-ठेलकर जी रहा है और इतना लिखता भी जा रहा है—मैं यह सब समझ कर अपने सवालों से उन्हें कोसता रहूँ—क्या यह अच्छी चीज है ?....

मुझे अपने खामखा के असंतोष और तैश में आकर सवाल दागते चले जाने पर गुस्सा

आता है।

सच तो यह है कि मटियानी हिन्दी कहानी के शीर्ष पुरुषों में से एक हैं। हिन्दी साहित्य को जितनी अच्छी कहानियाँ उन्होंने दी, उतनी शायद ही किसी और लेखक ने दी हो। इस मामले में न कमलेश्वर और न राजेन्द्र यादव जैसे कहानी के दिग्गज उनके आगे ठहर सकते हैं और न ही रेणु जैसे बड़े लेखक।

प्रेमचंद के बाद हिन्दी को सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानियाँ देने वाला मटियानी है, लेकिन आज हालत यह है कि कहानी की चर्चा हो तो बड़े तो छोड़िये पिद्दी से पिद्दी लेखक भी मटियानी का नाम लेने से बचते नजर आते हैं। कारण शायद यह है कि मटियानी उन लेखकों में से हैं जिन्होंने सबसे ज्यादा दुश्मन बनाये हैं। इस कला में उन्हें अद्भुत महारत हासिल है. ...हालांकि मटियानी का कमाल यह है कि उनकी कहानियों का जादू हमेशा सिर पर चढ़कर बोलता है। चाहे ऊपर से कहें नहीं, सभा-सोसायटी में या पत्रिकाओं में लिखकर चाहे स्वीकार नहीं करें, लेकिन अलग से बात करो तो शायद मटियानी के दुश्मन भी यह स्वीकार करेंगे कि वह बहुत बड़े लेखक हैं-, सहज ही हिन्दी के सबसे बड़े कथाकार, मगर यह भी साथ ही साथ जरूर कहेंगे कि "हालांकि वह खुद ही अपने सबसे बड़े दुश्मन भी हैं.."

मैंने मटियानी के इसी स्वभाव को लेकर एक कविता लिखी थी और उन्हें एक ऐसा अजीब आदमी बताया था जिसे खतरों से खेलने में मजा आता है। मौत के साथ लगातार जूझते हुए भी जो अपने जीने का ढब नहीं छोड़ता और उसका होना मुझे दुनिया में अपनी तरह की एक और 'आवाज' का होना लगता है।

मटियानी को इस कविता के बारे में बताया तो वह हँसे, "अच्छा, कभी सुनाना.."

"लेकिन इण्टरव्यू..? अब आप जल्दी से उसके लिए समय निकालिए" मैं याद दिलाता हूँ।

इस पर वह कहते हैं कि, "हाँ-हाँ क्यों नहीं ?...हालांकि मेरा इंटरव्यू लेना इतना आसान नहीं। जाने कितने लोग पीछे पड़े रहे। "सारिका" ने अशोक अग्रवाल को भेजा था। वह तो एक तरह से डेरा डालकर ही बैठ गये थे। लेकिन मूड नहीं बना... तुमसे बात करने का तो मेरा मन है..." और फिर वह कमलेश्वर तथा कन्हैयालाल नंदन के जो इंटरव्यू मैंने किए, उनकी तारीफ करने लगते हैं, "यह कला तुम्हें आती है.... भीतर से बात निकलवाने की कला.."

लेकिन कई महीनों नहीं, बरसों की कोशिश के बाद भी उनसे इंटरव्यू करने का सुयोग मिलता दिखायी नहीं दिया। बाद में १९९६ के समाप्त होते-होते उनसे अजीब स्थितियों में इंटरव्यू लेने का अवसर मिल ही गया। "

समय खिसक रहा है और हम इस खिसकते हुए समय में एक खूंटा गाड़ पाने का अपना इरादा शायद कभी नहीं छोड़ पाते।...अलबत्ता इस बहाने मटियानी को भीतर से जानने का एक मौका मिल गया और मैं इसे भी कम महत्वपूर्ण नहीं मानता। मटियानी की 'इगो' के इर्द-गिर्द जो धूल-धक्कड़ और जाले थे उन्हें समझने और उनकी तह में जाने का मौका भी

मिला। तबियत यंह भी हुई कि यह जाले जितना हो सके, साफ किए जाएँ। मटियानी के बारे में और लेखकों के विचार और टीपें भी पता चलीं–और यह मेरे लिए एक विचारोत्तेजक चीज थीं। तभी पता चला कि मटियानी किस हद तक 'बदनाम आदमी' हैं और उनकी 'झगड़ालू' इमेज बनाकर लोगों ने उनसे कैसे-कैसे बदले लिए हैं, और कैसी-कैसी नीचताएं की हैं।... और इसके बावजूद भी मटियानी का लोग सम्मान करते हैं, तो यह कोई छोटी बात नहीं है। एक शब्द में कहूँ तो यह मटियानी का 'महापुरुषत्व' है जो उन्हें सब विरोधों के बावजूद जिलाए हुए है। अब एक आखिरी टीप और...

पिछले दिनों एक पत्र के संपादक जी से बात हो रही थी। मैंने उनसे आग्रह किया, "मटियानी जी के बारे में कुछ छपना चाहिए। उनकी कहानियों या उपन्यासों पर कोई लेख ..."

इस पर वे चमककर बोले, "मटियानी की कहानियाँ तो जबरदस्त हैं, बल्कि हिंदी कहानी में उनका कद सबसे बड़ा है... पर उपन्यास तो उनके बहुत सस्ते हैं..."

"आपने उनका 'मुठभेड़' पढ़ा है ?..., 'बावन नदियों का संगम' पढ़ा है?, 'गोपुली गफूरन' पढ़ा है ?..., 'चंद औरतों का शहर' पढ़ा है ?..." मैंने गंभीर होकर पूछा।

"नहीं, लेकिन 'बोरीवली से बोरीबंदर'..."

"वह उनका शुरुआती उपन्यास है, आप बाकी की चीजें भी पढ़िए..." मैंने कहा, 'मुठभेड़' पुलिस के आतंक की कथा है, विरोधियों को कैसे झूठे एनकाउंटर्स में खत्म किया जाता है.... 'बावन नदियों का संगम' वेश्याओं की दुनिया पर लिखा गया एक बिल्कुल अलग ढंग का उपन्यास है... 'गोपुली गफूरन' में विपरीत स्थितियों में घिर गई एक दबंग औरत का चित्र है ... 'चंद औरतों का शहर' औरतों की भीतरी दुनिया पर एक बिलकुल अलग ढंग का कथा-प्रयोग है। आप एक बार पढ़िए तो सही। अगर हम किसी को एक 'इमेज' में बांधकर रख दें और उससे बाहर निकलने का कोई मौका ही न दें तो यह अत्याचार है।"

इस पर उनके सामने 'हरिया हरक्यूलिस की हैरानी' की तारीफ करने और "उपन्यास तो महाकाव्यात्मक होना चाहिए" में बचाव खोजने के सिवा कोई और रास्ता नहीं बचा।... और मुझे लगा–हिंदी को एक तुर्गेनेव मिला था, मटियानी के रूप में–काश कि उसे बेकद्री नहीं झेलनी पड़ती। लेकिन कृतघ्न हिंदी वाले।...पहले ये लेखक को मारते हैं और उसकी हत्या कर देने के बाद पूछते हैं–"वह कौन था ?" निराला को इसी तरह खत्म किया गया, इसी तरह मटियानी को खत्म कर देने की कोशिश हो रही है और और यह आश्चर्य नहीं कि कवियों में महाप्राणत्व अगर निराला में है तो कथा साहित्य में अकेले मटियानी 'महाप्राण' कहलाये जाने के अधिकारी हैं।

हैरानी इस बात की है कि हिंदी में 'हरिया हरक्यूलिस की हैरानी' जैसी रचनाओं को खींच-खाँचकर लम्बा किया जाता है और मटियानी की जीवन भर की साधना को–उनकी कड़ियल जिंदगी के संघर्ष के बीच से निकली रचनाओं को फूंक मारकर उड़ाने की कोशिश की जाती है।....मटियानी की असफलताओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता रहा है, उनके

स्वाभिमान और खुद्दारी को 'झगड़ालूपन' कहकर प्रचारित किया जाता रहा है और उनकी उपलब्धियों का मजाक उड़ाया जाता रहा है।

लेकिन मटियानी उन लेखकों में से हैं जिन्हें समय ने साबित किया है। उन्हें आलोचकों ने नहीं, पाठकों ने बनाया है—और वह हैं तो इसलिए कि हिंदी के पाठकों ने उन्हें लम्बे अरसे से अपने दिल में जगह दी है। मटियानी को यहाँ जो प्यार और सम्मान मिला है, वह शायद ही हिंदी के किसी और लेखक को मिला हो।

सारे विरोधों के बावजूद मटियानी का होना यह साबित करने के लिए काफी है कि कथा साहित्य में अब भी पाठक की सत्ता आलोचक से कहीं बड़ी है और अंतत: समय की लम्बी दौड़ में लेखक वही जिएगा, पाठक जिसे चाहेंगे और प्यार करेंगे। और कहना न होगा, यहाँ मटियानी को जो जगह हासिल है वह आगे के बरसों में शायद ही किसी और लेखक को हासिल हो सकेगी।

पुनश्च-

कुछ समय पहले मटियानी जी मिले थे। उन्हें जब बताया कि उन पर लेख लिखा जा रहा है, तो एक फीकी मुस्कान के साथ बोले, "मत लिखो, बिलकुल मत लिखो...वरना मेरे साथ-साथ तुम भी बदनाम हो जाओगे। लोग कहेंगे कि देखो, यह भी आखिर भीतर से 'संघी' ही निकला।''

और मैनें तमतमाकर कहा था, "मटियानी जी, मुझे किसी की परवाह नहीं....किसी की। आप नरक में जाएंगे तो मैं वहाँ भी आपका पीछा करूँगा और आपसे मिलने आया करूँगा।''

इस पर उनकी आंखों में जो भाव था, उसे क्या कहूँ—प्रशंसा, उदासी, करुणा या...या. ..या...?

अभी पिछले दिनों अखबार में मटियानी की बीमारी का समाचार मिला तो हाथ अनचाहे, एक अव्यक्त इच्छा के साथ आसमान की ओर उठ गये-"हे प्रभु, इसकी...इस खतरनाक आदमी की रक्षा करना, जिसने जीवन भर संघर्ष किया है—जीवन भर....और अपने लड़ाकूपन की वजह से हमेशा गलत समझा गया है।''

अभी तो सिर्फ उम्मीद है कि जैसे और लड़ाइयों से वह 'विजेता' हो कर निकले हैं, इस बार भी बीमारी को घिस्सा देकर निकल आएंगे और हँसते-हँसते लड़ाई का किस्सा और अंतरंग संस्मरण सुनाएंगे।

बातचीत

डॉ. प्रकाश मनु से डॉ. ओम निश्चल

हमारे भीतर रक्त नहीं, निर्लज्जता बह रही है

डॉ. ओम निश्चल : मनु जी ! आज आपसे जिस विषय पर मैं बातचीत करना चाहता हूँ, वह है विश्व में या कि देश में भी भू-बाजारीकरण की बढ़ती प्रक्रिया और इसका जो प्रभाव आज की हिन्दी पत्रकारिता पर पड़ रहा है, उसे आप कैसा महसूस कर रहे हैं। आज की हिन्दी पत्रकारिता क्या अपने इस दायित्व के प्रति सजग है और अपनी भूमिका सजग ढंग से, चौकन्ने ढंग से निभा रही है ?

डॉ. प्रकाश मनु : ओम भाई ! मुझे तो बहुत गहरी निराशा है... और इतना क्षोभ, जो हालात हैं उसे देखकर होता है कि मुझे मनुष्य के रूप में बड़ी शर्म का अहसास होता है। खासकर सोवियत संघ के पतन के बाद हमारे बौद्धिक वर्ग में जिस तरह की स्थितियाँ आयी हैं, साहित्य में जिस तरह की स्थितियाँ आयी हैं और पूरे समाज में जिस तरह का बदलाव देख रहा हूँ, वह बदलाव इतना अस्वस्थ, एक तरह से भविष्य के लिए खतरों के संकेत लिए है कि मै शायद ठीक से उसे शब्दों मे कह नहीं सकूँगा। यानी जब मैं ऐसे तमाम लोगों को देखता हूँ जो सोवियत संघ था तब मार्क्सवाद का दम भरा करते थे, सोवियत संघ के पतन के बाद जब उनकी स्थिति यह देखता हूँ कि एक मीनार गिरती है तो वे दूसरी मीनार की ओर दौड़ते हैं, और वहाँ छेदों को ढूँढ़ने लगते हैं जहां उन्हें फायदे मिलने लगें। जब उनकी यह स्थिति है, तो बाकियों के प्रति कहा क्या जाए ! राजनीति में आपको बताऊँ, सामाजिक चिन्ता में आपको बताऊँ कि इतनी शर्म की बात है कि आप देखिये कि ६०-७० के दौर में जिस समय लोहिया का चिन्तन सामने था, जिस समय मार्क्सवाद पूरे दम के साथ था, साहित्य में जो भूखा आदमी था, जो गरीब आदमी था, जो सबसे वंचित था और जो सबसे ज्यादा आर्थिक चोट सह रहा था, उस आदमी को लेकर इतनी चिन्तायें थीं कि वो हमारे साहित्य, सामाजिक, राजनीतिक चिन्तन के केन्द्र में था। और आज स्थिति यह है कि न साहित्य में, न हमारे समाज में, न हमारे राजनीतिक प्रक्रिया में और पत्रकारिता में तो बिलकुल ही नहीं, भूख से मरते हुए आदमी की चिन्ता कोई नहीं कर रहा है। हालत यह है कि आप भूखे हैं, तो आप मर जाइए। सैकड़ों लोग भूखे हैं तो सैकड़ों मर जायं और हजारों और लाखों लोग भूखे हैं, तो हजारो-लाखों मर जाएं, उनके मरने से क्या है, आबादी तो इतनी बढ़ी है कि इस देश में फर्क क्या पड़ने वाला है। आज इस बात की चिन्ता किसी को नहीं है कि एक आदमी मर रहा है या इतने लोग मर रहे हैं। मुझे लगता है, यह बहुत बड़ी चिन्ता है और मैं देखता हूँ कि पत्रकारिता ने कभी यह भूमिका निभायी थी कि उसने राजनीति की

एक तरह से लगाम कस दी थी।

रघुवीर सहाय जब यह कहा करते थे कि हिन्दी में बात करो या गरीब आदमी की बात करो, तो उस समय राजनीतिक हलकों में एक तरह से हलचल मच जाती थी। या राजेन्द्र माथुर जिस समय ललकारते थे अपने संपादकीयों में, तो बहुत दूर तक उसकी गूँज और बहुत दूर तक उसकी लहरें जाती थीं। आज मैं पत्रकारिता में इस तरह के शिखर-पुरुषों का न सिर्फ अभाव देखता हूँ बल्कि उसकी जगह जो ऐसे लोग आ गये हैं, जिन्होंने आते ही पहले अपनी गर्जन-तर्जन से अपने होने का अहसास कराया था और उसके बाद जैसे उनकी मुठ्ठी क्रान्ति में आगे बढ़ी हुई थी, उसके तुरन्त बाद क्रान्ति के लिए आगे बढ़ी हुई मुट्ठी का मूल्य चुकाने के लिए एक हाथ पीछे कर देते हैं और वहाँ चुपके से चोरबाजारी से समझौते होते हैं। उस चोर बाजारी के लिए मेरे भाई, मेरे मित्र, आज एक बहुत सम्मानजनक शब्द दे दिया गया है जिसे आप भू-बाजारीकरण कहते हैं, जिसे दूसरे शब्दों में, मैं विश्वबाजारवाद कहूँगा, मुझे यह शब्द कहीं ज्यादा आम प्रचलन में आने योग्य लग रहा है। इस पर तो विचार किया जा सकता है लेकिन यह जो विश्वबाजारवाद आ रहा है, यह चोरबाजारवाद का एक दूसरा रूप है, मुझे इसमें कोई शक नहीं। जो बाहरी कम्पनियाँ या ये जो मल्टीनेशनल्स हमारे यहां आ रहे हैं वे गरीब आदमी के लिए नहीं आ रहे हैं, इस बारे में मैं बिलकुल निश्चिन्त हूँ। यह सरकार जो आर्थिक उदारवाद की बात करती है, और उसके साथ गरीब आदमी की बात करती है, यह सरकार झूठी है, बेहया है, यह सरासर गलत बयानी कर रही है। आर्थिक उदारवाद के नाम पर जिनका पोषण हो रहा है, वे बड़े पूँजीवादी हैं, वे बड़े उद्योगपति हैं और अगर किसान उसके साथ जुड़े हैं तो वे ऐसे बड़े किसान हैं, जो कि बड़े पूँजीपतियों के साथ कदम मिला रहे हैं, उनमे भूखे आदमी की चिन्ता नहीं है, उनमे मजदूर की चिन्ता नहीं हैं, उनमें गरीब आदमी की चिन्ता नहीं है, उनमें छोटे किसानों की चिन्ता नहीं है, उनमें निम्न मध्यवर्ग के नौकरी पेशा लोगों की चिन्ता नहीं है। ये हमारी चिन्तायें नहीं दूर करेंगे। हमें धोखा देने और हमें मूर्ख बनाने के ये दूसरे तरीके हैं। ये ज्यादा सम्मानजनक भाषा में कहें, तो हमें ठगा जा रहा है, हमारा शोषण किया जा रहा है और मैं इस मामले में सबसे ज्यादा दोषी अगर किसी को मानता हूँ मित्र तो हिन्दी की पत्रकारिता को मानता हूँ और बौद्धिक जगत को मानता हूँ।

रघुवीर सहाय जब यह कहा करते थे कि हिन्दी में बात करो या गरीब आदमी की बात करो, तो उस समय राजनीतिक हलकों में एक तरह से हलचल मच जाती थी। या राजेन्द्र माथुर जिस समय ललकारते थे अपने संपादकीयों में, तो बहुत दूर तक उसकी गूँज और बहुत दूर तक उसकी लहरें जाती थीं। आज मैं पत्रकारिता में इस तरह के शिखर-पुरुषों का अभाव देखता हूँ।

ओम निश्चल : मनु जी, पत्रकारिता तो एक दृष्टि से आज पूँजीपतियों का शगल है, उनके हितों

की साधक है, इसलिए जनता की हितों के पक्ष में उससे हम ज्यादा उम्मीद नहीं करते किन्तु बौद्धिक तबके से हम उम्मीद करते हैं कि वह तो ऐसे विरोध की आवाज बुलन्द करे। मैने देखा है, छोटे शहरों/कस्बों में बचपन बचाओ आन्दोलन या अपसंस्कृति तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के विरोध में खड़े संगठनों से अनेक बुद्धिजीवी गहरे स्तर पर जुड़े हैं। आपके 'आब्जर्वेशन्स' क्या हैं ?

प्रकाश मनु : आज हमारा बौद्धिक जगत इतना निष्क्रिय हो चुका है इस देश में कि अगर कुछ भी हो जाय, कितने ही लोग मारे जायं, कितनी ही बेकारी हो, भुखमरी हो, सरकार आम आदमी के विरोध में कितनी ही बड़ी योजनायें ले आये, कितने ही बड़े-बड़े षड्यन्त्र कर ले और सिर्फ एक रेशम की चादर उस पर डाल दे तो इस बौद्धिक वर्ग को बहुत आसानी से मूर्ख बनाया जा सकता है, इसलिए यह बौद्धिक वर्ग तो बिक चुका है, बौद्धिक वर्ग ने अपनी अस्मिता बेच दी है। यह एक तरह से सत्ता वर्ग का दलाल बन चुका है और ठीक यही बात मैं हिन्दी की पत्रकारिता के बारे में कहना चाहता हूँ, जिसके बहुत सारे अक्स अगर आपने पढ़ा हो तो 'यह जो दिल्ली है' में और अब 'कथा सर्कस' में आपको मिलेंगे। उनकी जो प्राथमिक चिन्तायें हैं, वो यही चिन्तायें हैं कि जब आम आदमी की किस्मत और उसकी अस्मत का सौदा किया जा रहा है, तो ये जो आम आदमी की बात करने वाले हैं, कहां सो रहे हैं, क्यों सो रहे हैं ? मेरे लिए यही सबसे ज्यादा चिन्ता की बात है। काश ! आज इस पर विचार किया जाय। लेकिन यहीं मैं इस दूसरी बात की ओर संकेत करना चाहूँगा कि चाहे अल्पसंख्यक ही सही लेकिन ऐसे पत्रकार, ऐसे लेखक अब भी हमारे बीच मौजूद हैं, जो इस बाढ़ में जिसमें मैने बड़े-बड़े बौद्धिकों को बहते देखा है, बड़े-बड़े पत्रकारों को बहते देखा है और बहुत शर्म के साथ बड़े-बड़े साहित्यकारों को बहते हुए देखा है, जो कभी आम आदमी की बात किया करते थे, उन सबको मैने विश्वबाजारवाद, मल्टीनेशनल और एक तरह से दूसरे शब्दों में कहें तो अमरीका के पैरों में पड़े हुए देखा है, तो उस समय भी चाहे अल्पसंख्यक ही सही, इक्का दुक्का ही सही, ऐसी आवाजें पत्रकारिता में भी हैं, ऐसी आवाजें साहित्य में भी हैं, ऐसी आवाजें बौद्धिक वर्ग में भी हैं। इन आवाजों को पुख्ता करने की जरूरत है। मुझे बहुत खुशी है कि आपने यह विषय उठाया है। हो सकता है, इसी से थोड़ी जागरूकता आये। वो जो कम रह गया वर्ग है, उस वर्ग के साथ कुछ और लोग भी जुड़े, इसमें अगर मुझे ज्ञानेन्द्रपति का नाम याद आता है, अगर मुझे मार्क्सवादियों में रामविलास शर्मा याद आते हैं, अगर मुझे ज्ञानरंजन याद आते हैं, और अगर मुझे जनसत्ता की एक अच्छी-खासी टीम नजर आती है, जिसमें कुछ लोग बहे हैं, तो कुछ लोग मजबूती से खड़े भी हैं। इसमें एक नाम अभयकुमार दुबे का लेना चाहूँगा। नाम और भी बहुत से हो सकते हैं लेकिन इक्का-दुक्का लोग जरूर हैं, इक्का-दुक्का आवाजें जरूर हैं और ये मेरे इस विश्वास को पुख्ता करती हैं कि उम्मीद कभी खत्म नहीं होती, आशा और बल देने वाली ताकतें भी कभी खत्म नहीं होतीं। जिस प्रक्रिया से अन्याय आता है, जिस प्रक्रिया से भू-बाजारवाद आया है, ठीक उसी प्रक्रिया से भू-बाजारवाद के प्रतिरोध की ताकतें आयी हैं, वे इनसे लड़ेंगी, यह उम्मीद मेरी कम नहीं है। ये ताकतें अभी दुर्बल हों लेकिन कल ये मजबूत बनेंगी मुझे इसका पक्का यकीन है।

ओम निश्चल : मनुजी ! आपकी बातचीत से ऐसा लगता है कि आज की पत्रकारिता या आज का साहित्य, या साहित्य के जो चरित नायक हैं, इनमें से बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो कि विश्वबाजारवाद का अनुगामी होकर रह गया है। यानी आज की पत्रकारिता, आज का साहित्य और आज का बौद्धिक तबका आज उपभोक्तावाद की कापी राइटिंग कर रहा है।

प्रकाश मनु : ओम जी ! जी मैं बिल्कुल यही कहना चाह रहा हूँ। आपने मेरी बातों का आशय बहुत अच्छी तरह अपने शब्दों में रखा। धन्यवाद, ओम निश्चल भाई। मैं उदाहरण से आपको अपनी बात समझाता हूँ। इस समय साहित्य में अगर कोई वाद सबसे ज्यादा जोर-शोर से लाया जा रहा है और जिसके पीछे तमाम बौद्धिक लोग अपना चेहरा छिपा रहे है, वो जो बहुत बड़ा पोस्टर बना दिया गया है, जिसके पीछे चेहरे छिपे हुए हैं, उस पोस्टर का नाम उत्तर आधुनिक्ता है। उस उत्तर-आधुनिकता में वे तमाम शक्तियाँ जिनके साथ हमें जुड़ना चाहिये, हम जुड़ नहीं पा रहे हैं। अपनी बहुत सारी लापरवाहियों और कमजोरियों को छुपाने के लिए उत्तर-आधुनिक्ता का एक आवरण बना दिया गया है। आज उत्तर-आधुनिकता की चर्चा–खासकर मैं सुधीश पचौरी का नाम लूँगा, और भी कुछ लोग हैं, खासकर सुधीश पचौरी का नाम इसलिए लेना चाहता हूँ कि उत्तर-आधुनिकता की चर्चा-आपने भू-बाजारवाद की बात की–उत्तर- आधुनिकता की चर्चा वो इतने बाजारू ढंग से कर रहे हैं जैसे कोई एक नया मसीहा बनाने की या बनने की उनके भीतर एक बहुत गहरी आकांक्षा पैदा हो गयी हो। या कि वे सोच रहे हैं कि कुछ ऐसा करें कि वे चर्चा में आ जायं। हल्की चर्चा में आने के लिए, हल्की सनसनी पैदा करने वाली तमाम चीजें इतने सस्ते, इतने सरलीकृत ढंग से, इतने पोस्टरबाजी वाले ढंग से, नारेबाजी वाले ढंग से, वो चीजें ला रहे हैं और मखौल उनका उड़ा रहे हैं, उन शक्तियों का, जो शोषण से लड़ रही हैं, जो गरीबी के हक में लड़ रही है, जो भूखे आदमी के पक्ष में लड़ रही हैं। उन्हें लग रहा है, ये शोषण तो चलता ही रहता है, भूख तो है ही, इससे कहाँ तक लड़ा जाय, अब इनमें सुख लेना तलाशिये। यानी कुल मिलाकर वो ये सब इस तरह से कर रहे हैं, जैसे, मैने अभी चंचल चौहान का एक लेख पढ़ा, एक शम्भूनाथ का लेख पढ़ा, उन्होंने बहुत अच्छे ढंग से इन सबका जबाव दिया है, उन्होंने कहा कि ये ऐसा है जैसे कि प्रजापति ब्रह्माकुमारी वाली जो व्याख्याएँ होती हैं अध्यात्म की, वो कितनी सस्ती, चलताऊ और बाजारू होती हैं। ठीक उसी सस्ती, चलती और बाजारू भाषा में उत्तर-आधुनिकता को लाया जा रहा है और इस उत्तर आधुनिकता को मार्क्सवाद के बरक्श खड़ा किया जा रहा है। अगर सोवियत संघ में स्थितियाँ ऐसी हुईं कि वहाँ सोवियत संघ का पतन हुआ, तो इससे मार्क्सवाद अप्रासंगिक कैसे हो गया ? इससे गरीब के पक्ष में लड़ने की हमारी जरूरतें कहाँ खत्म हो गयीं ? क्या आज गरीब आदमी बहुत अच्छी स्थिति में है ? आज स्थितियाँ कैसी हैं? आज लोग किस हालत में रह रहे हैं ? आज हाहाकार कहीं ज्यादा है, छटपटाहट कहीं ज्यादा है लोगों की। लेकिन जो इन पर लेख लिख रहे हैं, जो कवितायें लिख रहे हैं, जो उनकी व्याख्याएँ कर रहे हैं, उनके मन में मुझे कहीं छटपटाहट नहीं नजर आती। माफ कीजिये, वो इस पर २० पन्ने का एक लेख लिख देंगे, उसमें वो आंकड़े लिख देंगे कि वहाँ भूख से इतने लोग मरे, वहाँ जातिवादी दंगों में इतने लोग मरे, लेकिन यहलिखते

हुए उनके मन में कोई छटपटाहट नहीं होगी। वो बहुत अच्छे आंकड़ों की बहुत अच्छी व्याख्यायें कर लेंगे लेकिन वो दर्द गायब है, और ये दर्द गायब जानबूझ कर किया जा रहा है। हमारे भीतर कोई अपराध-बोध पैदा होना चाहिये। कितना गहरा अपराध-बोध मुक्तिबोध के भीतर था। वे जब-जब एक गरीब आदमी की बात करते हैं, तो लगातार वे अपने बारे में कहते हैं कि 'जो कुछ है उससे बेहतर चाहिये, सारी दुनिया को साफ करने के लिए एक मेहतर चाहिये।' मैं मेहतर में हो नहीं पाता। ये पूरे मध्यवर्गीय समाज का अपराध-बोध उस एक आदमी के भीतर भर गया था। वह अपराध-बोध हमारे भीतर कहाँ है? जो थोड़ा बहुत है उसे सुधीश पचौरी जैसे नया मसीहा बनने के उत्सुक, बल्कि एक खराब शब्द अगर मैं कहूँ, तो उनकी जो भाषा है वो किसी लोकल गुंडे जैसी भाषा लगती है, वो इस दबाव के साथ कहते हैं कि 'क्या मूर्खो ! हो, तुम किस गड्ढे में पड़े हो, दुनिया कहीं की कहीं चली गयी।' चार पुस्तकें पढ़कर के- बाहर के देशों में लिखी गयी पुस्तकें- हमारे देश के जो हालात हैं, हमारे देश की जो परिस्थितियाँ हैं, उन सबको नकार रहे हैं आप! यहाँ लोगों को देखिये, वे गांवों में, कस्बों में, किस हालात में हैं। मैं दिल्ली में रहता हूँ और मैं दिल्ली में जानता हूँ कि यहाँ लोग इतने दीन-हीन, असहाय, इतनी खराब स्थिति में हैं, वे गन्दे नाले के किनारे झोपड़ियाँ डालकर बैठे हैं और वहाँ अगर बाढ़ आ जाती है तो किस तरह से वे वहीं, उस बदबू में रहते हैं। बीमार पड़ते हैं, मर जाते हैं और वहीं से फिर अपना जीवन क्रम शुरू करते हैं। बीसवीं सदी में ऐसा हो सकता है कि लगे १४ वीं, १५ वीं सदी में पड़े हों। बीसवीं सदी में रहकर मानसिक रूप से या स्थितियों के तौर पर वे वहीं पर पड़े हैं। आप २१ वीं, २२ वीं सदी, किस सदी की बात कर रहे हैं। अगर २१ वीं सदी विदेशों में आ गयी है तो यहाँ- २१ वीं सदी से मेरा मतलब एक तरह का बौद्धिक चिन्तन है। बौद्धिक चिन्तन अगर कहा गया है, तो उस बौद्धिक चिन्तन को उठाकर यहाँ लीप देना, यह मुझे सबसे भद्दा और छिछोरा काम लगता है। हालात बहुत बुरे हैं और जो साहित्यिक उत्तर-आधुनिकता के आवरण में और तमाम ऐसे आवरणों में अपने चेहरे छिपाये हुए हैं, और माफ कीजिये, वे मुझे अपराधियों के चेहरे लगते हैं, माफ कीजिये, मुझे वे खूनियों के चेहरे लगते हैं, माफ कीजिए वे मुझे चोरों और उचक्कों के चेहरे लगते हैं। मुझे इस भाषा के लिए आप माफ कीजिए, लेकिन मेरे पास दूसरी कोई भाषा नहीं है।

ओम निश्चल : मनु जी, आपने पीछे मुक्तिबोध का नाम लिया। उनके भीतर पैठे अपराध बोध का जिक्र किया। आज मुक्तिबोध को ही अपनी स्मृतियों के शीर्ष पर उठाये जो कविगण हैं उनमें क्या आज के इस अंधकार भरे समय के प्रति, मनुष्यता से भी एक दर्जा नीचे जीवन जीते व्यक्ति के प्रति कोई अपराध बोध है ? शायद नहीं। लालित्य ही लालित्य दीखता है उनके यहाँ। क्या यह कवियों, लेखकों की घोर दयनीयता अब और अचूक अवसरवादिता का दौर नहीं है ? ऐसे कवियों के सृजन को आप किस रूप में आँकते हैं ?

प्रकाश मनु : मैं यह देखता हूँ कि आज की ज्यादातर कविताओं में जो भाषा है, वह इतनी गोल-मोल, गुंजलक, एक नया रहस्यवाद गढ़ती हुई भाषा है। मैं जब अशोक वाजपेयी को लगातार कुचों और नितम्बों पर एक एक करके बीसियों-पचासियों और सैकड़ों कवितायें लिखते हुए देखता हूँ,

तो मुझे शर्म आती है कि इन लोगों को अगर देश के गरीब आदमी की चिन्ता नहीं है, इन्हें पता ही नहीं है कि लोग किस हालात में रह रहे हैं, कितनी बेचारगी के साथ जी रहे हैं। जिन्हें अपने समय के आदमी की, अपने मुल्क के आदमी की परवाह नहीं है। मैं ओम भाई ! बहुत दो-टूक भाषा में कहना चाहता हूँ कि उन्हें कविता लिखने का हक नहीं है, वे कविता लिखने का ढोंग कर सकते हैं। आज के भू-बाजारीकरण के समय में बहुत आसान हो गया है जो बड़ी कुर्सियों पर बैठे हैं, वे बड़े कवि भी हैं, जो बड़े अफसरों की बीवियाँ हैं वे बड़ी कवयित्री भी हैं, जो बड़े उद्योगपतियों की बीवियाँ हैं वो बड़ी कवयित्रियाँ भी हैं। वे पैसे देकर किताबें भी छपवा सकती हैं, पैसे देकर रचनायें छपा लेना भी आज की निखद्द और घटिया पत्रकारिता में सम्भव हो गया है। मगर आज के समय में लेखक पीछे चला गया है, आज के समय में सम्पादक का पद दैत्याकार हो गया है, अब लेखक-कवि दयनीय हो गया है, तो मैं कहता हूँ कि साहित्य को, इस पत्रकारिता को आग लगा दो। लगता है सम्पादकों के चरणों को चूमने वाले लेखक ही रह जायेंगे, जैसा कि नजर आ रहा है। जब सम्पादक यह कहता है कि मैंने उसको कवि बनाया, तो मुझे अपने कवि होने पर, अपने लेखक होने पर, मनुष्य होने पर शर्म आती है। कोई किसी को कवि नहीं बनाता, लेकिन आज के राजेन्द्र यादव जैसे सम्पादक यह घोषणा करते हैं कि मैं इसको कहानीकार बनाऊँगा या जिसे मैं छापूँगा, वही कहानीकार है, जिसे मैं नहीं छापूँगा वह कहानीकार नहीं हैं। इसी आधार पर सूचियाँ बनती हैं, काली और सफेद सूचियाँ। वे अपने मनकी सूचियाँ बना लेते हैं। दूसरी सूचियों को, बड़ी सूचियों को निरस्त कर दिया जाता है, जो सूचियाँ उनके साथ जुड़ी हैं, जो गरीब और भूखे लोग हैं, जिनका दर्द सीधे-सीधे व्यक्त होता है। आज का एक सम्पादक उसे छापे या नहीं छापे, इससे फर्क क्या पड़ता है लेकिन मुझे शर्म आती है कि आज सम्पादक की सोच ऐसी हो गयी है, आज पत्रकारिता की सोच ऐसी हो गयी है।

ओम निश्चल : पत्रकारिता अपनी जिस भाषिक तेजस्विता के लिए, ललकार और फटकार के लिए जानी जाती थी, आज उसमें राजनीतिकों के महिमा मण्डल की अनुगूँज सुनायी देती है। आज आदमी का दुख दर्द उसके हाशिये पर होता है और कभी-कभी हाशिये के परे भी, तो राजनीतिकों के कुकृत्यों का बखान (निन्दन नहीं) उसके मुख-पृष्ठ पर। राजनीतिकों के दखल से पत्रकारिता की भाषा भी उत्तरोत्तर विकृत हुई है। इसकी क्या वजह है ?

प्रकाश मनु : पत्रकारिता की भाषा आज अगर अपराध की भाषा हो गयी है, गुण्डे की भाषा हो गयी है तो उसकी वजह यह है कि वो पत्रकारिता जो कल राजनीति की लगाम खींचती थी, आज दलाल, राजनीति में हिस्सा लेने वाली दलाल पत्रकारिता हो गयी है। मैं इसे अपने समय का सबसे बड़ा दुर्भाग्य मानता हूँ और अगर आप दलाल राजनीति के हिस्से हैं तो आपको यह नैतिक अधिकार नहीं रह जाता कि आप दलाल पत्रकारिता की खिंचाई भी कर सकें। शायद यही आज की पत्रकारिता के पतन का सबसे बड़ा कारण है। ये आज की पत्रकारिता और पत्रकार की सबसे बड़ी हार है, और यहाँ ओम भाई ! इस पूरी पत्रकारिता की ओर से, इस पूरे पत्रकार जगत की ओर से, ये जो हार है, इसके लिए ऐसा महसूस करता हूँ कि जैसे प्रकाश मनु, तुम इन सबके

लिए व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार हो, अगर तुम इन सबका विरोध नहीं कर पाते हो।

ओम निश्चल : पर साहित्यिकों में ही वह शील कहाँ शेष है जिसकी जीवंतता, मृदुता से समाज को जीवन मिलता था ?

प्रकाश मनु : ओम भाई, आपने ठीक ही कहा है। मैं यहाँ एक बहुत छोटे प्रसंग का उल्लेख करूँगा। शील जी की मृत्यु हुई तब साहित्य अकादमी ने शोक सभा करने से इसलिए इनकार कर दिया कि साहित्य अकादमी के सचिव ने कहा कि शील जी कवि नहीं हैं। एक और सज्जन जो सम्पादक बने हुए हैं, उन्होंने कहा कि शील जी कवि नहीं है। ओम भाई ! यह इतनी शर्म की बात है कि अगर किसी और देश में हुआ होता, तो साहित्य अकादमी को, उसके सचिव को, उसके लोगों को, जिन्होंने कहा कि शील जी कवि नहीं हैं, हम उनकी शोक सभा नहीं करेंगे, सार्वजनिक रूप से चौराहे पर लाकर प्रताड़ित किया जाता और उन्हें चौराहे पर माफी मांगनी पड़ती। शील जी कैसे कवि हैं, कैसे नहीं हैं, यह दीगर बात है लेकिन शील जी इतने बड़े हैं कि ये साहित्य अकादमी, उसका सचिव, वहाँ काम करने वाले तमाम लोग, शील जी के पैरों के नाखून को भी छूने लायक कद के नहीं हैं। इन्हें कोई हक नहीं है, वह साहित्य अकादमी जो अटल बिहारी बाजपेयी को कवि के रूप में बुलाकर सम्मानित करती है, उनका व्याख्यान आयोजित करती है और वह साहित्य अकादमी जो शील जी को कवि मानने से इनकार करके उनकी शोक-सभा नहीं करती है, मेरे विचार से अपराधी है। मैं किसी से बात कर रहा था तो मैने कहा ऐसी

वह साहित्य अकादमी जो अटल बिहारी वाजपेयी को कवि के रूप में बुलाकर सम्मानित करती है, उनका व्याख्यान आयोजित करती है और वह साहित्य अकादमी जो शील जी को कवि मानने से इनकार करके उनकी शोक-सभा नहीं करती है, मेरे विचार से अपराधी है।

साहित्य अकादमी की पूँछ में पटाखा बांधकर आग लगा देनी चाहिये। यह मैने किसी से बातचीत में कहा था लेकिन मैं आप से माफी चाहता हूँ। यह तो कोई बात ही नहीं हुई, यह बहुत हल्की बात है। साहित्य अकादमी ने यह जो काम किया है, साहित्य अकादमी के सचिव ने ये जो किया है, जिसकी इतनी बड़ी सजा है, इतनी बड़ी सजा अगर कोई इस धरती पर दी जा सकती है, तो वह सजा साहित्य अकादमी और उसके सचिव के लिए कम है। मुझे अपने मनुष्य होने और लेखक होने पर शर्म आती है कि मेरे देश की साहित्य अकादमी और उसका सचिव यह कहता है। क्या इसको पढ़ने वाले, इस इन्टरव्यू को पढ़ने वाले पाठकों को भी इतनी ही शर्म आयेगी? ये सवाल मैं जानना चाहूँगा, और अगर शर्म नहीं आती है तो इसके लिए जो चीज सबसे ज्यादा जिम्मेदार है, उसका मैं फिर से नाम लूँगा, एक शब्द में, उसका नाम है-भूबाजारवाद, जिसने हम सबको नपुंसक बना दिया है और हम सबके भीतर रक्त नहीं अब एक निर्लज्जता बह रही है। मैं एक ही शब्द और कहूँगा कि– 'थू है इस निर्लज्जता पर।'

कविता

सीपियाँ

मदन कश्यप

किसी सूर्यपुत्र की तरह
कवच के साथ ही जन्म नहीं लेती हैं
सीपियाँ
धरती की यह सब से मसृण-मृदुल जीव
खुद ही गढ़ती है अपने रंगबिरंगे सीप
और उसके कठोर होने से पहले ही
जलचरों से सटकर
शुरू कर देती है अनंत-यात्रा

अथाह जल के अछोर विस्तार में
जीने की अकूत लालसा के साथ
लगातार यात्रारत रहती हैं
सीपियाँ

बस कभी-कभी ही
उनकी नन्हीं-सी जीवन-यात्रा में
पैदा होता है कोई व्यतिक्रम
जब आँखों-सी कोमल उनकी देह में
घुस आते हैं ठोस कण
तब सागर से भी गहरी पीड़ा
नदी की अजस्र धारा-सी
निरंतर वेदना झेलती हुई
अपने जीवन-रस से उन्हें पालती हैं
सीपियाँ

और धीरे-धीरे
ठोस सफेद मोती में ढल जाती हैं
उनकी धनीभूत व्यथाएँ

जितना अधिक सहती हैं सीपियाँ
उतने सुन्दर बनते हैं मोती।
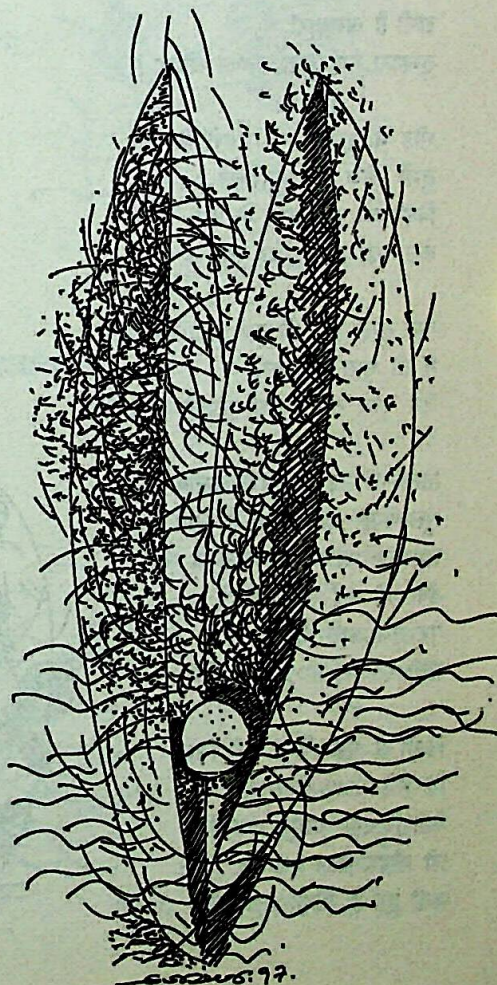
हरिओम राजोरिया

मुश्किल है तुम्हें खोज पाना

कवर्धा के जिला हो जाने की खबर
छपी है अखबारों में
तुम्हारा क्या हुआ अलका श्रीधर ?

भीड़ में गुम हो रहे चेहरों के बीच
तुम्हें खोज पाना मुश्किल है
किसी को भूल जाने के लिए
कम नहीं होते चौदह साल

क्या तुम्हें याद भी रहा होगा मेरा नाम
मैं तो भूला नहीं तुम्हें
जैसे भूला नहीं कवर्धा छोड़ने की तारीख

तितलियाँ उड़ गईं मेरी किताबों से
भूल गया पुराने मित्रों के नाम
समय की अपारदर्शी परत के नीचे
ढँक गये कई साबुत चेहरे
पर तुम अभी भी
बची रह गई हो अलका श्रीधर

किसी से नहीं किया मैंने जिक्र
कि मेरे भीतर के निर्जन में
बैठी है एक गुमसुम लड़की
जो चौदह साल बाद भी
बनी हुई है चौदह साल की।

राजेन्द्र राजन
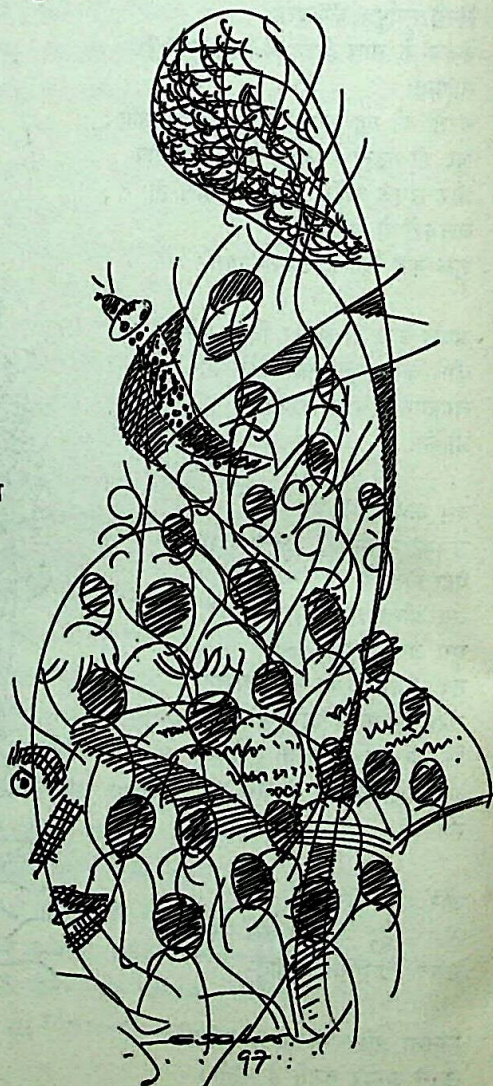
हत्यारे उसी शब्द को दोहराते

आज मैने एक शब्द की हत्या कर दी
एक अजन्मे शब्द की
यदि मैं ऐसा न करता
तो क्या होता
यही होता कि एक नया शब्द
अस्तित्व में आता
और शब्दों की बासी पड़ चुकी इस दुनिया में
वह नया बिल्कुल तरोताजा शब्द
कुछ दिनों तक उत्सुकता से
और शायद भरोसे से सुना जाता
मगर तब क्या यह नहीं होता
कि हत्यारे उसी शब्द को दोहराते
जब वे किसी का दरवाजा खटखटाते।
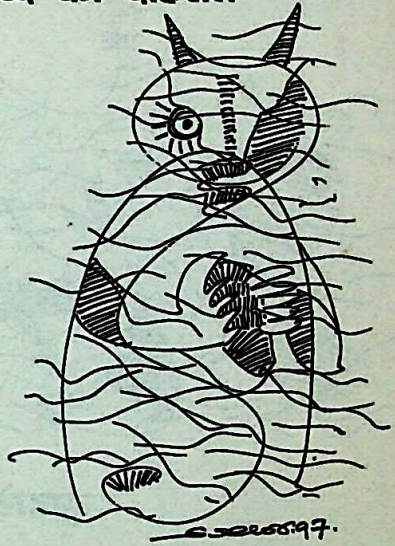
पश्चाताप
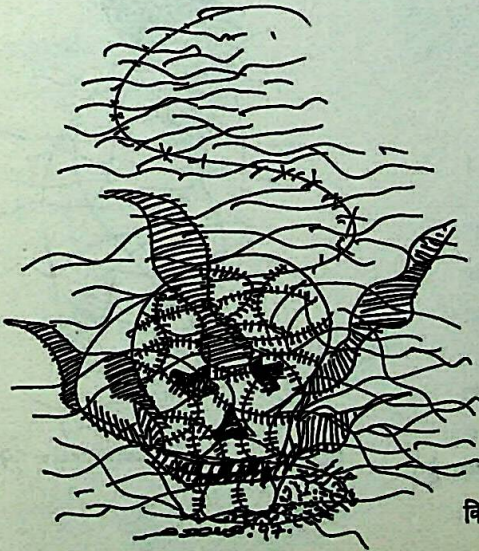
मेरे मन में
नफरत और गुस्से की आग
कुंठाओं के किस्से
और ईर्ष्या का नंगा नाच है
मेरे मन में
अंधी महत्त्वाकांक्षाएं
और दुष्ट कल्पनाएं हैं
मेरे मन में
बहुत-से पाप
और भयानक वासना है
ईश्वर की कृपा से
सिर्फ यही एक अच्छी बात है
कि यह सब मेरी सामर्थ्य से परे है।

बोधिसत्व

तुम्हारे पास

ओ विलुप्त हो रहे घरों के शासको
तुम्हारे पास कुछ नहीं है।

तुम्हारे पास
स्त्रियों के कटे हुए हाथ हैं
जिन्हें तुम समर्पण में या
समर्थन में उठाते हो रह-रह कर।

तुम्हारे पास
उनका निरीह गर्भ है
उनका निस्पन्द प्रेम है तुम्हारे पास।

स्त्रियों के शव पर टिका है तुम्हारा
पुनीत साम्राज्य
तुम्हारे पास उनका संगीतबद्ध विलाप है।
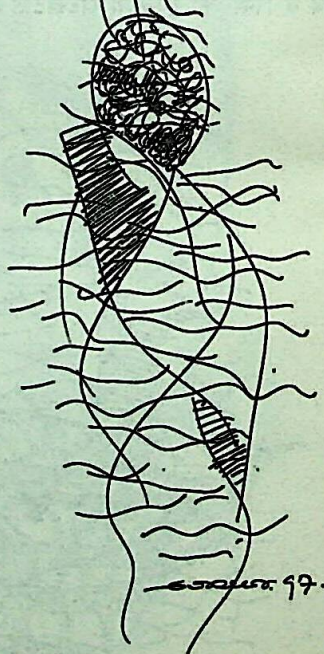
तीन कविताएं

डा. रमेश कुमार त्रिपाठी

कलमें

बचपन में
दूर एक गाँव से
लाता था नरकुल।
उन्हें छीलछालकर
बनाता था
सुन्दर कलमें।

अब बाजार से
खरीद लाता हूँ
बनी-बनायी
उनसे सुन्दर कलमें।

लेकिन कहाँ
वह उछाह,
वह उल्लास !

आरती

वनस्पति
जो कल
वर्षा में
भीग गयी थी
उसकी धूप
रही उतार
आरती आज।
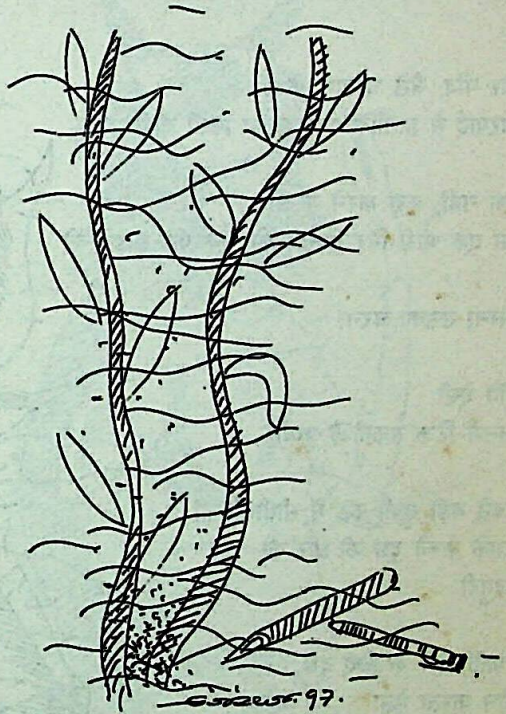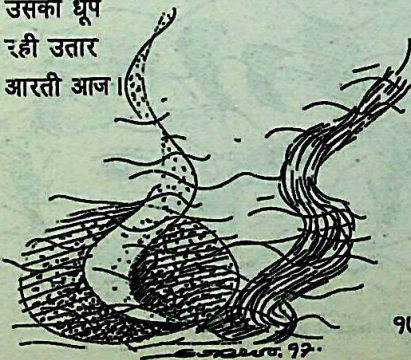
नाली

दर्पण-सा निर्मल
बहता लहराता
जल नाली में
सजी-धजी जो
हरी घास से
और तली में जिसकी
हर चीज दिखे।

प्रेम रंजन अनिमेष

दस वाक्य जो बच्चे ने गाय पर लिखे

चार पाँव, जैसे चारपाई के
चारपाई से हालाँकि क्या मतलब किसी चौपाये को

हाथ नहीं, कुछ करने के लिए
बस एक भारी सिर हिलाने को, एक पूँछ झाड़ने को

चलना उसका चरना

सींगें ऐसी
जिनमें टिक सकती है पृथ्वी

सबसे बड़ी खुशी कंठ में सीधी गिरती
उसके कच्चे दूध की धार की
गुदगुदी

रंभाती, देने के लिए दूध
कौन करता ऐसा

छाती नहीं, पेट के नीचे
भरे पूरे थन वाली
माता

उसे पूजते और दूहते हम

जीती देखकर बछड़े का बँधा मुँह
ग्वाला छलता
ममता की खाल में भरकर भुस
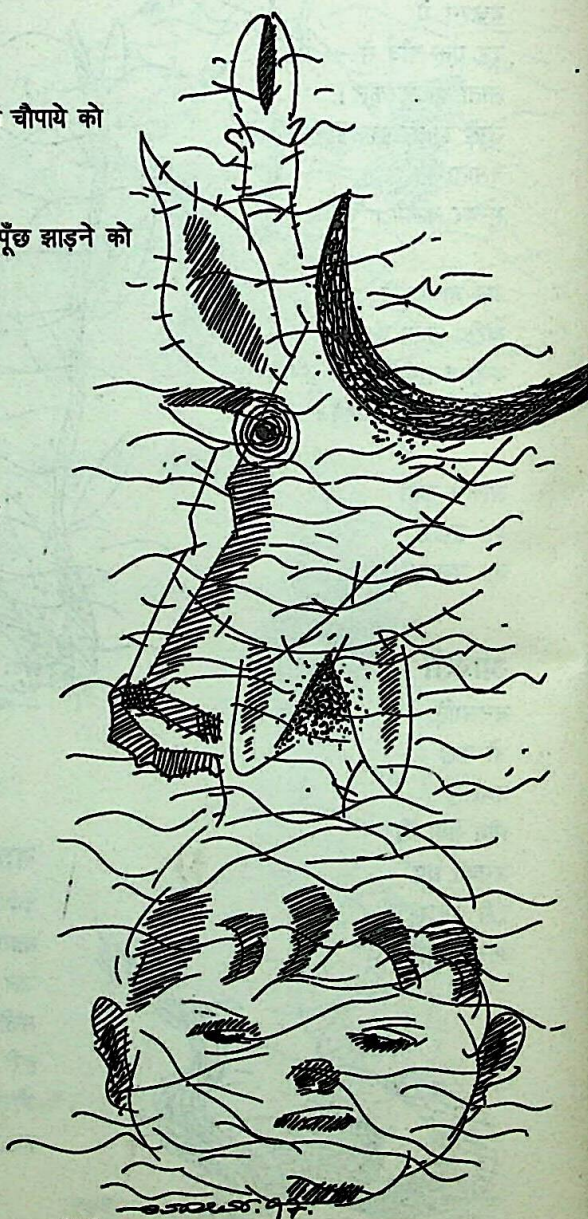
कुछ भी खाकर
देती गोबर पवित्र
धन्य जिन्हें पड़े छींटे
उसकी पुत्ती के, झाड़ पूँछ की
आते-जाते

बहुत भली खड़ी ऐसे ही

सबसे सुन्दर मगर
खूँटा तुड़ाकर, साधे सिर
भागती गाय
देखकर
हट सको अगर सामने से

कभी दी जाय
गाय को
उसके अपने दूध की
चाय ?

लिखता गया तो कितना सरल
शुरू में दो शब्द भी लिखना था मुश्किल!

निर्णय वही करे सही-गलत का
शिक्षकों से आग्रह है
कि ये पंक्तियाँ
गाय को सुनायी जाएँ
और गाय से अनुरोध है
कि वह उस समय न पगुराय !
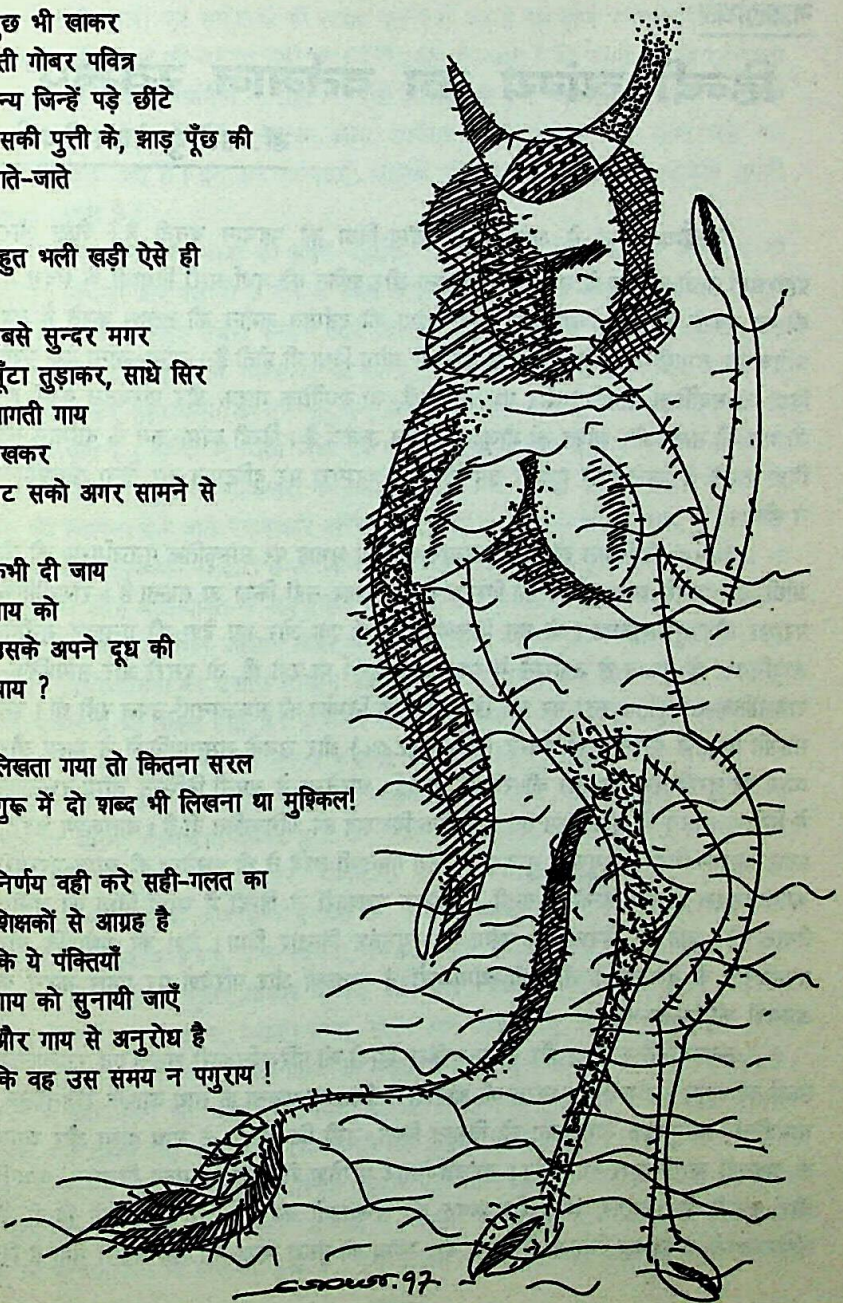
समालोचन

हिन्दी व्यंग्य का वर्तमान स्वरूप

डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी

'व्यंग्य' शब्द से आज केवल व्यंग्य-विधा की पहचान बनती है। शैली और प्रहारधर्मी तत्वों के रूप में व्यंग्य की विविधता और शक्ति की चर्चा सारी विधाओं के संदर्भ में की जा सकती है, लेकिन जब हम हिन्दी व्यंग्य की वर्तमान जमीन की तलाश करते हैं तब अनिवार्यत: हमारी चर्चा और चिंता के केन्द्र में व्यंग्य विधा ही होती है। व्यंग्य–यानी एक ऐसी विधा जो सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली है, जो सर्वाधिक मारक और परिवर्तन कामी है, जो गद्य की सत्ता और शक्ति का मौजूदा अन्यतम उत्कर्ष है। हिन्दी व्यंग्य-कर्म के वर्तमान की चिंता करने के पहले पीछे मुड़कर इस विधा की परम्परा पर दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

१८५७ की विफल क्रांति के अनन्तर भारतीय भूभाग पर सांस्कृतिक पुनर्जागरण की जो आँधी आई, उसमें व्यंग्य-सृजन की हिस्सेदारी से इन्कार नहीं किया जा सकता है। राजनीतिक पराभव और मूल्य-विघटन के इस विलक्षण दौर में एक ओर इस देश की सनातन मनीषा आधुनिकता के तूफान से टकराने में स्वयं को असमर्थ पा रही थी, तो दूसरी ओर सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक स्तर पर नये हिन्दुस्तान के निर्माण की संकल्पनाएँ उपज रही थीं। इस संक्रांति काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) और उनके समसामयिकों ने हास्य और व्यंग्य की तुरही पर परिवर्तन की रणभेरी बजाई। भारतेन्दु ने अपनी विभिन्न व्यंग्य रचनाओं में ब्रिटिश शासन के लुटेरे रूप एवं सामाजिक बिखराव को अभिव्यक्ति दी है। बालकृष्ण भटट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी आदि ने भी भारतेन्दु की व्यंग्य-परम्परा का अनुसरण किया। हिन्दी के इन्हीं आरम्भिक गद्यकारों ने हिन्दी में व्यंग्य विधा की जमीन तैयार की। बाद में निराला ने व्यंग्य को न्यूनतर विस्तार दिया। देश की अधोगति और पराधीनता के बन्धनों के बीच भी व्यंग्यकारों ने व्यवस्था और परिवेश पर प्रहार करने के अवसरों की तलाश की।

स्वातंत्र्योत्तर हास्य और व्यंग्य साहित्य हिन्दी की परिवर्तनकारी क्षमता एवं रचनात्मक ऊर्जा का पर्याय बन गया है। भारत की आजादी ने जिस सम्भावना के साथ व्यापक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जागरुकता को विस्तृत किया, उसी विलक्षणता के साथ हास्य और व्यंग्य के अवसरों का विस्तार भी किया। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में उपलब्ध मूल्य-विचलन, कथनी और करनी के अंतराल, छल और कपट की सच्चाइयों को मूर्त करने के लिये हिन्दी के साहित्यकारों ने विविध विधाओ में हास्य और व्यंग्य को ग्रहण किया है। अब जरूरी नहीं है कि

'रामचरितमानस' और 'गोदान' में हास्य और व्यंग्य की तलाश की जाय। अब तो हास्य और व्यंग्य के रचनाकारों एवं समीक्षकों की तादाद इतनी हो गई है कि इतर रचनाकारों में हास्य और व्यंग्य की तलाश की जरूरत नहीं रह गई है। यह और बात है कि व्यंग्य की प्रहारात्मकता एवं हास्य की मनोरंजनधर्मिता ने इधर की सभी विधाओं की सभी रचनाओं में प्रवेश पा लिया है। स्वभावतः हिन्दी में व्यंग्य नाटक, व्यंग्य उपन्यास, व्यंग्य कविता, लघु व्यंग्य जैसे नए प्रतिरूप सामने आए हैं। इन सब व्यंग्यधर्मी विधाओं के बीच व्यंग्य-विधा की स्वीकृति अपनी अस्मिता रखती है।

समकालीन व्यंग्य-कर्म की सबसे महात्वपूर्ण उपलब्धि है विधा के रूप में व्यंग्य की स्वीकृति। निबन्ध और कहानी के बीच से हास्य और व्यंग्य के धर्मों से समन्वित यह एक अनूठी विधा १९६० के अनन्तर उभरी, जिसने आज अपना वृहत्तर प्रसार अर्जित कर लिया है। इस विधा ने स्वीकार किया है कि व्यंग्यकार की कलम १९६० के बाद लगातार हथियार बनती गई है एवं सोच और अभिव्यक्ति को एक कर देने वाली तेज तर्रार भाषाई ललक ही व्यंग्यकर्म की मुख्य विशेषता है। हिन्दी में व्यंग्य विधा की स्थापना एवं विस्तार देने में पुरानी कलम के जादूगरों और नए खून के व्यंग्यकारों की साझीदारी एक साथ सक्रिय हुई है। विधा के रूप में व्यंग्य को स्थापना देने वाले रचनाकार हरिशंकर परसाई ने संवेदना की विलक्षण दुनिया और सम्प्रेषण की अनूठी भंगिमा द्वारा समर्थ व्यंग्यकार की तमाम शर्तों को पूरा किया है। व्यंग्य की नयी जमीन और अभिव्यक्ति के नये लहजे की खोज करने वालों में शरद जोशी की पहचान अन्यतम है। विनोद गर्भित बौद्धिक व्यंग्य की सजग प्रस्तुति रवीन्द्रनाथ त्यागी ने की है। इसी अभिजात विनोदप्रियता का उदात्त उत्थान राधाकृष्ण, केशव चन्द्र वर्मा और श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य-सृजन में भी लक्षित होता है। प्रच्छन्न व्यंग्य की नुकीली सर्जना को साकार करने वाली इस पीढ़ी के व्यंग्यकारों के बीच नरेन्द्र कोहली, के. पी. सक्सेना, लतीफ घोंघी, बरसाने लाल चतुर्वेदी, रामनारायण उपाध्याय, शंकर पुणतांबेकर, कृष्ण चंद्र चौधरी, सुदर्शन मजीठिया, रामावतार चेतन, लक्ष्मीकांत वैष्णव आदि कई लोगों की विशिष्ट पहचान बनी है। समकालीन हिन्दी व्यंग्य को युवा और युवतर व्यंग्यकारों ने नए विषयों, नए शिल्पों से जोड़ा है। व्यंग्य-कर्म की सीमाओं और सम्भावनाओं का सजग साक्षात्कार कराने वाले व्यंग्यकारों की दूसरी पीढ़ी में अशोक शुक्ल, ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेम जनमेजय, हरीश नवल, बालेन्दु शेखर तिवारी, सूर्यबाला, विनोदशंकर शुक्ल, गोपाल चतुर्वेदी, हरि जोशी, ईश्वर शर्मा, श्रवण कुमार उर्मिलिया, गजेन्द्र तिवारी, पूरन सरमा, यशवंत व्यास, संतोष खरे, अजातशत्रु, अलका पाठक, शिव शर्मा, आदि-आदि कई नामों का उल्लेख किया जा सकता है। इस सूची की सीमा इतनी ही नहीं है। हिन्दी के व्यंग्यकारों की कतार में धर्मवीर भारती, मनोहर श्याम जोशी, रमेश बक्षी, प्रभाकर माचवे, मुद्राराक्षस जैसे कई अन्य रचनाकारों की घुसपैठ होती रही है। निश्चय ही हिन्दी में व्यंग्य लेखन ने धीरे-धीरे एक सुनिश्चित आकार ग्रहण कर लिया है और इस विधा की शक्ति में अविश्वास का कोई कारण नहीं रह गया है। हालत यह है कि इधर व्यंग्य के समानान्तर लघु व्यंग्य का नारा भी विकसित हुआ है। ऐसी तमाम लघु कथाओं को अब लघु व्यंग्य ही कहा

जा रहा है जिनकी आत्मा और शैली व्यंग्य केन्द्रित है।

निश्चय ही व्यंग्य-कर्म बेहद लोकप्रिय है और अब हास्य-व्यंग्य के अभाव का नारा अप्रासंगिक हो गया है। हर वर्ष लगभग २० व्यंग्य संकलन प्रकाशित हो रहे हैं और व्यंग्य के आकर्षण में हालत यह है कि हर तीसरा आदमी व्यंग्यकार बन गया है। कुछ लोग तो कविता, कहानी और नाटक के इलाके में असफल होने के बाद व्यंग्य में घुस आए हैं। ऐसा इसलिए हुआ है कि आसपास व्यंग्य के योग्य कच्चा माल प्रचुर मात्रा में मौजूद है और शायद लोगों को कविताओं या कहानियों की तुलना में व्यंग्य-लेखन अधिक आसान लगने लगा है, जबकि वास्तविकता ऐसी नहीं है। व्यंग्य की रेल पर सवार हर यात्री को प्रथम श्रेणी में जगह नहीं मिल पाती है। मेला तो बड़ा सघन है, लेकिन इस मेले में अधिकतर सामयिक, सस्ती और निपट बाजारू किस्म की चीजें ही उपलब्ध हैं। इसका परिणाम यह है कि आज का हिन्दी व्यंग्य-साहित्य चाहे जितना विपुल हुआ हो, उसमें श्रेष्ठ, स्तरीय और स्मरणीय अब भी बहुत कम है। जो कुछ भी लिखा जा रहा है, वह सब श्रेष्ठ नहीं है। अब समय आ गया है कि हम हिन्दी व्यंग्य-कर्म की कमजोरियों पर उंगली रखें और निर्ममतापूर्वक व्यंग्य-लेखन में उग आई विसंगतियों का आपरेशन करें। उस सही कलम की तलाश करनी होगी, जो भीड़ में गुम हो रही है। सही मुहावरे का संधान करना होगा, जो व्यंग्यवस्तु का अनुकूल प्रक्षेपण कर सके।

आज का व्यंग्य-लेखन चंद घिसे हुए विषयों तक सीमित होकर रह गया है। इस नाते आलम्बन के नूतनतर सूत्रों की खोज व्यंग्यकार की सबसे बड़ी समस्या बन गई है। प्रतिदिन घट रही घटनाओं पर अखबारों के माध्यम से सामने आने वाली व्यंग्यात्मक प्रतिक्रियाएँ तो नित नवीन होती हैं, लेकिन इनका स्थायी, दीर्घकालीन प्रभाव नहीं होता। ऐसा घोर तात्कालिक लेखन इतिहास और अनुसंधान की चीज भले बन जाए, इनके माध्यम से रचना का प्रयोजनात्मक रूप औदात्य नहीं ग्रहण करता है। परिणामत: व्यंग्यकार को अपने परिवेश में मौजूद उन स्खलनों, विद्रूपताओं को आलम्बन के रूप में स्वीकारना होगा, जिनका व्यापक जुड़ाव मानवीय संवेदना के साथ है। परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्र नाथ त्यागी, लतीफ घोंघी, के. पी. सक्सेना, शंकर पुणतांबेकर, सूर्यबाला, श्रीलाल शुक्ल, ज्ञान चतुर्वेदी, प्रेम जनमेजय आदि-आदि व्यंग्यकारों की जो अंतहीन श्रृंखला हिन्दी में सक्रिय है, उसकी उपलब्धियों से परिचित होना इस देश के सम्मान और अर्थतंत्र, साहित्य और संस्कृति, राजनीति और मूल्यध्वंस की स्थितियों और कारणों से परिचित होने जैसा है। व्यंग्य-रचनाएँ सूचित करती हैं कि राजनेता कितने गुट में विभक्त हो गए हैं, सांस्कृतिक आचरण कितना छली हो गया है और आदमी कितना घटिया हो गया है। व्यंग्य के लिए अब जरूरी नहीं है कि विषयों की तलाश नेताओं, अफसरों, सेठों और तस्करों के इर्द-गिर्द ही की जाय। जिस देश का समूचा मानचित्र व्यंग्य से सना हो, वहाँ इन सीमित विषयों से लिपटे रहना अनावश्यक ही नहीं, अप्रभावकारी भी है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से अनुभव बटोरने की कला ही व्यंग्य-वस्तु का संग्रंथन है। व्यंग्य का क्षेत्र वस्तुत: अनन्त है और व्यंग्यकार के सामने आलम्बन का संकट कभी नहीं आ सकता। नतीजतन हिन्दी के युवतर व्यंग्यकारों को स्थापित व्यंग्यकर्मियों के अनुकरण का फैशन

त्याग कर अपने आसपास की हर छोटी-बड़ी विसंगति की तथा तथ्य-प्रस्तुति की दिशा में प्रस्थित होना चाहिए। एक ऐसे संकट का विरोध हिन्दी व्यंग्य-लेखन का केन्द्रीय संकल्प होना चाहिए, जिसका वर्तमान और दूरगामी प्रभाव सभ्यता की गति को दूषित करता है। ऐसा उचित समयी विरोध ही भारतीय संवेदना के विभिन्न प्रकोष्ठों में झांक सकता है, अपने आसपास की दुनिया के साथ व्यंग्यकार के अंतरंग सरोकार को ज्ञापित कर सकता है, व्यंग्य की अर्थशक्ति का रूपायन कर सकता है।

समकालीन व्यंग्यकार से यह आशा करना भी बेमानी न होगा कि उसके सृजन में देश की तीखी अनुभूति केवल चमत्कार की आतिशबाजी बनकर न रह जाए, बल्कि आंतरिक विद्रोह की समर्थ प्रहारात्मक संरचना बनकर सामने आए। व्यंग्य-लेखन आदि से अंत तक एक आमिष आयोजन है। इसमें शाकाहारी अध्येयता और निपट वृंदावनता के लिए कोई स्थान नहीं। इसी कारण व्यंग्य का आक्रामक स्वर लगातार प्रहार की दिशा में उन्मुख लक्षित होता है। व्यंग्य की प्रहारक क्षमता से स्पृह व्यंग्य भाषा की एक पूरी चित्रशाला ऐसे नमूनों के माध्यम से तैयार की जा सकती है, जिनमें हिन्दी व्यंग्य का मारक अंदाज दूर से ही झलकता है। प्रत्येक शब्द को नपी-तुली शैली में उपस्थित करता हुआ व्यंग्यकार एक ऐसी प्रखर भाषा की सृष्टि का संकल्प लेकर इस मैदान में उतरता है, जिसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति घायल करने और मरहम लगाने में एक साथ समर्थ होती है। हिन्दी व्यंग्य की भाषा को अधिकाधिक वैविध्यपूर्ण, लोचदार एवं साभिप्राय बनाने का सारा उत्तरदायित्व युवतर पीढ़ी के व्यंग्यकारों पर है। परिवेश भाषा को कितने मोड़ देता है, यह हिन्दी की व्यंग्य भाषा से जाहिर होना चाहिए। मनोहर श्याम जोशी, श्रीलाल शुक्ल, नरेन्द्र कोहली, शरद जोशी, ज्ञान चतुर्वेदी जैसे अनगिनत व्यंग्य सर्जकों ने मानक हिन्दी की वर्जनाओं को तोड़ कर क्षेत्रींय भाषाई संस्कार ग्रहण किए हैं। हिन्दी की इस लोचमयी प्रकृति के अनुरूप भाषा की विविधता का सम्प्रेषण हिन्दी व्यंग्य की नई पीढ़ी की सम्पदा नहीं है। इसका कारण यह है कि व्यंग्यकार की गणना ऐसे विवेकमान लोगों में होती है, जो सर्जना-केन्द्रित परिवर्तन के आग्रही होते हैं। इस क्रम में व्यंग्यकार जिस भाषा का इस्तेमाल करता है, वह पारम्परिक आग्रहों से मुक्त होती है। भाषा को रंगीन बनाए बिना जिन शब्दों से अप्रतिम अर्थ वहन हो सके, ऐसे ही उपयुक्त शब्दों का चयन करना व्यंग्य भाषा की प्राथमिक शर्त है। इधर हिन्दी व्यंग्य में शब्द के दरिद्र लोगों का बाहुल्य हो गया है। इसका कारण यह है कि व्यंग्यकारों के हुजूम में अपने आपको शामिल करने की ललक में लोग हिन्दी के विशाल शब्द-भंडार का साक्षात्कार किए बिना ही कलम उठा लेते हैं। जबकि कुशल रचनाकार उपलब्ध शब्द-भंडार के उपयोग के समानान्तर ऐसी शब्द-सर्जना में भी संलग्न रहता है, जिसके माध्यम से उसका रचनात्मक उद्देश्य पूरा हो। नतीजतन व्यंग्य भाषा की नव्य अर्थगर्भिता पारम्परिक शब्दों के साथ-साथ नए निर्मित व्यंग्यज शब्दों द्वारा भी विस्तृत हुई है। दुर्भाग्यवश हिन्दी के अधिकांश नवोदित व्यंग्य-लेखन इतने सारे नए-पुराने शब्दों का समुच्चय बन गया है कि न सीमित शब्द-कुलक के सहारे कोई प्रभावशाली व्यंग्यकार बन सकता है और न नव्य शब्द-गठन से परिचित हुए बिना व्यंग्य-ग्रहण ही संभव है।

आज के हिन्दी व्यंग्य-लेखन का एक निश्चित रूप-फार्मूला स्थित हो गया है। एक फ्रेम बन गया है, जिसके अधीन व्यंग्य लिखे जा रहे हैं। व्यंग्य का यह फ्रेम एक ओर निबन्ध के शिल्प का विपथन करता है, तो दूसरी ओर कहानी के आवरण को बेधता हुआ नजर आता है। लेकिन अब हिन्दी व्यंग्य के सजग पाठक एक ऊब का अनुभव करने लगे हैं। एक ही नाव में कितनी बार यात्रा की जा सकती है ? गद्य परिवार की कई गोत्रीय विधाओं का आह्वान शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, यशवंत कोठारी, ज्ञान चतुर्वेदी आदि व्यंग्यकार करते रहे हैं। विविध विधाओं के अनन्वित जमघट में व्यंग्य-लेखन को नए-नए अभिव्यक्ति-माध्यमों से परिचित कराना आज की एक अनिवार्यता है। इससे फ्रेम की एकरसता टूटेगी और सिद्ध होगा कि इतने विशाल रूपात्मक फलक पर हिन्दी की कोई अन्य विधा नहीं रची जाती है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्यंग्यकार को किसी एक राजमार्ग, किसी एक वाहन का सहारा नहीं लेना चाहिए, अपितु हर पगडंडी और हर सवारी के जरिए अपनी मंजिल तक पहुँचने की सतर्क कोशिश करनी चाहिए। चाहे वह माध्यम संस्मरण, आत्मकथा, डायरी, सूत्र, समाचार, साक्षात्कार, पत्र, दस्तावेज, प्रतिवेदन, आँखों देखा हाल, अभिनन्दन-पत्र, प्रश्नपत्र, पटकथा कुछ भी हो। इस विस्तृत विधा-वितान की प्रासंगिकता शायद यही है कि व्यंग्यकार जिस लम्बी सड़क पर चलता है, वह इस देश के नगरों, कस्बों और देहातों की तार-तार दरिद्रता और पड़ावों के बीच गुजरती है और व्यंग्यकार इस अंतहीन सड़क के आसपास की सारी चीजों को पूरी ईमानदारी के साथ सम्प्रेषित करना चाहता है। हिन्दी व्यंग्य के वर्तमान स्वरूप पर सोचते हुए यह भी विचारना होगा कि व्यंग्यकार की रचना का तीखापन कहीं उसे ही तो आहत नहीं कर रहा है? व्यंग्य की ईमानदारी और सजीवता का वास्तविक धरातल पिछले दशक में उभर कर सामने आया है। नए व्यंग्यकारों ने इसे बार-बार प्रमाणित किया है। आज के व्यंग्यकार में योद्धा और समाजशास्त्री, कलाकार और शल्य चिकित्सक, कलमकार और सुधारक सबकी भूमिकाओं का सजग समन्वय अपेक्षित है। तभी व्यंग्य-विधा की कार्यक्षमता अधिक धारदार होगी, हिन्दी व्यंग्य इक्कीसवीं सदी में अपनी व्यापकतर जमीन तलाश सकेगा।
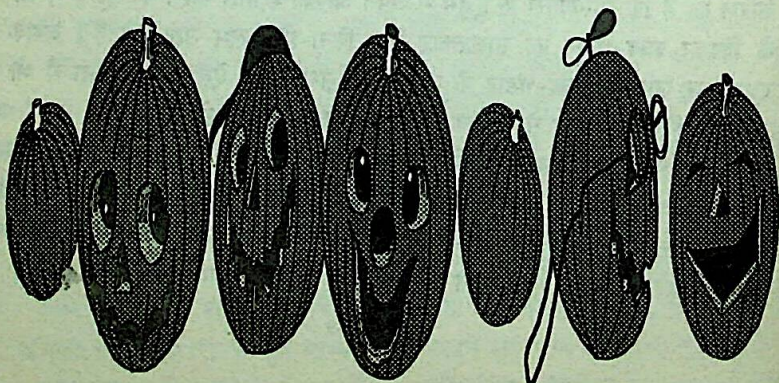
समालोचन

गाँव और शहर के जीवन का दर्द

बलराज पांडेय

समान अधिकार के साथ कविताएँ और कहानियाँ लिखने वाले उदय प्रकाश की अधिकतर कहानियाँ मध्य और निम्न वर्ग के जीवन की अभिव्यक्ति देती हैं। उन्होंने जीवन से ऐसे पात्रों को चुना है, जो अपना हक और इंसाफ पाने के लिए अन्तहीन संघर्ष की ओर अग्रसर हैं। हिन्दी में नयी कहानी के बाद संप्रेषण और पठनीयता का जो संकट दिखाई दे रहा था, उसे तोड़ने में उदय प्रकाश ने व्यंग्य मिश्रित कथात्मक शैली अपनाकर महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। घोर साहित्यिकता से लदे हुए कहानी के ढाँचे से उन्हें परहेज है। तराशी हुई भाषा और जटिल तथा चक्करदार शिल्प से बचते हुए उदय प्रकाश ने बहुत सहज होकर कहानियों की रचना की है।

'टेपचू' कहानी के द्वारा अपनी पहचान बना चुके उदय प्रकाश अपनी सार्थक रचनाशीलता को सही दिशा में बराबर विकसित करते रहे। 'तिरिछ' से लेकर 'और अंत में प्रार्थना' कहानी संग्रह को इसी विकास-क्रम में देखा जा सकता है। उदय प्रकाश ने 'तिरिछ' कहानी में गाँव और शहर दोनों जगहों की सोच के फर्क को दिखाया है। वैसे मुख्य रूप से यह कहानी 'शहर के जन्मजात भय' की कहानी है। पिताजी के व्यक्तित्व का लेखक ने जो चित्र खींचा है, वह ज्ञानरंजन की 'पिता' का प्रभाव लिये हुए है। जो पिताजी मजबूत किले के समान दिखायी देते हैं उनकी बाद में चलकर पागलपन का शिकार हो मानसिक सदमे से मृत्यु हो जाती है। यहाँ तिरिछ समूची व्यवस्था के प्रतीक के रूप में आता है और पिताजी की मृत्यु का एक कारण बनता है। तिरिछ की विशेषता ही है कि वह काटता तब है जब उससे नजर टकरा जाय। लेखक यह दिखाना चाहता है कि व्यवस्था के साथ जिसकी नजर टकरायी, उसकी मौत निश्चित है। इसीलिए अकेले इसका मुकाबला करना मुश्किल है। उससे टकराने के लिए लोगों को इकट्ठा करना होगा, क्योंकि तिरिछ से बचने के लिए आवाज ही एकमात्र अस्त्र है।

गाँव से शहर पहुँचे लोग किस प्रकार संवदेनहीन होते जा रहे हैं, इसका बड़ा ही विश्वसनीय चित्रण इस कहानी में मिलता है। कंधई राम तिवारी, सतनाम सिंह, दारोगा, बैंक का आदमी, सबकी संवेदनहीनता से पिताजी की हालत बदतर होती जा रही है। लोगों की मार, दुत्कार आदि सब कुछ सहते हुए थोड़ी सी सहानुभूति के लिए वे तरस कर रह जाते हैं, लेकिन किसी को कोई फिक्र नहीं। कहानी में पिताजी की मौत दिल दहला देने वाली है। कहानी में जिस तरह से सपने की बातों, घटनाओं का संयोजन किया गया है, वह एक प्रकार के न उबरने वाले आतंक की सृष्टि करता है। सपने के सबसे खतरनाक पात्र के रूप में हाथी और तिरिछ भी प्रतीक ही हैं। आज आदमी हर वक्त अपने को असुरक्षित महसूस कर रहा है। 'असुरक्षा का भय' ही

वर्तमान व्यवस्था की देन है, जिसकी ओर कहानीकार ने संकेत किया है।

'तिरिछ' कहानी संग्रह की एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी 'छप्पन तोले का करधन' पढ़ते वक्त कभी-कभी प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी' का आभास दे जाती है। गाँव में प्रचलित अन्धविश्वासों और चमत्कारों का वर्णन करके लेखक ने पाठक के मन में कथात्मक रुचि उत्पन्न करने की कोशिश की है। यह अंधविश्वास और भ्रम ही है कि दादी टोना करके दूसरों की संतान मार देती या अपने को बिल्ली में बदल लेती हैं। एक टोनही औरत की भयानकता के बावजूद समूचे परिवार का ध्यान दादी के छप्पन तोले के करधन पर लगा हुआ है और इसी कारण से दादी की तेल-मालिश भी होती है। धन या पूँजी ने हमारी मानवीय भावनाओं को किस प्रकार से मारं दिया है और इसका शिकार किस तरह से पुरानी पीढ़ी ज्यादा हुई है, यह दिखाना ही संभवत: इस कहानी का उद्देश्य है। आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाले दादा जी की आजादी के कुछ ही दिनों बाद मृत्यु आजादी पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न लगाती है। जिन्होंने खुशहाली के लिए लड़ाई लड़ी, उन्हें मिली मृत्यु, और जो बचे, वे सुख भोगने में तल्लीन हो गये।

उदय प्रकाश की विशेषता है कि कहानी के बिखर जाने का खतरा मोल लेते हुए भी एक ही साथ कई सामाजिक समस्याओं को उठाते हैं। आज पूँजी ने हमारे जीवन के हर क्षेत्र को प्रदूषित किया है। एक समय में जब घर में कोई कमाने वाला नहीं था, दादी ने अपने बल पर समूचे परिवार का भरण-पोषण किया। उसी दादी के घर में जब करधन नहीं मिलता, तब उनके खाने में धूल-मिट्टी डाल दीं जाती है। यहाँ उदय प्रकाश परिवार के लिए आने वाले उन खतरों की ओर संकेत करते हैं, जिनसे करुणा और प्रेम की भावनाएँ विलुप्त हो जायेंगी। यह विचित्र विडंबना है कि जो पिताजी घर भर को समझाते हैं कि बुढ़िया के पास कोई करध न नहीं है, वही पिताजी करधन के लिए पूरा घर खोद डालते हैं। धन का लोभ किस तरह से आत्मविश्वास तक को डिगा देता है।

'हिन्दुस्तानी इवान दानिसोविच की जिन्दगी का एक दिन' कहानी में निम्न मध्य वर्ग के चित्रण में बोझिल भावुकता का सहारा लिया गया है। उदाहरण के लिए रामसहाय श्रीवास्तव के परिवार के परिचय को ले सकते हैं। यहाँ हमारा यह कहना नहीं है कि हिन्दुस्तान में ऐसे परिवार नहीं होते। पाठक ऐसे परिवारों से परिचित भी हैं, लेकिन सन् ५५-५६ में अमरकान्त इसी वर्ग की जिन्दगी पर आधारित 'दोपहर का भोजन' कहानी में परिवार का जो चित्र खींचते हैं और सिर्फ एक बच्चे के दुबले-पतले हाथ-पैर के साथ हाँड़ी जैसा पेट जो प्रभाव छोड़ता है, वह इस कहानी का पूरा परिवार बीमारं और अपंग होकर नहीं छोड़ पाता। इवान और रामसहाय को एक या एक जैसा बताकर लेखक शायद यह ज्ञान देना चाहता है कि भारत से लेकर रूस तक आम आदमी की जिंदगी एक-सी है। इस कहानी में व्यक्त यह सबसे बड़ी विडंबना है कि भावना में बहकर दिये गये वोट से बहुमत में आयी पार्टी की ऐतिहासिक जीत के चुनाव परिणाम विशेषांक की प्रूफरीडिंग, जो रामसहाय कर रहा है, उसकी खुद की जिंदगी का परिणाम अवसाद और निराशा है। यह स्थिति लगभग समूचे भारत की है।अतिरिक्त वर्णनात्मकता इस कहानी के शिल्प को कमजोर करती है।

हम एक-दूसरे को बर्दाश्त करने की शक्ति खोते जा रहे हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखाने के लिए निम्न से निम्न स्तर तक जाने से हमें कोई परहेज नहीं रह गया है। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी इस प्रकार की विसंगतियों का सबसे ज्यादा शिकार है। कुछ इसी प्रकार की मानसिकता के साथ कहानी लिखी गयी है-'रामसजीवन की प्रेमकथा।'

कहानी के नायक साम्यवादी रामसजीवन के व्यक्तित्व का विरोधाभास यह है कि पूँजीपति वर्ग, सर्वहारा, विश्व राजनीति, दर्शन इत्यादि की समस्याओं तथा समाज का वस्तुपरक विश्लेषण करने की वह क्षमता रखता है, लेकिन अपने संबधों के बारे में वह निहायत आत्मपरक दृष्टिकोण अपनाता है। प्रेम के संबंध में गलतफहमी और अपनी कुंठाओं के कारण रामसजीवन असामान्य व्यवहार करने लगता है। लेखक यहाँ दिखाना चाहता है कि वामपंथी विचारधारा से लैस कोरा बुद्धिवादी जब वास्तविक व्यवहार जगत से अपने को अलग-थलग कर लेता है और जीवन के संघर्षों में उसकी कोई रुचि नहीं रह जाती तो 'इंटेंस स्क्रीजोफ्रेनिया' के शिकार रामसजीवन जैसी स्थिति में पहुँच जाता है। ऐसे लोगों का अपने मित्रों पर से भी विश्वास उठ जाता है। रामसजीवन अन्त में एकदम अकेले हो जाता है।

शोषितों के पक्षधर उदय प्रकाश ने इस कहानी में रामसजीवन के रूप में ऐसे बुद्धिजीवी की खिल्ली उड़ायी है, जो खुद अपने जीवन में शोषितों का ही पक्ष लेता रहा। वास्तव में ऐसे पात्र उपहास उड़ाने के लिए नहीं है। पर न जाने क्यों लेखक समाज-व्यवस्था और उन परिस्थितियों के प्रति निर्मम नहीं हो पाता जो शोषितों के प्रति संवेदनशील एक बुद्धिजीवी को बदतर हालत में पहुँचाने के लिए जिम्मेदार हैं। इस कहानी से एक ध्वनि जरूर निकलती है कि वर्तमान समाज में सफल होने के लिए चालू होना जरूरी है। 'रामसजीवन की प्रेमकथा' पूरी की पूरी कहानी एक व्यंग्य है। ऐसा लगता है, जैसे खुद लेखक इसमें निर्दयतापूर्वक मजा ले रहा है।

'दद्दू तिवारी गणनाधिकारी' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो ईमानदारी के साथ काम करके जीना चाहता है। उदय प्रकाश की संवेदना ऐसे लोगों के साथ भी कम ही है जो ईमानदारी के बावजूद अपने घर से, समाज से कट जाते हैं। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि लेखक वर्तमान समाज की वास्तविकता को अपने हस्तक्षेप के बिना ज्यों-का-त्यों रख देना चाहता है ? कुल मिलाकर दद्दू तिवारी भी इस कहानी में लेखक का निशाना बने हैं। दद्दू तिवारी के बचपन, साथियों के साथ उनकी उन्मुक्तता, घनिष्ठता, जाति-बिरादरी की भावनाओं से ऊपर उठकर मस्ती के साथ बिताये गये दिन, यानी गाँव की जिन्दगी की चहक का संक्षिप्त लेकिन बड़ा मोहक वर्णन इस कहानी में मिलता है। जिस तरह से हमारा समाज और हम बदल रहे है, उससे लगता है कि ये चीजें अब किताबों में ही देखने को मिलेंगी।

इस कहानी में जैसे ही तिवारी जी सरकारी नौकरी में आते हैं, उनकी जिन्दगी की सहजता गायब हो जाती है। आफिस और चपरासी तक उनकी जिंदगी सीमित हो जाती है। वे अफसरी रोब-दाब के संकीर्ण दायरे में फँस जाते हैं। उनके अंदर का साहब उन्हें उनकी असली दुनिया से काट देता है। तिवारी जी के इस वहम् को एक पटवारी तोड़ता है, जब उसके अफसरों की जीप को वे बिना रोड टैक्स दिये वापस नहीं जाने देते। जिस कानून की रक्षा के लिए तिवारी

जी अपने लोगों से कट जाते हैं, उसी कानून की धज्जियाँ उड़ते हुए भी वे देखते हैं और पटवारी के लात-घूँसों को चुपचाप बर्दाश्त कर जाते हैं। सजा के तौर पर वे नौकरी तक से निकाल दिये जाते हैं। अपनों से और नौकरी से भी अलग हो जाना उनके ज़ीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है। आज मध्यवर्ग इस असमर्थ हालत में पहुँच गया है कि प्रतिष्ठा, निजता, नौकरी और अपने लोग, सबसे वह दूर होकर अलगाव में पड़ गया है। उसकी स्थिति किंकर्त्तव्यविमूढ़ की हो गयी है।

घरेलू नौकरों की स्थिति हमारे समाज में बहुत बदतर है। बँधुआ मजदूर की जिंदगी जीने के लिए वे विवश हैं। हिन्दी में घरेलू नौकरों को आधार बनाकर कम कहानियाँ लिखी गयी हैं। उदय प्रकाश ने सर्वथा एक नये अंदाज में 'हीरालाल का भूत' कहानी की रचना की है। मुख्य रूप से यह एक सामंती उत्पीड़न की कहानी है। आज कहने के लिए भले ही सांमत या जमींदार नहीं हैं, लेकिन नाम और रूप बदलकर वे अपनी पुरानी स्थिति को बरकार रखे हुए हैं। बाप सुधन्ना से लेकर खुद हीरालाल और उसकी पत्नी पर जो अमानवीय अत्याचार किये जाते हैं, उसका दिल दहला देने वाला वर्णन इस कहानी में मिलता है। हवेलियाँ कितनी निर्मम रही हैं कि भूत की तरह खटने वाले हीरालाल के प्रति उनमें ममता का एक तिनका तक नहीं दिखायी देता और अपने बाप की, बलात्कार के बाद अपनी पत्नी की दर्दनाक मौत देखते हुए, बर्दाश्त करते हुए, हीरालाल कुत्ते की मौत मरकर खुद भूत बन जाता है। कारण भले ही कोई और रहे हों, लेकिन हवेलियाँ बरबाद होती हुई देखी गयी हैं। लोक में प्रचलित विश्वास के साथ जोड़कर लेखक ने इस कहानी को प्रभावकारी बनाया है और यह उसकी सफलता है। समकालीन कहानी से जिस कहानीपन का लोप होता जा रहा है, उदय प्रकाश ने उसकी रक्षा की है। इस कहानी के द्वारा लेखक ने यह सिद्ध किया है कि लोक-जीवन, लोक-विश्वास से जुड़े बिना संपूर्ण रूप में रचना की सार्थकता नहीं है। उदय प्रकाश की ही 'टेपचू' कहानी का नायक उत्पीड़न का सामना अदम्य जिजीविषा के साथ करता है, वहीं हीरालाल जीते जी भले ही कुछ न कर पाया हो, मरकर तो पूरी हवेली को बरबाद कर देता है। मरी हुई खाल की साँस से लोहा भी भस्म हो जाता है।

'दरियायी घोड़ा' और 'तिरिछ' के बाद उदय प्रकाश का तीसरा कहानी संग्रह है 'और अंत में प्रार्थना।' इस संग्रह में सिर्फ दो ही कहानियाँ ऐसी हैं जो चर्चा की मांग करती हैं। इसमें उदय प्रकाश की 'आत्मकथाओं' और कुछ किस्सों को भी शामिल किया गया है, जिनसे लेखक की प्रकृति के बारे में बहुत कुछ पता चलता है।

यदि मूल्यांकन की दृष्टि से देखा जाय तो 'थर्ड डिग्री' कहानी 'थर्ड ग्रेड' की मालूम पड़ेगी। यहाँ तक कि लेखक ने कहानी का अंग बनाकर जो भूमिका दी है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानो 'ज्यों-ज्यों सुरभि भज्यौ चहै, त्यों-त्यों उरझति जाय।' कहानी का शुरू का अंश बहुत गैरजरूरी मालूम पड़ता है, बशर्ते लेखक ने उसे एक शिल्प के रूप में प्रयोग न किया हो और वह शिल्प भी क्या, जो रचना के कथ्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि में कोई योग न दे। कहानी में किसी ऐसी घटना या 'मूड' विशेष के चित्रण में भी लेखक नहीं रमा है, जो पाठक के मन पर अपना असर

छोड़ सके। एक सामान्य-सी चोरी की घटना होती भी है तो इस रूप में जैसे कहानी का मुख्य पात्र सुरेश उसे होने देना चाह रहा हो। इसका अर्थ निकाला जा सकता है कि फकीरा द्वारा चोरी किये जाने की निश्चित संभावना के बावजूद, सुरेश अपनी माँ और पत्नी को सकुशल पहुँचाने की फिक्र ज्यादा करता है, घर के सामानों की कम। सुरेश अपना चोरी गया माल वापस पाने में सफल होता लगता है, लेकिन थानेदार पर लाख एहसान के बावजूद उसे निराशा ही हाथ लगती है और लोक प्रचलित यह धारणा सही सिद्ध होती है कि पुलिस किसी की नहीं होती, उससे दोस्ती और दुश्मनी दोनों नुकसानदेह हैं। यह जानते हुए भी कि चोरी किसने की है, सुरेश अपना सामान पाने के लिए कोई संघर्ष नहीं करता, जैसे वह पहले से मान बैठा है कि चोर के हाथ लगा सामान चोर का पता हो जाने पर भी वापस नहीं मिलता। यह हमारे यहाँ की पुलिस व्यवस्था पर एक बड़ा सवाल है।

उदय प्रकाश का रचनाकार के रूप में यह एक साहस कहा जाएगा कि शिल्प की परवाह किये बिना वे पाठकों से सीधे संवाद स्थापित करते हैं और उनसे यह सवाल करते हैं कि इस व्यवस्था का जब यही ढाँचा है कि चोरी रिक्शेवाला करता है, चोरी का सोना कानून मंत्री के घर में गलता है, तो ऐसी व्यवस्था को कब तक बर्दाश्त किया जाय। और तो और इस व्यवस्था पर सवाल खड़ा करने वाली कहानी का ढाँचा भी हम नहीं बदल पा रहे हैं। क्या लेखक अंदर से कहीं अपने को कमजोर तो नहीं महसूस कर रहा है ? और यदि ऐसा हो तो हम यथास्थितिवादी की भूमिका में कब तक बने रहेंगे ? आलोचक यह कह सकते हैं कि जो बात कहानी से निकलनी चाहिए थी, स्पष्ट व्याख्या कर लेखक ने कहानी के सौंदर्य को नष्ट किया है, लेकिन इससे भ्रष्ट व्यवस्था के ढाँचे में परिवर्तन के लिए लेखक की बेचैनी का अंदाज लगाया जा सकता है। सचमुच वह कहानी को व्यवस्था-परिवर्तन के लिए एक औजार बनाना चाहता है।

'और अंत में प्रार्थना' के अधिक लंबी होने के बावजूद न सिर्फ समीक्षकों ने इसका नोटिस लिया, बल्कि साहित्य के आम पाठक ने इस कहानी की संवेदना को निजीपन के साथ महसूस किया। इस कहानी की यह शक्ति है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़े होने के बावजूद डा. दिनेश मनोहर वाकणकर के साथ उन लोगों की भी सहानुभूति जुड़ती है जो संघ के विरोधी हैं। उदयप्रकाश ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के अंदर से खोखले होते जा रहे चरित्र का उद्घाटन करके यह दिखाया है कि किस प्रकार एक धर्म को शक्तिशाली बनाने का बीड़ा उठाने वाले संगठन के लोग सत्ता से जुड़ने पर उसकी सारी बुराइयों को अपनाने का तर्क खोज लेते हैं और हमारे समाज में जब इतने बड़े-बड़े संगठन सत्ता की गिरफ्त में आकर अपनी कथनी को भूल जाते हैं तो छोटे संगठनों की बात ही क्या। कहानी पढ़ने से कुछ स्वाभाविक सवाल पैदा होते हैं कि क्या कमजोरी पूरे संगठन में ही है या संगठन के शीर्ष नेतृत्व में। क्या यह सिर्फ एक ही संगठन की कमजोरी को उजागर करने वाली कहानी है या आज छोटे-बड़े उन सभी राजनीतिक, सांस्कृतिक व सामाजिक संगठनों का यही हाल है जो आम आदमी की बदतर स्थिति को बेहतर बनाने के उद्देश्य से संचालित हैं।

देखा यह जा रहा है कि सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से कार्य करने वाला हर कार्यकर्ता

आज उपेक्षा और प्रताड़ना का शिकार है। किसी भी संगठन में उसकी पूछ ज्यादा है जो चापलूस और चालबाज हैं तथा इसी के जरिए वे पैसे वाले बन गये हैं। आज समर्पित कार्यकर्ता डा. दिनेश मनोहर वाकणकर की तरह संगठन और समाज में अकेला कर दिया गया है, क्योंकि वह सिद्धान्त को ईमानदारी के साथ व्यवहार में लागू करना चाहता है। लेकिन डा. वाकणकर की यही अपनी शक्ति है कि अंत तक वे सच के लिए संघर्ष करते हैं। जिन्दगी के द्वन्द्वों से गुजरते हुए जिस प्रकार डा. वाकणकर अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त करते हैं, वह कहानी के विकास को स्वाभाविक बना देता है। पूरी कहानी में डाक्टर वाकणकर की मानसिक स्थितियों की सूक्ष्मता का भेदन कर उन्हें सहज अभिव्यक्ति प्रदान करने में लेखक को सफलता मिली है। डा. वाकणकर की तरह सच के पक्ष में खड़ा होने वाला तौफीक अहमद लाख कोशिश करने के बावजूद अपने मकसद में सफल नहीं हो पाता और पुलिस की गोली का शिकार हो जाता है। आश्चर्य यह है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का कार्यकर्ता होकर भी डा. वाकणकर अपने संगठन के दूसरे लोगों के बहकावे में नहीं आते और तौफीक अहमद के बहाने साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने की उनकी हर तरकीब को फेल कर देते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अंततः विजय उस मनुष्य-सत्य की होती है, जो व्यक्ति के अंदर निवास करता है।

आज हमारे देश की विकृत हो रही लोकतांत्रिक व्यवस्था की ओर वे कहानी में संकेत देते हैं। क्या विडंबना है कि लोकतंत्र का सर्वाधिक शक्तिशाली प्रधानमंत्री स्वयं का विवेक नहीं रखता। वह तस्करों, दलालों, पूँजीपतियों और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शस्त्र का व्यवसाय करने वाले लोगों से बेशर्मी से घिरा हुआ सत्ता सुख का भोगी है। यह सब देश की रक्षा और जनता के हित के नाम पर होता है। यह ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था है "जिसका अपना एक सार्वभौमिक चरित्र है। यह अपने पास आने वाले हर समूह, दल, संगठन, विचारधारा और दर्शन को अपने स्थायी सर्वसमावेशी चरित्र द्वारा निगल लेता है।'' डा. वाकणकर इन सारी परिस्थितियों का मुकाबला करते हैं। मन ही मन सबका विश्लेषण करते हुए वे कहीं भी झुकते या टूटते नजर नहीं आते। उदय प्रकाश ने डा. वाकणकर के रूप मे एक ऐसे चरित्र की सृष्टि की है जो बहुत दिनों बाद हिन्दी कहानी में देखने को मिला है।

हिन्दी में ऐसे बहुत से रचनाकार हुए हैं, जो एक खास समय में चर्चित व स्थापित हो जाने के बाद देश और समाज की चिंताओं से मुक्त, अपने पुराने लेखन के बल पर साहित्य के क्षेत्र में लेफ्ट-राइट करते रहते हैं। लेकिन जो सचमुच साहित्य के प्रति समर्पित है, वह एक क्षण के लिए भी देश-समाज की चिंताओं से मुक्त नहीं हो सकता। साहित्यिक अखाड़ेबाजी से अलग उसकी मूल चिंता अपने युग के यथार्थ को पकड़ने की होती है। उदय प्रकाश ऐसे रचनाकार हैं, जो अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता का निर्वाह बड़ी ईमानदारी से करते रहे हैं। 'इण्डिया टुडे ९६' की साहित्य-वार्षिकी में प्रकाशित 'पाल गोमरा का स्कूटर' कहानी लेखक की देश और समाज के प्रति उसकी चिंता को उजागर करती है। यहाँ उन लोगों से सहमत नहीं हुआ जा सकता जो यह मानते हैं कि कहानी पाल गोमरा अर्थात हिन्दी कवि राम गोपाल के प्रति सिर्फ सहानुभूति पैदा करती है। कहानीकार ने पाल गोमरा की विक्षिप्तावस्था का जो चित्र दिया है, वह उन लोगों

पर सवाल खड़ा करता है जो युग के यथार्थ का सामना न कर कुटिल समझौते के साथ साहित्य, समाज और देश में अपना प्रभुत्व कायम किये हुए हैं। पाल गोमरा एक ही साथ दण्डी मार्च, आजाद हिन्द फौज, तात्या टोपे, खुदीराम बोस, तेगबहादुर और भगत सिंह जैसे कई नामों और शब्दों का जो उच्चारण करता है, उससे लगता है कि समाज में उन ताकतों की तलाश के लिए उसमें एक बेचैनी है, जो विश्वपूँजीवाद का प्रतिरोध कर सकती है।

पिछले पाँच-छह वर्षों में अपने भारत नाम के देश में उत्तर आधुनिकता, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, धर्म, सामाजिक न्याय और दलित उत्थान के नाम पर जो-जो पाखण्ड किये गये और इनका जिन-जिन क्षेत्रों पर प्रभाव पड़ा, उसका बड़ा स्पष्ट वर्णन 'पाल गोमरा का स्कूटर' कहानी में मिल जाता है। इस एक कहानी को पढ़कर देश का साधारण से साधारण आदमी भी जान सकता है कि जनता की सेवा तथा साहित्य और संस्कृति की रक्षा के नाम पर चलने वाली बड़ी से बड़ी संस्थाएँ कितनी खोखली हो चुकी हैं और जो जहाँ पर समर्थ है, वहीं इस देश को लूटकर अपनी झोली भर रहा है। सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों के गैर जिम्मेदारानापन और साहित्यिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों की संवेदन-शून्यता का जिस अंदाज में उदय प्रकाश ने इस कहानी में चित्रण किया है, वह उनकी व्यापक दृष्टि का परिचय है। आदर्श, नैतिकता और मानव-मूल्यों को रौंदते हुए उपभोक्तावाद ने किस तरह महानगरों से लेकर 'गाँव के प्राइमरी स्कूल में टीचरी का काम करने वाली आशा मिश्र तक को अपनी चपेट में ले लिया है और आदमी मानो पैसे के अलावा न कुछ जानना चाहता हो और न कुछ सुनना, इन सभी स्थितियों का तथ्यपरक वर्णन प्रस्तुत करने में कहानी सफल हुई है।

देश और समाज की वर्तमान स्थिति के लिए जिम्मेदार पूँजीपति, राजनेता और नौकरशाह अपने कई कुकृत्यों के साथ इस कहानी में मौजूद हैं। खतरा यह पैदा हो गया है कि अपने जायज अधिकारों की माँग करने वालों की बातों का मखौल उड़ाते हुए लोग भ्रष्टाचार के पक्ष में तर्क देते नहीं अघाते। शताब्दी के अंत की यह अत्यंत त्रासद स्थिति है कि हम सत्ता प्रतिष्ठानों से जुड़ने की हड़बडी में अपने सिद्धांतों का परित्याग कर उसे पकड़े रहने का दावा करते फिर रहे हैं। पैसे की हवस और ऊपरी चमक-दमक तथा दिखावे के इस युग में पाल गोमरा की इच्छा कोई बड़ी नहीं थी। उन्होंने और कुछ नहीं, सिर्फ एक कवि बनना चाहा था, 'हृदय के भीतर तक उतर जाने वाली करुणा के कवि।' मानव जाति की सबसे मूल्यवान भावना के धरातल पर रहकर वे जीना चाहते थे, लेकिन वर्तमान व्यवस्था ने उन पर ऐसा प्रहार किया कि वे ठीक-ठीक शायद मनुष्य भी नहीं रह गये। मानव जीवन की स्थिति जिन मूल्यों के चलते है, उनको धारण करने तथा उन्हें व्यापक बनाने के प्रयास में एक सामान्य आदमी किस तरह व्यवस्था की क्रूर हँसी का पात्र बन जाता है और व्यवस्था उसे अपना ग्रास बना लेती है, युग की इस भयावह चिंता को कहानी उजागर करती है।

लेकिन सवाल यह भी है कि क्या अपनी इस हालत के लिए स्वयं पाल गोमरा भी जिम्मेदार नहीं है ? रामगोपाल के ठीक उल्टा जब वे पाल गोमरा बनते हैं, तभी से उनकी मनोदशा में एक ऐसा बदलाव आने लगता है कि वे खुद जिस जमीन पर खड़े थे, वह जमीन मानों युग के

अनुरूप उनकी प्रगति में बाधक बन जाती है। पॉल गोमरा की असली त्रासदी यही है। एक कविहृदय जिस बात को नहीं समझ पाता, उसे उसके मित्र राजीव मेनन आसानी से समझ जाते हैं और इण्डिया इन्टरनेशनल सेंटर के आयोजन में भाग लेने से उसे मना करते हैं- "लिसेन पॉल. ..तुम्हारा दुनिया अलग है, उन लोगों का अलग। दे आर पावरफुल मनीड पीपुल। यू आर ए पुअर, सिंपल, वीक हिंदी पोएट, डोंट गो देयर।'' यहाँ उदयप्रकाश साहित्य और संस्कृति की उस ताम-झाम वाली दुनिया की पोल खोलते हैं, जिसकी गिरफ्त में साहित्य-संस्कृति से जुड़े लगभग वे तमाम लोग आ चुके हैं, जो इस क्षेत्र के घोषित आधिकारिक प्रवक्ता हैं। यही पॉल गोमरा कहानी के अंत में फिर दलित हिन्दी कवि रामगोपाल के रूप में जब अपनी पहचान कराता है तो ट्रक ड्राइवरों, क्लीनरों और मुसाफिरों की भीड़ आधी रात में भी उसकी आवाज में आवाज मिलाती है-'क्विट इंडिया', 'क्विट इण्डिया। और निश्चित रूप से समूची व्यवस्था को चुनौती देने वाला यह रामगोपाल तब दिल्ली का नहीं रह जाता। वह रामपुर और गाजियाबाद का होकर स्वदेशी आंदोलन के द्वारा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और उसके पक्षकारों का मुकाबला करने का साहस दिखाता है। कहानी फिर 'क्विट इंडिया मूवमेंट' के लिए जनता का आह्वान करती है लेकिन इस बार निशाने पर अंग्रेज नहीं हैं।

हिन्दी में मुद्दत बाद एक ऐसी कहानी लिखी गई है जो पठनीयता के संकट से लोगों को उबारती है, उबारती ही नहीं बल्कि साहित्य में रुचि रखने वाले लोगों को अपनी ओर खींचती है। 'पॉल गोमरा का स्कूटर' के द्वारा लेखक ने समकालीन हिन्दी कहानी को एक बड़ा और नया आयाम देने में सफलता पायी है। वैसे भी उदयप्रकाश के लेखन में विविधता है और इस कहानी के माध्यम से उन्होंने अपनी सीमाओं को भी तोड़ा है। वे परिवेशगत लेखन से ऊपर उठकर कहानी जैसी छोटी विधा के द्वारा मानव समाज की बड़ी समस्याओं से जूझने का साहस दिखा सके हैं। यह हिन्दी साहित्य में एक शुभ लक्षण है।

समालोचन

कहानियाँ क्यों न हों लम्बियाँ–लम्बियाँ......

प्रकाश उदय

स्वयं प्रकाश का एक उपन्यास है 'बीच में विनय', 'और अन्त में प्रार्थना' उदय प्रकाश की एक लंबी कहानी है। बचा बिस्मिल्लाह, सो एक कथाकार का शुभ नाम है। 'प्रार्थना के शिल्प में नहीं' सही, लेकिन इसी मंगलाचरण के साथ कथा–साहित्य को लेकर कुछ और अनाप-शनाप।

इस मंगलाचरण में सांप्रदायिक सद्भाव की जो सुगन्ध है उसके लिए सद्भाव संप्रदाय की तमाम कहानियों की तरफ से उन उसगंध-पीड़ित पाठकों से क्षमा-याचना जो कि काश दंगाई होते और अपने सुधरने का सारा श्रेय उन कथाकारों को दे पाते जो आज तक आते-आते नितान्त पाठमूलक हो चुकी एक विधा से उसकी औकात से ज्यादा की वह वाली उम्मीद बाँधे बैठे हैं जिसपर कहते हैं कि दुनिया कायम है।

कहते तो यह भी हैं एक सज्जन कि तरीके से जो कहना हो तो सबसे ज्यादा लघुकथाओं पर कहिए, कहानियों पर कम, कहानी लंबी हो तो उससे भी कम और उससे भी कम यदि कहानी कुछ और लंबी होकर उपन्यासिका हो जाए और सबसे कम उपन्यासों पर कहिए और चुप रहिए अगर उपन्यास मोटे हों, तो। लेकिन सब काम तरीके से हो इससे अधिक रचना-विरोधी माँग और क्या हो सकती है !

तो इससे बेतरीकी बात और क्या हो सकती है कि कहा जाय कि हिन्दी में उपन्यास अमूमन दो तरह के हुआ किए, एक तो 'निर्मला' साइज के, दूसरे 'गोदान' साइज के और इन्हीं दोनों साइजों से तनिक छोटे या मोटे या तनिक ज्यादा छोटे या तनिक ज्यादा मोटे के बीच-बगल हिन्दी उपन्यासों के अद्यावधि विकास को समझा जाय, ज्यादा-से-ज्यादा गोदान–गोदान साइज के दो खण्ड कर लिए जाएँ–चाहें तो एक को झूठा दूसरे को सच या दोनों को 'झूठा सच' कह लें। वैसे जासूसी उपन्यासों की दुनिया में निर्मला साइज के अनेकखण्डी उपन्यासों की प्रथा प्रचलित है, लेकिन उनकी बात नहीं करनी क्योंकि उनके होने पर बात करने की फुर्सत होती भी कहाँ किसको है।

उपन्यास की मृत्यु की घोषणा हिन्दी उपन्यासों के लिए नजरउतारू साबित हुई और कई उपन्यास अपेक्षाकृत सुधरे स्वास्थ्य के साथ प्रकट हुए। अच्छा लगता है न कि सुधरे स्वास्थ्य के ये लक्षण तब भी हैं जब 'मुझे चाँद चाहिए' और तब भी जब 'यह मेरा नहीं'-'इदन्नमम्'। लेकिन एक कहने वाले का यह भी कहना है कि अच्छा नहीं लगता कि उपन्यास लंबे हों तो लंबे उपन्यास नाम से उन्हें अलग से न खतियाया जाय और कहानी लंबी हो तो लंबी कहानी नाम से एक अलग खाता खोल दिया जाय।

दरअसल बड़ों का बड़ा होना उनका धर्म है, छोटे बड़े होते हैं तो आँख तो लगती है।

उनकी बिरादरी बदल जाती है, अलग बन जाती है। ऐसी बदली बिरादरी वाले लोग भी आज़कल कहानीकारों, खासतौर पर दलित कहानीकारों के निशाने पर खूब-खूब हैं। वैसे, एक मजदूर कामरेड के बारे में एक विशुद्ध कामरेड की एक दुखी टिप्पणी सुनिए, "मारो साले को, पहुँचा एक रात उसके घर तो देखा कि घी-घँसी रोटियाँ उड़ा रहा है और साला कहेगा कि मजूर हैं, मजूर नहीं मजूर के.... हैं।''

पता नहीं गलत है कि सही, यह भी नहीं याद कि कब कहाँ किस मूड में कहा गया था कि "अंग्रेजी में जिसे शॉर्ट स्टोरी कहते हैं, हिन्दी में उसीको कहानी कहते हैं—एक इस बात से भी हिन्दी वालों को अपनी औकात समझ लेनी चाहिए।'' किसी को क्या पता कि हिन्दी में अपनी औकात समझ लिया करने की प्रथा पुरानी है और वह भी दो तरह से। एक इस तरह कि देखो तो गोबर भी है हमारे वेदों में। दूसरे, कि क्या देखते हो, गोबर ही है हमारे वेदों में।

बहरहाल एक बहुत बुनियादी टाइप के प्रश्न के उत्तर में एक बहुत बेबुनियाद किस्म की बात जो सुनने को मिली। प्रश्न था कि आखिर कितनी लंबी होकर कोई कहानी लंबी कहानी हो जाती है? उत्तर था कि भाई, अब ये तो पता नहीं कि लंबी कहानी लिखने की शुरुआत किसने की, लेकिन छापने की शुरुआत तो 'हंस' ने ही की, शुरुआत नहीं भी की तो सिलसिला तो लगाया ही। तो हंसस्थ ऐसी तमाम लंबी कहानियों के कुल पेज बटा कहानियों की संख्या बराबर कहानी कितनी लंबी कि लंबी कहानी।

'प्रसाद जी की कविता चाँदी की वह तश्तरी है'–ब्रांड साहित्य के एक विभोर शिक्षक-समीक्षक के मुँह सुना गया, पितृपक्ष के तुरन्त बाद, कि "कहानी छिले हुए माथे पर पड़ी वह बूंद भर जल है...'' तो उनके सामने 'हंस' की कुछ ज्यादा ही लंबी कहानी रखकर कहा गया कि 'बूंद भर जल को लोटा भर कर लें जनाब', लेकिन दुर्भाग्य कि पूरी कहानी उन्होंने किस्तों में पढ़ी और इस नाते लोटा या बाल्टी भर करने के बजाय बूँद भर को बूंदा-बांदी भर कर दिया।

लंबी कहानी को 'लंबी कहानी' के अलावा कभी-कभी 'लंबी वाली कहानी' भी कहा जाता है। वाक्य में इनका प्रयोग इस तरह सुनने में आया किया है कि "एक ठो को तो संपादक जी रख लिए हैं जबकि दूसरी, लंबी वाली कहानी को लौटा दिए हैं कि तीन ठो कहानी औब्लिग तेरह ठो कविता का जगहा मरा जाता है, पन्द्रह बीस पन्ना किधरो से कम करके जो भेजें....''

अब साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति से जोड़कर देखने की शुक्लजी की लगाई लत की, नमूने के तौर पर, एक लन्तरानी।...."मुकदमे चल रहे हैं और चलते चले जा रहे हैं। जाँच आयोग बैठे हैं और बैठे-बैठे ऊँघ रहे हैं। नौकरी के लिए फॉर्म भरने से लेकर अगर होती है, ज्वायनिंग, तो दोनों के बीच की दूरी को देखिए और बताइए कि कहानियाँ क्यों न हों भला लम्बियाँ-लम्बियाँ।''

कि कहने की बात है कि बहुत हड़बड़ी है, कि फुर्सत किसे है, कि इसीलिए उपन्यास से कहानी, नाटक से एकांकी। सच तो यह है कि काम किसे है ? जीविका विहीन लोग सिद्यमान सोचबस पूछे एक एकन सो कहाँ जाई का करीं। यह अकबर महान के जमाने की बात है। आज अकबर जैसे महानों के लेंहड़े लगे हैं। अपने घर छापे में एक करोड़ पाये जाने की खबर

पाकर भलीभाँति इतरा भी न पाए थे कि निगोड़े पड़ोसी के घर डेढ़ करोड़ मिलने की खबर आ धमकती है। इतना जरूर है. कि तब लोग कम-से-कम पूछते थे कि कहाँ जाईं का करीं। अब पता है। सबको। कहीं नहीं जाना। कुछ नहीं करना। होना क्या है। वे अल्पपढ़ हैं जो शेषन को सुन उछल पड़ते हैं कि कुछ होगा। पूर्णपढ़ या अनपढ़ ठीक से जानते हैं कि कुछ नहीं होगा। घोटाले पकड़े गए। पकड़े जाएँ। सी बी आई आई। आए। क्या होगा ? होगा क्या!

इतनी निश्चिंतता। इतना इतमीनान। साहित्य का सम्बन्ध इन्हीं निश्चिंत-इत्मिनन्न पूर्णपढ़ या अनपढ़ लोगों से है। अल्पपढ़ से नहीं। ऐसे में कहानी लंबी तो होगी ही। शुक्र है कि कहानी लम्बी भर होकर बख्श देती है—शान्ति, जुनून, स्वाभिमान जैसे सीरियल तो पीछा ही नहीं छोड़ते—और छोड़ेंगे भी नहीं, तबतक जबतक कैप्टेन कुक नमक में 'एक्स्ट्रा फ्री फ्लो' बना रहेगा। वैसे भी कई-कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मिल-जुल कर जिन सीरियल-कथाओं को लिख रही हैं उनका कोई अन्त है इसकी तो कल्पना ही व्यर्थ है। ऐसा नहीं है कि लंबी कहानी कोई आज की चीज है। पहले भी हुआ करती थीं लंबी कहानियाँ। फिर क्या हुआ? यह हुआ ? फिर ? यह।. ..आज भी हैं लंबी कहानियाँ। कुछ हुआ ? नहीं हुआ। नहीं हुआ तो क्या हुआ ? कुछ नहीं हुआ। तो कुछ नहीं हुआ को थोड़े में तो कहा नहीं जा सकता। सो लम्बी तो होगी ही कहानी।

विद्वान टाइपों की बात जो सुनता है, विद्वान होता है। तो मैंने भी यह बात सुन रखी है कि कहानी लंबी होती है तो इसलिए कि कहानीकार उसमें कोई गैप नहीं छोड़ता। गैप यानी एक लिये गए प्रसंग से दूसरे लिये गए प्रसंग के बीच छोड़े गए प्रसंगों से बनी खाली जगह। खाली जगहें न हों तो कहानी आकार में छोटी भी हो तो प्रकार में लम्बी ही कही जाय। इसी न्याय से ऐसी खाली जगहें हों तो आकार में लम्बी लगती कहानी को भी प्रकार में शॉर्ट वाली स्टोरी ही कहना चाहिए। वैसे, गैप को ठीक से समझने के लिए आरा से पटना तक डेली पैसिन्जरी करने वालों के बीच चलना होगा। छह की सीट पर आठ बैठे हैं, नवाँ आकर कहता है कि 'आप लोग जरा-सा चौथाई छोड़कर बैठें तो मैं भी गुंजाइश कर लूं।' यथार्थ में थोड़ा-सा जादू का पुट डाल दें तो यह भी देखा जा सकता है कि बैठने के लिए दस लोग धक्का-मुक्की कर रहे हैं और सीट खाली पड़ी है। यह हुआ कि गैप-का-गैप और उसे भरनातुरता-की-भरनातुरता। पता नहीं जिस लम्बी कहानी को ध्यान में रखकर यह प्रकरण-वक्रता उपस्थित की गई वह पाठकों के ध्यान में आ रही है या नहीं क्योंकि खुद उपस्थित करने वाले के ध्यान में तो नहीं ही आ रही है। भगवान करें कि इस 'गैप-का-गैप और उसे भरनातुरता की भरनातुरता' वाली सूक्ति को सार्थक करने वाली कोई लंबी कहानी यदि लिखी न गई हो अब तक तो लिखी जाय जरूर।

यहीं एक अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या उठाकर छोड़ी जा रही है। जो कहानी लिखे वो कहानीकार तो जो लम्बी कहानी लिखे वो क्या ? 'लंबी कहानीकार' कि 'लंबा कहानीकार' ? क्यों नहीं लंबी कथा को लघुकथा के तर्ज पर गुरुकथा कहा जाय और 'गुरु कथाकार' से काम चलाया जाय, यदि हिन्दी-उर्दू एकता के तहत गुरु से ही गुरूर का बनना न माना जाय तो। खतरा यह है कि हिन्दी साहित्येतिहास के आगामी विद्यार्थियों को तब गुरु कथाकारों पर किसी नातिदीर्घ निबन्ध का लेखन करते हुए यह स्पष्ट करना भी जरूरी हो जाएगा कि गुरु कथाकार

से तात्पर्य उन कथाकारों से नहीं है जो अध्यापक-सह-कथाकार हुआ किए हैं। खतरा तो यह भी है कि 'लंबी कहानीकार' कहने पर कोई मर्द-मन चिहुँक सकता है और 'लंबा कहानीकार' कहने पर कोई कदवंचित कथाकार भड़क।

एक प्रश्न यह है या होना चाहिए कि लम्बी कहानी पर बातचीत की शुरुआत किस युगबुद्ध विद्वान ने की। इसके उत्तर में शोध-निर्देशकों और शोधार्थियों का बहुभाषाभेद के साथ एक ही निष्कर्ष है कि बीसवीं नामक सदी के अन्तिम दशक के दूसरे वर्ष यानी १९९२ के मासानाममासोत्तमे जनवरी मास में उदय प्रकाश की एक लंबी कहानी 'और अन्त में प्रार्थना' पर सारगर्भित टिप्पणी करते हुए प्रकाश उदय नामक एक प्रतिभाक्रान्त ने लंबी कहानी के स्वरूप पर बातचीत की एक ऐसी परम्परा कायम की जिसकी दूसरी कड़ी प्रस्तुत आलेख या इसे जो कहिए, है। प्रकाश उदय की आत्मा की शान्ति के लिए ऐतिहासिक महत्व के उस आलेख में, अनुद्धरणीय बन जाने से जरा-सा' से भी रह गया होता अगर कुछ, तो यहाँ भी बेशक परोस दिया गया होता।

हिन्दी में लम्बी कहानी लिखने वाले कुछ गिने-चुने हैं। ये प्राय: वे हैं जिनके सामने छपने की कोई समस्या नहीं। देखा यह गया है कि जिनके सामने छपने की समस्या नहीं होती वे लम्बी कहानी लिखते हैं, जिन्हें छपने की चिन्ता नहीं, जैसे मुक्तिबोध, वे लंबी कविताएँ लिखते हैं। निरापद यह होगा कि यह भी कह ही लिया जाय कि इसका मतलब यह नहीं कि जो कहानी लिखते हैं उनके सामने छपने की समस्या होती है, जो छोटी कविताएँ लिखते हैं उन्हें छपने की चिन्ता होती है। नहीं भी होती।

"कौन कहता है कि लम्बी कहानी लिखने वाले गिने-चुने हैं ? चुटकी भर चीज को लम्बा करके लघुकथा लिख दी जा रही है, लघुकथा को लम्बाकर कहानी, कहानी को लंबा करके लंबी कहानी और लो, उन्होंने अक्षर को चौदह प्वांइट करके, लीडिंग बढ़ाके लंबी कहानी को उपन्यासिका बनाकर छपा लिया। जो उपन्यास हैं वो संभव है कि असल में उपन्यासिका हों। और क्या अचरज जो ऊँची छलांग का कोई एक्सपर्ट लघुकथा को ही सीधे महोपन्यासिक किये दे रहा हो।''—ऐसे जोशाक्त समीक्षकीय निष्कर्षों के प्रति सहृदय के हृदय में स्थायी रूप से निछावर हो-हो जाने की भावना रहनी चाहिए। ऐसे निष्कर्षों से यह निष्कर्ष निकालकर कि संप्रति कथा-साहित्य की यही नवमोत्तरी प्रवृत्ति है, किसी खासमखास के बारे में ऐसी निष्कर्ष-निकासी की जाय कि लेकिन, श्रीमान ने, इस साहित्यिक भेड़ियाधसान से हटकर, और पलटकर, उपन्यासों तक को लघुकथाया है—तो अबकी निछावर होने की बारी श्रीमान जी की ही होनी चाहिए।

लंबी कहानी को लेकर यदि कोई मनई शोध-वोध का कोई संकल्प ले तो उसके लिए सिनौप्सिस जैसी जिस चीज की जरूरत हो सकती है, उसकी एक बानगी प्रस्तुत है। इसकी प्रेरणा सिलेबसानुसार समीक्षा-कर्म को प्रेरित होने वाले 'एक अनुभवी प्राध्यापक' से प्राप्त है। अध्यायों के शीर्षक इस प्रकार के हो सकते हैं—लंबी कहानी और आजादी की लंबी लड़ाई या लंबी कहानी और गुलामी की लंबी दास्तान। फिल्मों में अमिताभ बच्चन की सफलता का दौर और लम्बी कहानी। छुटभैयों की लंबी कुदानें और लंबी कहानियाँ। लंबी कहानियों में लम्बन दोष का स्वरूप। कथागत लम्बत्व-आकारगत, प्रकारगत। कहानियों की लम्बाई-प्रसंगों की नौमिनलता की भरपाई।

जनसंख्या-विस्फोट, कथा पात्रों की भीड़ और लंबी कहानियाँ। लंबी कहानी-पात्रों के विसम्वाद और लेखकीय आलाप की विधा। लंबी कहानी के हेतु (इस सिलसिले में यह भी पता लगाया जा सकता है कि कहानी का पारिश्रमिक पृष्ठों की संख्या पर कितना कुछ निर्भर है।) कहानी-लम्बी की गई कि हो गई। भूमिका, उपसंहार, परिशिष्ट, सहयोगी साहित्य संबन्धी सूचनाएँ (इस आलेख का शीर्षक, छापक पत्रिका का नाम, अंक, पेज आदि याद कर लें) आदि।

इस बंदे की इधर बीच पढी लम्बी कहानियों में जो सबसे ज्यादा ताजा है वह 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' है। इसे 'लंबी कहानी' कहने का श्रेय भी लेय है क्योंकि इसके माथे पर लंबी कहानी का कोई संपादकीय स्टीकर पहले से नहीं लगा। कोई कहानी लंबी कहानी इसलिए भी होती है कि उसे किसी उदय प्रकाश या किसी शिवमूर्ति ने लिखा है। वैसे यह कहानी इसलिए भी लंबी है कि लेखक जानता है कि जिस देश की यह कहानी है उसके प्रत्येक काल में,अकवलित रूप से गिनते-गिनते थक जाने भर से भी ज्यादा बार गले से छोह..छो की आवाज निकालते हुए कपड़े पछीटने वाली,धोबिनें थीं और हैं। वह यह भी जानता है कि एक अंग्रेज हाकिम की एक टिप्पणी ने इस देश में ढाई सौ साल लंबी निरापद और ज्यों-की-त्यों यात्रा की है। यह भी कि आदमी को बेसन के छोटे-से पुतले में बदलकर किस तरह उसकी जान हथेली में कर ली जाती है। यहाँ तक कि गँवार चोखी को भी पता है कि इतने बड़े देश को छोटे-से नक्शे में बदलकर अंग्रेजों ने उसके साथ क्या किया "बुंतू को, कादिर को, मेरेको सबको पता है कि तुम फिरंगी लोग उस कागज पर घोड़ा दौड़ाएगा, उसको बंदूक से मारेगा, उसको पिंजरे में डालेगा, उसको चूस-चूसकर खाएगा और जब तुम लोग यहाँ से जाएगा तो वो नक्शा किसी अपने गुलाम को सौंप जाएगा।'' तो कहानियों के लमराने को, हिन्दी साहित्य के आलोचना जगत के नेहरुओं के हाथ में पड़ने से उसे बचाने के एक उपाय के तौर पर भी समझा जा सकता है।

"इस लंबी कहानी के पीछे,'' कहने वाले ने कहा, "मारे जाने के कुछ पहले से लेकर मारे जाने के दो सौ वर्षों बाद तक लंबी थकन है (हिन्दुस्तानी सांड १७९५ में इंग्लैण्ड के बर्कशायर नगर में मारा गया था)। इन दो सौ वर्षों में से सौ वर्षों से भी लंबी दूरी है जो गोली जैसा चलते बीती है(१८५७ में मंगल पाण्डे ने अंग्रेज एडजुटेंट को वह गोली मारी थी जिसके कारतूस में उस सांड की चर्बी का इस्तेमाल हुआ था)।'' "और फिर पचास वर्षों की गहरी नींद (सन् १९४७ में भारत आजाद हुआ)। झकझोर लंबा तो होगा ही (१९४७ में छपी यह कहानी है)।''

कैकेयी-चरित्र पर स्वामी जी के प्रवचन ने जिस भावभरे को इस हद तक झकझोर कर रख दिया था कि उसने अपनी बेटी का नाम ही कैकेयी रख दिया था (पूरा नाम कैकेयी माता) उसने इस लंबी कहानी को लगातार पढ़कर न सही दिल्ली की, अपने कस्बे की ही सही, और एकमेव सड़क को 'सांड सड़क' कहकर अगर पुकारना शुरू भी कर दिया है तो क्या आश्चर्य! कोई कितना भी हँसे, मैं नहीं हँसा, कभी किसी ऐसे भावभरे पर।

'हिन्दुस्तानी' फिल्म का जो बबवा था, बैल की तरह बलवाला, उसने भी कहा फोन पर कि 'मैं मरा नहीं' और तिब्बत का वह बूढ़ा लामा भी कहता है कि 'वह सांड अभी मरा नहीं है।' पता नहीं इस बात का कौन क्या मतलब निकाले। इसलिए बस।

पत्रकारिता : परम्परा

लिखने की आजादी का दुरूपयोग

डॉ. सुरेश्वर

भारतीय पत्रकारिता का जन्म उस समय हुआ जब इस धरती पर अँग्रेजों का शासन था। भारत के प्रथम समाचार-पत्र के प्रकाशन का श्रेय भी एक अँग्रेज को ही जाता है। २९ जनवरी १७८० ई. को 'जेम्स आगस्ट हिक्की' नाम के अँग्रेज ने कलकत्ता से 'बंगाल गजेट आफ कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' नामक पत्र निकाला। हिन्दी में पहला अखबार कलकत्ते से ही निकला। ३० मई १८२६ को पं. युगलकिशोर शुक्ल ने 'उदन्त मार्तण्ड' नाम से पहला हिन्दी पत्र प्रकाशित किया। परतन्त्र भारत में भारतीय पत्रकारिता के सामने सबसे बड़ा लक्ष्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष करना था। गुलामी की चक्की में पिस रही भारतीय जनता न केवल अपने मौलिक अधिकारों से वंचित थी बल्कि गरीबी, फटेहाली, रूढ़ियों, आडम्बरों, सामाजिक कुरीतियों आदि के चलते अन्याय और अत्याचार का शिकार हो रही थी। उस समय पत्रकारों, नेताओं, समाजसेवियों, साहित्यकारों आदि के सामने तमाम ऐसे विषय थे जिनमें उनके लिए अथाह सम्भावनाओं-भरे रास्ते थे। "पुराने पत्रकार अपनी मक्खन-रोटी की चिन्ता के आग्रह से पत्रकारिता से नहीं जुड़े थे, महत् जातीय अभीप्सा ने उन्हें पत्रकारिता की राह पकड़ने को प्रेरित किया था। पत्रकारिता देश-सेवा की उपयुक्त और समर्थ पंथ थी'' (भारत में हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. रमेश जैन)। "उस युग के पत्रकारों में उच्च कोटि की आदर्शवादिता थी। उन्हें अर्थ-चिन्ता अपने लिए नहीं बल्कि पत्रों के सकुशल संचालन के लिए थी और इसके चलते उन्हें प्राय: आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी। उनके सामने आर्थिक लाभ का प्रश्न ही नहीं था।'' (हिन्दी पत्रकारिता : डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र)। उस समय भारतीय पत्रकारिता का लक्ष्य कितना पवित्र और उद्देश्यपूर्ण था कि महात्मा गाँधी, पण्डित मदन मोहन मालवीय, माखन लाल चतुर्वेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बाबूराव विष्णु पराड़कर आदि लोग पत्रकारिता के माध्यम से आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे।

भारत को आजादी मिली तो भारतीय पत्रकारों के समक्ष एक नयी परिस्थिति आ खड़ी हुई। अब भारत के पत्रकारों के सामने एक ऐसा भारत था जो सदियों की गुलामी से मुक्ति पाकर पिछड़े समाज, कमजोर आर्थिक व्यवस्था, उद्योगहीन, साधनहीन समाज को आगे बढ़ाने के लिए तैयार था। अब भारत के पत्रकारों को आजादी की लड़ाई नहीं लड़नी थी, अपने देश के विकास और भ्रष्टाचार पर एक साथ नजर रखनी थी। आजाद भारत के पत्रकारों को रूढ़ियों से त्रस्त, अशिक्षित और अभावग्रस्त जनता के लिए एक नया वातावरण तैयार करना था। लम्बी गुलामी के चलते हमारा देश-संस्कार स्वाभाविक रूप से दुर्बल हो गया था। आजादी के बाद पत्रकारों के सामने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करना भी एक प्रबल लक्ष्य था। आजादी के

शुरुआती वर्षों में ऐसा हुआ भी। भारतीय पत्रकारिता अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती दिखायी दे रही थी। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया भारतीय समाज में चौतरफा ह्रास दिखाई देने लगा और इस चौतरफे पतन का प्रभाव पत्रकारिता पर भी पड़ा।

आजाद भारत में एक समय ऐसा आ गया कि पत्रकारिता समाज-सेवा के लिए नहीं पैसा कमाने के लिए जानी जाने लगी। परिस्थितियाँ इतनी विपरीत हो गयीं कि पत्रकारिता की पहले जैसी विश्वसनीयता पर सन्देह किया जाने लगा। "आज यह प्रश्न किया जाता है कि स्वाधीनता से पहले और स्वाधीनता के तुरंत बाद भारतीय पत्रकारिता का जो स्तर था, वह अब क्यों नहीं रहा। वह समय था जब पत्रकारों को बहुत थोड़ा वेतन मिलता था, लेकिन वे बहुत अधिक काम करते थे। वे जो लिखते थे उसका प्रभाव होता था, उसकी चर्चा होती थी और जब वे हट जाते थे या समाचार-पत्र बन्द हो जाता था, तो यह मालूम होता था कि पत्रकारिता में एक रिक्तता आ गयी है। आज तो सब धन बाईस पसेरी हो गया है। पहले तो, जिसके नाम से लिखा जाता है वह लिखता नहीं है और जो लिखता है उसका नाम छपता नहीं है। पत्रकारिता इस प्रकार अव्यक्त हो गयी है और पत्रकारिता का जब तक कि वह किसी विचार-धारा को, किसी उद्देश्य को या किसी लक्ष्य को व्यक्त न करती हो, प्रभाव नहीं पड़ सकता। परन्तु अब जो स्थिति बन गयी है उससे दूर नहीं हटा जा सकता, यह जरूर सोचा जा सकता है कि वे कौन से कारण हैं जिनसे आज की पत्रकारिता, विशेषकर हिन्दी पत्रकारिता, प्रभावहीन, जीवनहीन, निःस्पन्द कही जा रही है। यह भी सोचने की जरूरत है कि वास्तव में ऐसा ही है या झूठमूठ कहा जाता है। और यदि इसमें वास्तविकता का कुछ भी अंश है तो यह जानना जरूरी है कि इसका क्या कारण है जिससे वह जीवन्त पत्रकारिता, जिसने युगलकिशोर शुक्ल, दुर्गा प्रसाद मिश्र, छोटूलाल मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुकुन्द गुप्त, मदन मोहन मालवीय, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, अमृतलाल चक्रवर्ती, रुददत्त सम्पादकाचार्य, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, लक्ष्मी नारायण गर्दे, बाबूराव विष्णु पराड़कर, माधव राव सप्रे, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिशंकर शर्मा 'कविरत्न', श्री कृष्ण दत्त पालीवाल, बनारसी दास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, रामरख सिंह सहगल, बद्रीदत्त पाण्डेय, शिवपूजन सहाय जैसे कीर्तिमान और गतिवान सम्पादकों को पैदा किया, अब बन्ध्या हो गई है या आज भी हमारे पास दस-बीस ऐसे कीर्तिमान हैं जिनको हम बता सकते हैं कि हिन्दी पत्रकारिता की तेजस्विता, गतिशीलता और रचनात्मकता समाप्त नहीं हुई।" (पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य : जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी)।

आजादी के बाद पत्रकारिता में भ्रष्टाचार के आने के पूर्व इसमें अति व्यावसायिकता ने जो प्रवेश किया था, वही आगे चलकर पीत पत्रकारिता का कारण बनी। यह ठीक-ठीक बताना मुश्किल है कि भारत में पीत पत्रकारिता का प्रवेश कब हुआ क्योंकि पीत पत्रकारिता की घटनाओं को प्रकाशित करने से बचने का प्रयास किया गया है। पत्रकार या अखबार किसी पत्रकार या अखबार के भ्रष्टाचार को प्रकाशित नहीं करते थे। 'जनसत्ता' के पूर्व सम्पादक प्रसिद्ध पत्रकार श्री प्रभाष जोशी ने ७ जुलाई १९९६ को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय

भवन में 'पत्रकारिता में राजनीतिक हस्तक्षेप' विषयक गोष्ठी में अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि भारत सरकार के पूर्व केन्द्रीय मंत्री ललित नारायण मिश्र ने सबसे पहले पत्रकारों को उपहार देकर उन्हें प्रभावित करने का प्रयास किया था। श्री जोशी के अनुसार बाद में इस परम्परा को पूर्व केन्द्रीय मंत्री अर्जुन सिंह ने आगे बढ़ाया और तरह-तरह के प्रलोभन देकर पत्रकारों को अपने पथ से विचलित करने का प्रयास किया। यह बहुत ही आश्चर्य की बात लगती है कि मन्त्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, मुख्यमन्त्री, अधिकारी, कर्मचारी, शिक्षक, व्यापारी आदि के भ्रष्टाचार पर धुँआधार कलम चलाने वाले पत्रकार अपनी बिरादरी के छोटे अथवा बड़े भ्रष्टाचार को न तो प्रकाशित करते हैं और न उसे रोकने का ही प्रयास करते हैं।

भारतीय पत्रकारिता में विसंगतियों का प्रवेश पूँजीवादी व्यवस्था के प्रसार के कारण भी हुआ। भारतीय संविधान ने समाजवाद के आधार पर सामाजिक न्याय की कल्पना की थी। इसमें विरोधाभास वहाँ से शुरू हुआ जब देखा गया कि सभी बड़े समाचार-पत्रों के मालिक देश के पूँजीपति ही हैं। जो थोड़े बहुत पूँजीपति पहले अखबार नहीं निकालते थे वे भी इसके प्रभाव को देखकर बाद में अखबार निकालने लगे। इन पूँजीपतियों का उद्देश्य कोई समाज-सेवा करना नहीं था बल्कि अपने अन्य उद्योगों की रक्षा करते हुए अखबार से भी पैसा कमाना था। कुछ छोटे समाचार-पत्रों ने भी देखादेखी स्वयं को पूँजीपति घोषित कर लिया। "इसका परिणाम यह हुआ कि वे अखबार भी जो स्वतन्त्रता आन्दोलन में आगे थे, समाजवाद के आन्दोलन में पीछे हो गये और उनकी कोशिश यह रही कि जैसे भी हो, समाजवाद का नारा नारा ही रह जाये'' (पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य: जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी)। वैसे यह बात भी पूरी तरह सच है कि समाचारपत्रों के मालिक पूँजीपतियों को गुमराह करने में राजनीतिज्ञों का भी हाथ रहा है। सत्ताधारी दलों द्वारा तो समाचार-पत्र मालिकों और पत्रकारों को बहलाने फुसलाने की घटनायें कोई नयी नहीं हैं। कुछ समाचार पत्रों के मालिकों, पत्रकारों को तमाम सरकारी सुविधायें उपलब्ध कराकर उनसे अपने लिए और अपने दल के हित के लिए खबरें लिखवाना सत्ताधारियों के लिए अब पुरानी बात हो गयी है। उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव के हाथों कुछ पत्रकारों ने जिस ढंग से उपकृत होना स्वीकार किया था, यह इस प्रवृत्ति के चरमोत्कर्ष का उदाहरण है। यह प्रक्रिया बदस्तूर जारी है।

किसी भी देश में जब पत्रकारिता की बात चलती है तब 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' और 'सूचना पाने की आजादी' पर बहस जरूर होती है। हमारे देश में तो हमेशा इस बात पर बहस होती है कि किसी को भी सूचना प्राप्त करने के अधिकार से वंचित न रखा जाय। सूचना सम्बन्धी आजादी को प्राप्त करने में पत्रकारिता को एक लम्बा पड़ाव तय करना पड़ा है। ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे जब सूचना सम्बन्धी आजादी का हनन किया गया। "द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से सारी दुनिया परिचित है। करोड़ों लोग उसकी चपेट में आये, लाखों मारे गये और लगभग आधी सदी के बाद अर्थात आज तक, सम्पूर्ण संसार उसके दुष्परिणामों को भोग रहा है। क्यों हुआ था विश्वयुद्ध ? कौन सी स्थितियाँ थीं, जिन्होंने इस विनाशकारी युद्ध की आग में पूरी मानवता को झोंक दिया। कारण अनेक हैं लेकिन मूलभूत कारण यह भी था कि विश्व

में सूचना सम्बन्धी आजादी नहीं थी। इस आजादी से तात्पर्य यह है कि नैतिक दृष्टि से विश्व के सभी देशों की समस्त जनता का यह मूलाधिकार है कि वह यह जाने कि उनकी सरकारें, उनके देश व समाज के लिये और सम्पूर्ण मानवता के लिये क्या कर रही हैं। यह एक आदर्शवादी लक्ष्य हो सकता है, किन्तु इसे व्यावहारिक रूप देने से ही मनुष्य जाति विभिन्न प्रकार के अन्यायों, भेदभाव और विश्व युद्ध जैसे विनाशकारी कृत्यों से बच सकती है।

'जानने का अधिकार' लोकतंत्रीय विचार-दर्शन में 'बोलने का अधिकार' या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे मूलाधिकारों की कोटि में आता है। जनता से यदि 'जानने का अधिकार' न छीन लिया गया होता तो इटली और जर्मनी में 'फासिज्म' और 'नाजीवाद' का जन्म और प्रचार न होता, और न वे दोनों देश द्वितीय विश्वयुद्ध के सूत्रधार बनते। विश्वयुद्ध के पहले इन दोनों देशों ने अपने यहाँ सार्वजनिक चिन्तन या जनता की सोच का गला घोंट दिया था। दोनों देशों में पाशविक शक्ति का इस्तेमाल करते हुये अपने यहाँ की जनता को दूसरे देशों और जातियों के विरुद्ध नफरत की अन्धी गलियों में खदेड़ दिया गया था। बाहर के समस्त संचार माध्यमों को नियंत्रित करके अपने यहाँ के प्रेस और रेडियो द्वारा अपने नागरिकों के मन में केवल नफरत और युद्ध की नीति ठूँसी गयी।

जर्मनी की भांति इटली में भी तानाशाही ताकतों द्वारा रेलवे, बन्दरगाह, रेडियो, टेलीग्राफ और समाचार-पत्रों को या तो बन्द कर दिया गया था या अपने कब्जे में ले लिया गया। विपक्ष को जड़ से साफ कर दिया गया। आलोचना, समालोचना तक की गुंजाइश नहीं रखी गयी। विरोध का एक शब्द तानाशाही की गोलियों का आमंत्रण बन गया। जनता को न केवल देश के बाहर के समाचारों से वंचित रखा गया, वरन् उनके दिल और दिमागों में लगातार जहरीला प्रोपेगेन्डा उतारा गया। सफल तानाशाही का एक ही तरीका है- संचार और समाचार माध्यमों पर नियंत्रण, जहरीला प्रचार और उस प्रचार को स्वीकार न करने वाले को नेस्तनाबूद कर देना। इन कार्यों से तानाशाह कुछ समय के लिए शक्ति को बटोर लेते हैं। लेकिन वे इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि उनके वे काम ही उनके विनाश का कारण बनते हैं।

संचार और समाचार साधनों को नियंत्रित करने का परिणाम बेचारी जापानी जनता भी देख चुकी है। विश्वयुद्ध समाप्त होने के काफी अरसे बाद इस सच्चाई को जापानी जनता जान सकी कि अमरीकी महानगरों को तबाह करने वाली खबर कितनी झूठी थी। सच यह था कि अमरीकी महानगरों को तबाह करना तो दूर, जापानी विमान उन नगरों के निकट भी नहीं पहुँच पाये थे। यही नहीं, सबसे मजेदार बात तो यह है कि जापान के सम्राट जिस क्षण जापान की पराजय की घोषणा करने जा रहे थे, उस समय जापान की ९९ प्रतिशत जनता यह यकीन कर रही थी कि युद्ध में जापान जीत रहा है। ऐसा इसलिए था, क्योंकि उस समय जापान के समाचार-पत्रों में वही सामग्री प्रकाशित की जाती थी, जो उन्हें सरकार के सूत्रों से मिलती थी। अपने देश की जनता को कैसे भ्रामक समाचार देकर अन्धेरे में रखा जाता है इसका उदाहरण हम अमेरिका-इराक युद्ध के दौरान भी देख चुके हैं। इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन अपनी

जनता को इस मुगालते में रखते हुए कि वे अमेरिकियों के खून की नदियां बहा देंगे, युद्ध को अनिवार्य बना दिया। अमेरिका-इराक युद्ध का क्या परिणाम हुआ यह सारा विश्व देख चुका है। यदि इराक की जनता 'जानने की स्वतन्त्रता' का उपयोग करने में समर्थ होती तो शायद सद्दाम हुसैन अपनी मनमानी नहीं कर पाते।

उपरोक्त उदाहरणों से दो बातें स्वत: सिद्ध हो जाती हैं: एक–यह कि संचार और समाचार माध्यमों का स्वतंत्र होना ही अंतत: मानव समुदाय के लिए कल्याणकारी है और दूसरे–यह कि सरकार द्वारा उन पर नियंत्रण लगाना या उनका दुरुपयोग करना जनता को धोखा देने के समान है। लोकतंत्र में चूँकि 'जनता का सुख' ही सरकार का चरम लक्ष्य होता है, इसलिए तर्क, नैतिकता और वस्तुओं के स्वाभाविक औचित्य की दृष्टि से जनता की सहमति की सरकार ही एकमात्र बुनियाद हो सकती है। 'जनता की सहमति' से बनी जनता की सरकार जो भी निर्णायक कदम उठाती है, उसके बारे में यही आशा की जाती है कि वह कदम जनता की इच्छा के अनुरूप तभी हो सकता है जब उस कदम को उठाने वाले, उन स्थितियों, परिस्थितियों, घटनाओं और विचारधाराओं से पूरी तरह अवगत होंगे। इन समस्त कार्यकलापों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, लेखन की स्वतंत्रता और संचार व समाचार के स्वतंत्र साधनों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। टॉमस जैफरसन, जिन्हें सम्पूर्ण विश्व लोकतन्त्र का महानतम अधिवक्ता मानता है, ने अपने पत्र में लिखा था-"जहाँ प्रेस आजाद है और हर व्यक्ति पढ़ना चाहता है, वहाँ सब कुछ सही है, सुरक्षित है।'' उसी विचारधारा की पुन: पुष्टि करते हुए कार्लाइल ने कहा था कि- "लिखने की आजादी दो, लोकतंत्र स्वयं आ जायेगा।'' कार्लाइल की इस उक्ति में यह संकेत सन्निहित है कि पत्रकारिता, समाचार-पत्र और संचार के अन्य साधनों द्वारा लोकतंत्र का पोषण होता है, उसे बल मिलता है और इसकी सहायता से ही वह सफल भी होता है। स्पष्ट है कि जो लोकतन्त्र के लिए हितकर है, उसे तानाशाह शत्रुता की दृष्टि से देखेंगे। तानाशाही विपक्ष को बर्दाश्त नहीं कर सकती, लेकिन लोकतंत्र विपक्ष को महत्व देता है, उसे आवश्यक समझता है। समाचार-पत्र और संचार के अन्य माध्यम विचारणीय विषय पर बहस करके उसके सम्बंन्ध में अच्छे निर्णय पर पहुँचने के लिए वह मंच और मौके प्रस्तुत करते हैं, जिनके जरिए लोकतंत्रीय सरकारें आसानी के साथ यह निर्णय कर सकती हैं कि उनका कौन-सा कदम सार्वजनिक स्वीकृति प्राप्त कर सकता है।

लोकतन्त्र में जनता ही शासन और प्रशासन के कार्यों की सबसे बड़ी कैंची है और समाचार या पत्रकार उस कैंची के करतबों के उद्घोषक। विषमताएँ तब पैदा होती हैं, जब राजनीतिज्ञों पर दबाव डालकर उनकी स्वतंत्रता को अपंग बनाया जाता है। ये दबाव कई प्रकार के होते हैं। जैसे- पत्र के मालिकों को आतंकित करना या धन या विज्ञापन का लालच देना और अंतत: गुण्डागर्दी के हथकण्डे को अपनाना'' (संगीता पाण्डेय : दैनिक जागरण, १८ नवम्बर ९४)। इन सभी तरह के कृत्यों की परिणति होती है कि लोकतंत्र का चौथा खम्भा कही जाने वाली पत्रकारिता पीली पड़ने लगती है। इसका एक पक्ष यह भी है कि 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर लिखने की आजादी का दुरुपयोग किया जाता है।

भारत में पीत पत्रकारिता के तीन स्तर हैं, पहला- देश एवं प्रदेशों की राजधानियों में सत्ता के समीप रहकर होने वाली पीत पत्रकारिता, दूसरे- शहरों की पीत पत्रकारिता और तीसरे- ग्रामीण अंचलों में होने वाली पीत पत्रकारिता। देश की राजधानी दिल्ली से निकलने वाले पत्र-पत्रिकाओं को अनायास ही राष्ट्रीय होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। पूरे देश की सत्ता का केन्द्र देश की राजधानी होती है इसीलिए वहाँ सत्ता के शीर्ष पर बैठे लोग ही अधिकांश महत्वपूर्ण समाचारों के जनक माने जाते हैं। देश की राजधानी में घटी किसी भी घटना को वहाँ के समाचार पत्र जब प्रमुखता से प्रकाशित करते हैं तब उस घटना को पूरे देश में प्रमुख स्थान मिल जाता है। इसलिए देश की राजधानी में कार्यरत पत्रकारों का अपना ही स्थान होता है। इन पत्रकारों का सम्पर्क भी सत्ताधारियों से सीधे बनता है, इसलिए इससे एक ओर इन पत्रकारों को महत्व मिलता है तो दूसरी ओर उनमें से कुछ अपने इस महत्त्व का दुरुपयोग करते हैं। जब देश की राजधानी के पत्रकारों की पीत पत्रकारिता की बात की जाती है तो उसमें दोनों तरह की भावनायें कार्य करती हैं- वे किसी की स्तुति-गान करके या किसी की निन्दा करके पीत पत्रकारिता में हिस्सेदारी निभाते हैं और अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं। दूसरी ओर महत्वपूर्ण समाचार को प्रकाशित न करके भी बहुत से पत्रकार पीत पत्रकारिता में भागीदारी करते हैं। भारत में भी आजादी के बाद से ही ऐसा होता आया है कि सत्ता की कुर्सी पर बैठे किसी बड़े व्यक्ति के भ्रष्टाचार को दबाकर पत्रकारों ने अपना हित साधा है या किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की झूठी निन्दा करके किसी अन्य पक्ष से लाभ लिया है। कुछ पत्रकार तो तबादले करवाकर या रुकवा कर सीधे पैसे लेते सुने गये हैं। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी के विषय में बोफोर्स से सम्बन्धित बहुत सी खबरों की पुष्टि आज तक नहीं हो पायी है। इसी प्रकार पूर्व प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह के पुत्र का खाता सेन्ट किट्स में होने की खबरें तो छपीं मगर वह सही नहीं सिद्ध हो सकीं। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री जब मुलायम सिंह यादव थे तब अयोध्या में घटी घटनाओं को अतिरंजित करके प्रकाशित किया गया। इस तरह की घटनाओं में पत्रकार सीधे जुड़ा हो यह जरूरी नहीं, कभी-कभी वह जिस नेता को नापसन्द करता है उसकी गलतियों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करता है। इस तरह की प्रवृत्ति भी पीत पत्रकारिता के कारण आती है और भारत में इस तरह की पीत पत्रकारिता बराबर देखने को मिलती है।

पीत पत्रकारिता का दूसरा स्तर बड़े शहरों में देखने को मिलता है। ऐसे बड़े शहर जहाँ से बड़े अखबार प्रकाशित होते हैं, वहाँ के पत्रकार स्थानीय नेताओं, प्रशासनिक अधिकारियों और पुलिस अधिकारियों के सम्पर्क में रहते हैं। बड़े शहरों के जो पत्रकार पीत पत्रकारिता में संलग्न रहते हैं वे ज्यादातर नेताओं और अधिकारियों के साथ उठ-बैठ कर उनके भ्रष्टाचार पर पर्दा डालते हैं तथा उनके छोटे-से कार्य को भी बड़ी उपलब्धि बताकर समाचार प्रकाशित करते हैं। इसके बदले वे अपना तथा अपने परिचितों का कार्य कराते हैं। अधिकारियों से सम्पर्क का लाभ उठाकर कई पत्रकार नेताओं की भी सहायता करते हैं और बदले में उपकृत होते हैं। ऐसे पत्रकार जो शराब के प्रेमी होते हैं या उपहार लेना पसन्द करते हैं, वे भी अधिकारियों से

अपने सम्पर्क का लाभ लेते हैं। "संवाददाताओं का सम्पर्क पुलिस से सबसे ज्यादा दिखायी देता है, यह कुछ अनिवार्य सा हो गया है। अपने यहाँ अपराध के समाचारों के मामले में तो पुलिस पर ही निर्भर रहा जाता है या रहना पड़ता है। पुलिस से मेलजोल बढ़ाने की शुरुआत प्राय: संवाददाता की ओर से ही होती है जिससे प्रत्यक्षत: पुलिस की ही स्थिति तगड़ी कही जायेगी। अपराध-समाचारों और कुछ अन्य समाचारों के सम्बन्ध में प्रथमत: पुलिस पर ही निर्भर रहने के बावजूद संवाददाता की स्थिति कई तरह से दबाव डालने तथा निन्दा, आलोचना के लिए मुक्त रहने की होती है जिससे पुलिस वाले भी संवाददाता या उसके पत्र से कुछ डरते रहते हैं। अत: उन्हें भी संवाददाताओं को खुश रखने की गरज रहती है। कुल मिलाकर संवाददाताओं और पुलिस के बीच एक समझौते की स्थिति बन गयी है(संवाददाता: सत्ता और महत्ता, हेरम्ब मिश्र)। यह संवाददाता और पुलिस का तालमेल कहीं-कहीं पत्रकारिता के मानदण्डों को ध्वस्त करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगा रहता है और निष्पक्ष समाचारों के स्थान पर अपने मतलब की झूठी खबरें अखबारों में छपती रहती हैं।

"पुलिस अधिकारियों को या किन्हीं और महत्वपूर्ण लोगों को नाराज किये बिना, साथ ही उनके दबाव में आये बिना समाचार प्राप्त कर लेना और फिर निष्पक्षता पूर्वक प्रस्तुत कर लेना एक आदर्श साधना है, कुशलता है और एक कला भी। किन्तु स्वार्थी लोगों द्वारा इनका (साधना, कुशलता तथा कला का) परिचय देना असम्भव है। उनकी प्रकृत्ति या आदत ही इनके विरुद्ध हो जाती है। इस स्थिति में (सम्पादक के ही स्वार्थी बन जाने की स्थिति में) बेचारे संवाददाताओं से यह आशा भला कैसे की जा सकती है कि वे अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग रहकर और अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक से काम लेकर निष्पक्षता पूर्वक समाचार प्रस्तुत करके किसी कुशलता तथा कला का परिचय देंगे। यह प्रचार-प्रियता तथा स्वार्थ स्वयं पत्र के सम्पादक में हो तो राजनीतिक नेताओं और कुछ दूसरे लोगो में तो और अधिक होना स्वाभाविक है, वे संवाददाता या स्वयं सम्पादक के माध्यम से पत्र का उपयोग (दुरुपयोग) क्यों नही करना चाहेंगे ? आज तो सरकारी अधिकारी भी बड़े प्रचार-प्रिय हो रहे हैं। उन्हें प्रचारप्रिय बनाने का श्रेय स्वयं पत्रकारों को कम नही है। कुछ सरकारी अधिकारी जब स्थानांतरित होते हैं तो वे अपने पूर्वस्थान के अखबारों में प्रकाशित अपनी प्रशंसा की कटिंग लेते आते हैं (संवाददाता: सत्ता और महत्ता, हेरम्ब मिश्र)।

तीसरे प्रकार के पत्रकार ग्रामीण अंचलों के होते हैं। किसी भी अखबार की प्रसार संख्या बढ़ाने में इन आंचलिक पत्रकारों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है परन्तु सर्वाधिक शोषित, विवादित और उपेक्षित भी यही लोग हैं। आंचलिक पत्रकारिता में स्वाभाविक पत्रकारिता से जुड़ा व्यक्ति कम ही आता है। ज्यादातर इस क्षेत्र में ऐसे लोगों का ही प्रवेश होता है जो किसी न किसी धन्धे या व्यवसाय में लगे रहते हैं। कुछ छुटभैये नेता भी किसी-न-किसी अखबार से जुड़कर अपनी नेतागिरी चमकाने में लगे रहते हैं। इन आँचलिक पत्रकारों में खोजने पर शायद ही ऐसे लोग मिलें जो वास्तव में पत्रकार हैं या पत्रकारिता के किसी मानदण्ड का पालन करते हैं। इसमें ज्यादातर वही लोग होते हैं जो पत्रकारिता का नकाब लगाकर अपने को प्रतिष्ठित

होने का स्वांग करते हैं। इनकी पत्रकारिता पुलिस थानों या छोटे-मोटे अधिकारियों को डराने धमकाने के काम आती है। इसके बदले ये तमाम ऐसे कार्य करते हैं जिससे इनकी रोजी-रोटी का काम चलता है अथवा इनकी सम्पत्ति में बढ़ोत्तरी होती है। आंचलिक पत्रकारों के बारे में प्रसिद्ध पत्रकार सुरेन्द्र प्रताप सिंह ने कहा था- 'आजकल थाने के सिपाही और ग्रामीण पत्रकारों में कोई फर्क नहीं रह गया है।' सुरेन्द्र प्रताप की यह टिप्पणी बहुत ही सार्थक टिप्पणी है। बल्कि इस बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि भ्रष्ट पत्रकार थाने के सिपाही से भी गया गुजरा होता है, क्योंकि थाने का सिपाही नौकरी करता है और किसी न किसी से तो डरता ही है, ये आंचलिक पत्रकार तो शायद ही किसी से डरते हैं। अखबार मालिकों को ये प्रसार बढ़ाकर या विज्ञापन देकर प्रसन्न किये रहते हैं। इनसे न केवल पत्रकारिता बदनाम होती है बल्कि आम आदमी से लेकर नेता, अधिकारी, व्यवसायी आदि इनसे त्रस्त रहते हैं। इन पत्रकारों द्वारा भेजी खबरों का सत्य से कोई सरोकार होता भी है, कम देखने को मिलता है। ज्यादातर खबरें ये अपने मनमाफिक बनाकर भेजते हैं।

भारत में पत्रकारिता को भ्रष्ट करने के लिए सरकारें भी कम दोषी नहीं हैं। एक तरफ तरह-तरह के प्रलोभन तो दूसरी तरफ भय दिखाकर वे समाचारों को अपने पक्ष में कराने का प्रयास करती हैं। १९८६ में इन्डियन एक्सप्रेस से सम्बन्धित एक मुकुदमे के फैसले में न्यायमूर्ति वेंकट रामैया की एक टिप्पणी से स्थिति कुछ समझी जा सकती है। न्यायमूर्ति ने कहा- "आज की दुनिया में प्रेस की स्वतंत्रता सामाजिक और राजनैतिक जीवन का हृदय बन गयी है... प्रेस का ध्येय तथ्य और विचार प्रकाशित कर जनहित को प्रोत्साहन देना है। ऐसा न हो तो मतदाता किसी बुद्धिमत्तापूर्ण निष्कर्ष पर नही पहुँच सकेंगे। समाचार-पत्र प्रशासन के बारे में खबरें और टिप्पणियाँ छापते हैं और अक्सर वह सामग्री सरकार और अधिकारियों को अच्छी नहीं लगती है। सरकार की गतिविधि के दोष उजागर करने वाले लेखकों को सरकार की आलोचना करनी पड़ती है, इससे सत्ताधारियों को न केवल परेशानी होती है बल्कि उनकी कुर्सी को खतरा पैदा हो जाता है। सरकार अलग-अलग प्रकार से ऐसे अखबारों को दबाना चाहती है जो उनकी आलोचना करते हैं। संचार के विभिन भागों में सरकार ने प्रेस पर नियंत्रण रखने के लिए अलग-अलग उपाय अपनाये हैं। एक उपाय प्रेस को खुश रखना है। गुप्त रूप से धन देना, खुले रूप से अनुदान देना, जमीन देना, डाक महसूल में रियायत, सरकारी विज्ञापन, सम्पादकों और मालिकों को सम्मानित करना, उन्हें मन्त्रिमण्डल में शामिल करना आदि प्रेस पर प्रभाव डालने के तरीके हैं। दूसरा उपाय प्रेस को दबाना है। सेन्सरशिप लगाना, जब्ती या अखबारों से जमानत माँगना, उनके वितरण में रुकावट डालना, उनके दाम; पृष्ठों की संख्या या विज्ञापनों के अनुपात पर नियंत्रण रखना, डाक की दर बढ़ाना, अखबारी कागज का दाम बढ़ाने के उद्देश्य से उसका आयात एक ही संस्था के जरिये कराना आदि उपायों से सरकारों ने प्रेस की स्वतंत्रता पर प्रहार करने का प्रयास किया है। समाचारों के खुले प्रसारण में खलल डालने वाले इन तरीकों को रोकने के लिए और विचार-स्वातंत्र्य बनाये रखने के लिये विश्व में जहाँ कहीं लोकतंत्र है, वहाँ सरकार के हस्तक्षेप की सीमा निर्धारित की गयी है। इसीलिए देश के

सभी न्यायालयों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस स्वतंत्रता की रक्षा करें और ऐसे सभी उपाय निरस्त करें जिनमें इस स्वतंत्रता में अवरोध होता है, और जो संविधान के विरुद्ध है''(पत्र, पत्रकार और सरकार: काशी नाथ गोविन्द जोगलेकर)।

पत्रकारिता में पतन के लिए वे कारण भी जिम्मेदार हैं जिनके चलते पत्रकार या सम्पादक होने के लिए कोई डिग्री या मानदण्ड निर्धारित नहीं किये गये हैं। सम्भवतः पत्रकार बनना हमारे यहाँ बायें हाथ का खेल समझा जाता है और है भी। अखबार मालिक ने जिस पर नजर घुमा दी वह पलक झपकते ही पत्रकार बन जाता है। कुछ लोग स्वयं को ही पत्रकार घोषित कर लेते हैं और उनके दावे को गलत सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं सूझता। आज पत्रकार बनने के लिए, विशेष रूप से सम्पादक बनने के लिए किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं है। कितनी बड़ी बिडम्बना है कि एक प्राथमिक स्कूल का मास्टर बनने के लिए तो योग्यता निर्धारित की गयी है, लेकिन सम्पादक या पत्रकार बनने के लिये किसी प्रकार की योग्यता निर्धारित नहीं की गयी। इसी प्रकार समाचार-पत्रों का प्रकाशक या मुद्रक बनने के लिए योग्यता निर्धारित नहीं की गयी। इसका परिणाम यह हुआ है कि ऐसे लोगों का 'प्रेस' में बाहुल्य है जो वास्तव में न पत्रकार हैं, न सम्पादक। उनकी आय के साधन ही नहीं उनकी मुख्य जीविका भी कहीं दूसरे क्षेत्र से चलती है। इन्हीं बुराइयों ने देश में पीत-पत्रकारिता को जन्म दिया है। भाषाई समाचार-पत्रों के पास मुद्रण, प्रकाशन, सम्पादन और सम्पादकीय प्रशिक्षण की एवं समाचार-संकलन की अच्छी सुविधाओं का यह अभाव क्यों है ? इस पर भी विचार होना चहिये। भले ही इसके कारण कुछ भी हों पर इससे कौन इन्कार करेगा कि सुविधाओं के अभाव ने पत्रकारिता के विकास को अवरुद्ध कर दिया है। पत्रकारिता में तरह-तरह के दबावों के कारण पत्रकार को तटस्थ रहकर निष्पक्ष समाचार प्रस्तुत करने में परेशनियों का सामना करना पड़ता है। प्रसिद्ध साहित्यकार और 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव ने लिखा है- "पत्रकारिता के क्षेत्र में तटस्थ होना भी एक नीति है, राजनीति है। सामग्री के प्रस्तुतिकरण से लेकर उसकी व्याख्याओं तक सारे सरकारी और गैर-सरकारी माध्यम तटस्थ होने के दावे या प्रतिज्ञायें चाहे जितनी करते रहें, अन्दर जो कैंची और छुरियाँ चलती हैं, हम सब जानते हैं। जरा भी कुछ गलत हो गया तो सरकारी अफसर को सफाइयाँ, लताड़ और स्थानान्तरण झेलने होते हैं और गैर सरकारी को नौकरी से मुक्ति। नतीजे में भय और आतंक की असुरक्षाओं में रहना वहाँ स्वभाव बन जाता है। बड़ी या अस्थायी नौकरियाँ हैं, कल को अगर पटरी पर आना पड़ा तो क्या होगा ? भय व्यक्तित्व को मारता है और आप अपने कोने झाड़कर व्यवस्था का पुर्जा बनते जाने में ही सुरक्षा खोजने लगते हैं, ऊपर से दिये गये 'अंकुश' या 'सैंसर' को अपने लिये दुगुना, चौगुना कर लेते हैं : मालिक के कल्पना विहीन विस्तार-पात्र बन जाते हैं। जिन बातों को ऊपर नीचे कहीं भी आपत्तिजनक नहीं माना जाता, वे भी आपको डराने लगती हैं। स्थिति की दयनीयता पत्रकारों में सबसे ज्यादा दर्शनीय है-क्योंकि सरकारी तंत्र में एक विशेष प्रकार की बराबरी और सुरक्षा है''(कांटे की बात: राजेन्द्र यादव)।

पत्रकारिता में भ्रष्टाचार या पीत-पत्रकारिता के कुछ प्रमुख कारण हैं-संरकार, अखबार

मालिक और अयोग्य तथा स्वार्थी पत्रकार। सरकार प्रलोभनों और दबावों से पत्रकारों को लक्ष्य से भटकाती है, मालिक का अपना स्वार्थ जुड़ा होने के कारण वह निष्पक्ष पत्रकारिता को दरकिनार करता है तो अयोग्य तथा स्वार्थी लोग पत्रकार बनकर पीत पत्रकारिता को बढ़ावा देते हैं। पीत पत्रकारिता को बढ़ाने का एक अपरोक्ष कारण बेरोजगारी भी होती है। नौकरी न मिलने के कारण हताश और उपेक्षित लोग पत्रकार ही बनना पसन्द करते हैं- "जो लोग आदर्शोन्मुखता और योग्यता से अपना पत्रकार व्यक्तित्व नहीं बना सके हैं, वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि लोग उन्हें पत्रकार कहते हैं और कुछ सम्मान का भाव दिखाते हैं। इनमें से कुछ लोग ऐसे भी देखे गये हैं जो बड़े लोगों के सम्पर्क में आकर उनकी सेवा में पत्र का उपयोग करने की स्थिति में नहीं होते–प्रधान सम्पादक, समाचार सम्पादक, स्थानीय समाचार सम्पादक या साहित्य-सम्पादक जैसे कुछ खास स्थानों पर न होने के कारण। ऐसे लोग बडे लोगों तथा अपने पत्र के सम्पादक-मण्डल के इन खास-खास व्यक्तियों के बीच एक कड़ी बन जाते हैं, यानी बड़े लोगों से अन्य पत्रकारों का सम्पर्क कराने वाले हो जाते हैं। ऐसे लोगों को पत्रकार-सप्लायर कहा जा सकता है, ये लोग अपना तो कोई व्यक्तित्व नहीं बना पाते, औरों के व्यक्तित्व को भी बिगाड़ देते हैं। कुछ पत्रकार अपने व्यक्तित्व का ख्याल करके इस तरह के सम्पर्कवाद से दूर रहना चाहते हैं, उनके प्रति हमदर्दी दिखलाते रहकर, अन्त में उनकी आर्थिक विवशताओं का लाभ उठाकर, उन्हें भी घसीट लिया जाता है, किसी नेता (अपने स्वामी) से 'ओवलाइज' करा दिया जाता है, पथभ्रष्ट कर दिया जाता है''(पत्रकारिता संकट और संत्रास: हेरम्ब मिश्र)।

भारतीय पत्रकारिता में सरकारी सहायता के चलते तरह-तरह के दबाव झेलना कोई नयी बात नहीं है। जिस समय भारत में हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' निकला, उस समय अँग्रेजी पत्रों को सरकारी सहायता प्राप्त होती थी। 'उदन्त मार्तण्ड' के सम्पादक पंडित युगुल किशोर शुक्ल भी सरकार से सहायता पाने को उत्सुक थे, परन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। उन्होंने 'उदन्त मार्तण्ड' के अन्तिम सम्पादकीय में लिखा- "सरकार कम्पनी महाप्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया- पै करम की रेख कौन मेटे''(हिन्दी पत्रकारिता: डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र)। अंग्रेजों के समय से ही सरकारी दबाव झेल रही भारतीय पत्रकारिता को आजादी के बाद भी उससे मुक्ति नहीं मिली और गुलामी के खिलाफ एक मिशन की तरह कार्य करने वाली पत्रकारिता को सरकार ने भ्रष्ट करने में कोई कोर-कसर बाकी नही छोड़ी। सरकार की इस ढुलमुल नीति के कारण ही तमाम ऐसे अखबारों को भारी सुविधायें प्राप्त होती रहीं, जिनका उद्देश्य जनता को शिक्षित करना, जागरूक करना नहीं बल्कि अपनी आय बढ़ाना होता है। वे प्रेम, हत्या तथा अन्य अपराधों के उत्तेजनापूर्ण और सनसनीखेज समाचार प्रकाशित करते हैं और इस प्रकार मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों को जगाकर अपनी घृणित स्वार्थ-पूर्ति करते हैं। इससे मानव-प्रकृति का पतन होता है न कि उत्थान और उदात्तीकरण। जनशिक्षा में उन्हें कोई रुचि नहीं होती और न उनका यह उद्देश्य ही होता है। वे मानव-प्रकृति की कमजोरियों

से अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हैं''(हिन्दी पत्रकारिता: डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र)।

आजादी के बाद भारत में खासकर हिन्दी पत्रकारिता में जो पतन का मार्ग बना उसके प्रति तत्कालीन पत्रकारों को और कुछ प्रसिद्ध समाजसेवियों को भारी चिन्ता सताती रही। वे यह देख रहे थे कि किस प्रकार पत्रकारिता अपना स्वच्छ मार्ग बदलकर पीले मार्ग को अपनाने लगी है। हिन्दी पत्रकारिता के युग-पुरुष पं. बाबूराव विष्णु पराड़कर ने आने वाले समय में पत्रकारिता की शोचनीय स्थिति का अन्दाजा लगा लिया था, तभी तो उन्होंने लिखा है- "भावी हिन्दी समाचार पत्रों में ऐसा ही होगा। पत्र निकालकर सफलतापूर्वक चलाना बड़े-बड़े धनियों अथवा सुसंघटित कम्पनियों के लिए ही समभव होगा। पत्र सर्वांग सुन्दर होंगे। आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, मनोहर, मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक चित्रों से सुसज्जित होंगे, लेखों में विविधता होगी, गम्भीर गवेषणा की झलक होगी। और मनोहारिणी शक्ति भी होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जायेगी, यह सब कुछ होगा पर पत्र प्राणहीन होंगे, पत्रों की नीति देशभक्त, धर्मभक्त अथवा मानवता के उपासक महाप्राण सम्पादकों की नीति न होगी- इन गुणों से सम्पन्न लेखक विकृत मस्तिष्क समझे जायेंगे, सम्पादक की कुर्सी तक उनकी पहुँच भी नहीं होगी। वेतन भोगी सम्पादक मालिक का काम करेंगे और बड़ी खूबी के साथ करेंगे। पर आज भी हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है वह उन्हें न होगी।'' तात्पर्य यह है कि पराड़कर जी को यह आभास हो गया था कि आजाद भारत में पत्रकारिता धीरे-धीरे पतन की ओर चली जाएगी। उनकी आशंका सच ही थी कि साज-सज्जा की दृष्टि से पत्रों में सुधार तो होगा परन्तु सेवा, आदर्श और सिद्धान्तों का लोप हो जायेगा।

पत्रकारिता में जिसे अपनी मनमानी करनी होती है वह एक शब्द का सहारा लेता है- 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता'। इस स्वतंत्रता के नाम पर पत्र और पत्रकार कभी-कभी नैतिकता को रौंद डालते हैं। चरित्र-हनन, कीचड़ उछालना, वर्ग विद्धेष की आग भड़काना आदि के रूप में पीत पत्रकारिता प्रकट होती है। इससे किसी पत्र, वर्ग या किसी पत्रकार के स्वार्थों की सिद्धि अल्पकाल के लिए भले ही हो जाये लेकिन वे अपने व्यापक सामाजिक उत्तरदायित्व की अवहेलना ही करते हैं। इसी प्रकार व्यावसायिकता के नाम पर चटपटी सामग्री देते-देते या जनरुचि के पीछे चलते-चलते पत्रकार जब श्लील-अश्लील का भेद भूल, शालीनता के मानदंड पीछे डाल देता है तो वह समाज की व्यापक हानि करता है''(पत्रकारिता के विविध रूप: रामचन्द्र तिवारी)।

आज पूरी दुनिया में पत्रकारिता का जो महत्व है और लोकतांत्रिक तथा विकासशील देशों में पत्रकारिता की जो भूमिका है, यह ध्यान देने पर बात समझ में आ सकती है कि भारत जैसे विकासशील, लोकतांत्रिक देश में पत्रकारिता जन-जन की जरूरत और उनकी आवश्यकता के रूप में स्थापित हो चुकी है। भारतीय लोकतांत्रिक सत्ता में में बड़े-बड़े भ्रष्टाचारों और घोटालों का पर्दाफाश करके पत्रकारिता ने लोकतन्त्र को ताकत दी है परन्तु उसी क्रम में यह भी बात सामने आयी कि भारत में पत्रकारिता बेलगाम होती जा रही है। पत्रकारों को किसी

आचार संहिता में अभी तक बांधा नहीं जा सका है। वे स्वच्छन्द होकर कुछ भी लिखते और करते रहते हैं। यह सब 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' के नाम पर होता है। इस स्वतंत्रता की आड़ में बहुत से पत्रकार और अखबार तथ्यों से खिलवाड़ करते हैं और पत्रकारिता को बदनाम करते है। कुछ लोगों का मानना है "भारतीय समाज में गिरावट के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार भ्रष्ट पत्रकार ही हैं।"(काशी प्रतिमान: १ से १५ अगस्त ९३)। कारण भी स्पष्ट है। पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा का स्तम्भ कहा गया है। लोकतंत्र के बाकी तीनों खम्भों की चौकसी करने की जिम्मेदारी पत्रकारिता पर है, इसलिए जब कुछ पत्रकार अपनी जिम्मेदारी का पालन न करके अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं तो लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। "नागरिक के विरुद्ध सरकार जब कोई ज्यादती करती है तो वह अखबार की शरण लेता है परन्तु अगर अखबार ही अन्याय करे तो नागरिक असहाय हो जाता है। दण्ड संहिता की परिभाषा में न आने के कारण इस प्रकार की शिकायत लेकर वह अदालत में नहीं जा सकता है। प्रेस परिषद संभवतः समाचार पत्र को चेतावनी दे या उसकी भर्त्सना करे, पर तब तक नागरिक का नुकसान हो चुका होता है''(पत्र, पत्रकार और सरकार: काशी नाथ गोविन्द जोगलेकर)। इस नुकसान की जिम्मेदार भ्रष्ट पत्रकारिता ही होती है परन्तु इसकी जिम्मेदारी भी लेने वह बचती रहती है।

भारत में पत्रकारों को खरीदने, पत्रकारिता को तरह-तरह के दबावों से घेरने की शुरुआत कब से हुई, यह भले ही अतीत में कहीं खोया हुआ जान पड़े परन्तु भारतीय पत्रकारिता का वर्तमान बहुत सन्तोषजनक नहीं है। इस वर्तमान से पत्रकारिता के जिस भविष्य की कल्पना की जा सकती है, वह भी बहुत निराशाजनक है। पिछले दिनों उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्य मन्त्री मुलायम सिंह यादव ने जिस ढंग से पत्रकारों को खरीद कर समाचारों को प्रभावित करने में सफलता पायी वह लिखने की आजादी के संभावित खतरे की ओर स्पष्ट संकेत करता है। दूसरी ओर कांशीराम जैसे नेता यह समझने लगे हैं कि पत्रकार यदि प्रलोभन से नहीं मानते तो उन्हें पीट-पाटकर 'सही' किया जा सकता है। यहाँ 'सही' होने का मतलब यही है कि पत्रकार वही लिखें जो नेता चाहें। सच लिखना अब किसी को स्वीकार्य नहीं हो पा रहा है। बात चाहे पत्रकारों के प्रलोभन में आने की हो, चाहे दबाव में, सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि यदि पत्रकार लिखने की आजादी का सही इस्तेमाल करें तो न मुलायम सिंह जैसे लोग उन्हें खरीद सकते हैं और न कांशीराम जैसे लोग दबाव में ला सकते हैं। विदेशी पूँजी के भारत में प्रवेश के बाद पत्रकारों को सुविधाओं की चकाचौंध से घेर लिया गया है। अब नये पत्रकार के मन में कहीं भी सेवा की भावना नहीं होती बल्कि येन-केन-प्रकारेण पैसा जुटाना ही उसका प्रमुख लक्ष्य होता है। इस क्रम में पत्रकारों में सत्ता के निकट जाने की होड़ लगी रहती है जो पत्रकारिता के लिए कहीं से भी शुभ सिद्ध नहीं हो सकती। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए भी कुछ कड़े उपाय उठाने होंगे। जितने भी आदर्शवादी और प्रभावशाली पत्रकार मौजूद हैं हमारे देश में उन्हें इस ओर गम्भीरता से ध्यान देना होगा तभी बात बन सकती है।

पत्रकारिता : परम्परा

भारतीय संस्कृति और मौजूदा हिन्दी पत्रकारिता

डॉ. इरावती

वर्तमान सांस्कृतिक संकट के समय पत्रकारिता जैसे महत्वपूर्ण 'बल' के उत्तरदायित्व पर दृष्टिनिक्षेप अत्यन्त स्वाभाविक है। समाचार-पत्र जिन्हें जल, थल, और वायु के उपरांत चौथा 'बल' माना जाता है और जो क्रान्तियाँ करवा सकता है, रुकवा सकता है, जो शताब्दियों से चली आयी पराधीनता की धारा बदल सकता है वही 'बल' कुछ प्रश्न छोड़ जाता है।

हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास बहुत प्राचीन तो नहीं किन्तु दैदीप्यमान अवश्य है और इसी से इस नवीन और सप्रयास आयातित समस्या से जूझने के लिए भारतीय संस्कृति से प्रेम करने वाले लोग हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के मुखापेक्षी हों तो अस्वाभाविक क्या है। हिन्दी पत्रकारिता का जन्म १८२६ ई. में श्री जुगल किशोर शुक्ल के 'उदंत मार्तण्ड' से हुआ, जिसकी पृष्ठभूमि में यह आशा थी कि हिन्दी भाषा से प्रेम, राष्ट्र-प्रेम को जन्म देगा। इस समय हिन्दी राष्ट्रभाषा पद से कोसों दूर थी, पर राष्ट्रीय चेतना और अस्मिता को हिन्दी से जोड़ने की एक प्रवृत्ति का उदय अवश्य हो गया था। 'उदंत मार्तण्ड' की ही परपंरा के अनेक हिन्दी पत्रों में उल्लेखनीय है- कालाकांकर के राजा रामपाल सिंह द्वारा प्रकाशित पहला हिन्दी दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान'। यद्यपि १८७६ ई. में कलकत्ते से बाबू श्यामसुन्दर सेन ने 'समाचार सुधार वर्ष' निकाला था जिसमें बँगला के साथ हिन्दी में भी कुछ पृष्ठ छपते थे और वाराणसी से राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने 'बनारस गजट' या 'बनारस अखबार' भी प्रकाशित किया था किन्तु भाषा की दृष्टि से 'हिन्दोस्थान' ही पूर्ण हिन्दी समाचार-पत्र था। वस्तुत: हिन्दी पत्रकारिता का विकास भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और इस आन्दोलन से जुड़ी राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के क्रमिक विकास के साथ जुड़ा है और उसने भी वे सभी उतार चढ़ाव सहे हैं जो राष्ट्रीय आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर गरण को समय-समय पर झेलने पड़े हैं। हिन्दी पत्रकारिता तो उत्तर भारत के लिए अपने रा ;, अपनी संस्कृति के पहचान का पर्याय थी–यह चेतना केवल उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान जैसे हिन्दी भाषी क्षेत्र की ही नहीं थी वरन् इसमें बंगला, हिन्दी, पंजाबी तथा वे सभी संस्कृतियाँ किसी न किसी रूप से जुड़ी थीं जिन्हें सम्मिलित रूप से इस देश की संस्कृति कहते हैं। संभवत: यही कारण था कि राजा राममोहन राय ने समाज सुधार के प्रयत्न आरंभ किये तो उन्होंने 'बंगदूत' को हिन्दी में भी छापने की योजना बनाई, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि उत्तरी भारत में कोई भी आन्दोलन तभी सफल होगा जब उसे हिन्दी के माध्यम से व्यक्त किया जाए। हिन्दी उस समय भारतीय स्वातंत्र्य की प्रतीक हो रही थी और उसे इस पद की योग्यता दिला रहे थे, हिन्दी दैनिक और साप्ताहिक पत्र। इसी से हिन्दी पत्रकारिता संकीर्ण मनोवृत्तियों की बन्दी नहीं बनी, भले ही उसका प्रसार सीमित रहा हो और

उसके साधन अल्प रहे हों, उसका मनोबल सदा ऊँचा ही रहा। देश और संस्कृति के लिए बलि चढ़ने वालों की परंपरा का उसने स्वागत किया, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दी पत्रों की भूमिका राष्ट्रनेताओं और कार्यकर्ताओं की समकक्ष हुई।

कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत मित्र' पहला राजनैतिक पत्र कहा जा सकता है। कलकत्ते की इस हिन्दी पत्रकारिता ने पत्रकारिता को विदेशी शासन के प्रतिरोध के अस्त्र के रूप में विकसित किया। 'भारत मित्र' केवल समाचार-पत्र ही नहीं रह गया था, वह कुरीतियों और कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष का प्रतीक बन गया था। इसी दैनिक ने 'रुई का जुआ' (सट्टा) उठवाया और कुली प्रथा का अन्त भी करवाया। 'भारत मित्र' के सम्पादक श्री बालमुकुन्द गुप्त के लेखों के अँग्रेजी अनुवाद तत्कालीन वायसराय लॉर्ड कर्जन प्रतिदिन देखते थे और उसके उपयुक्त आचरण करते थे- हिन्दी पत्र की सशक्तता का यह प्रमाण है।

वाराणसी की पत्रकारिता राष्ट्रीय हित के साथ सांस्कृतिक उन्नयन को भी लक्ष्य मान कर चली थी। भारतेन्दु बाबू के युग के साथ पत्रकारिता के जिस नये युग का सूत्रपात हुआ उसके साथ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, सामाजिक समस्याओं से जूझना, जैसे–स्त्री जागरण, भी सम्मिलित था–'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'बाला बोधिनी' इसके प्रमाण हैं। द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ने भी पत्रकारिता के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन के उद्देश्य को ही पुष्ट किया।

गाँधी जी के युग का धर्म था- देश की स्वतंत्रता के लिए सत्य एवं अहिंसात्मक आन्दोलन, और इस युगधर्म को हिन्दी पत्रकारिता ने युग-क्षेम के लिए 'स्वधर्म' बना लिया। शिव प्रसाद गुप्त द्वारा संस्थापित 'आज', पं. माखनलाल चतुर्वेदी के 'कर्मवीर', गणेश शंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' हिन्दी पत्रकारिता के इसी उत्तरदायित्व-वहन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'हरिजन' के द्वारा स्वयं गाँधी जी ने देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन कर दिया था।

स्वतंत्रता पूर्व की हिन्दी पत्रकारिता इस बात का परिचायक है कि हिन्दी पत्रकारिता ने युग की माँग को सदा पहचाना और लेखनी की शक्ति का सही उपयोग कर जनमानस को आन्दोलित किया, उसे दिशा दी, अर्थात् हिन्दी पत्रकारिता ने बहुमुखी जनजागरण को अपने जन्मकाल से अपना लक्ष्य बनाया और भविष्य के लिए एक आदर्श, एक रूपरेखा निश्चित कर दी।

इस सन्दर्भ में 'हिन्दू पंच' का बलिदान अंक (पं. ईश्वरी प्रसाद शर्मा द्वारा संपादित, साप्ताहिक, जनवरी १९३०) आज भी एक आलोक-स्तम्भ की तरह है। इसके चतुर्भुज स्वरूप की एक भुजा 'प्राचीन भारत के बलिदान', दूसरी भुजा 'मध्यकालीन भारत के बलिदान', तीसरी भुजा 'वर्तमान भारत के बलिदान' और चौथी भुजा 'विदेशों में बलिदान' की ओर फैली है। 'प्राचीन भारत के बलिदान' में हमारी सांस्कृतिक परम्परा का प्रवाहधर्मी स्वर सुनाई पड़ता है। राजा बलि और वामन, शरणागत रक्षक राजा शिबि, तपस्वी श्रेष्ठ दधीचि, सत्याग्रही प्रह्लाद, सीता का पाताल-प्रवेश, जटायु का आत्म-बलिदान, भीष्म-प्रतिज्ञा, एकलव्य की अंगूठा-दक्षिणा

आदि के प्रसंग भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के उदात्त महाभाव को निरूपित करते हैं, जिसमें 'पर' अथवा 'समूह' के लिए 'स्व' अथवा 'आत्म' का अर्पण सर्वथा सहज कृत्य है। 'मध्यकालीन भारत के बलिदान' में इतिहास के प्रेरणा-पुरुषों यथा प्रताप सिंह, रामदास और शिवाजी, राजा संग्राम सिंह, महारानी लक्ष्मी बाई, महारानी पद्मिनी, वीर धात्रि पन्ना, गदर का पहला विरोधी सिपाही मंगल पाण्डेय, तांतिया भील, गुरु अर्जुन देव और तेग बहादुर, बिहार-केसरी बाबू कुंअर सिंह आदि की मार्फत बलिदान-भावना का ऐतिहासिक और प्रेरक आधार निर्मित किया गया है। 'वर्तमान भारत के लिए' भाग में पश्चिमी राष्ट्रवाद की साम्राज्यवाद-विरोधी प्रतिमा खड़ी की गयी है। रामप्रसाद बिस्मिल, मास्टर अमीर चन्द्र, असफाक उल्ला खाँ, राजेन्द्र नाथ लाहिड़ी, रासबिहारी बोस, लाला हरदयाल, मदनलाल ढींगरा, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द, यतीन्द्र नाथ दास आदि की बलिदानी क्रान्तिकारिता ऊर्जा-संचार कर किसी भी भारतीय को बलिदानोद्यत करने में सक्षम है। बलिदान अंक के चौथे भाग में सुकरात, ईसा मसीह, जोन ऑफ आर्क, सनयात सेन, कार्ल मार्क्स, लेनिन आदि और संसार के राजनीतिक कैदियों पर केन्द्रित लेख उपनिवेशवाद के आतंककारी चरित्र को रेखांकित करने के साथ जन-मन को प्रतिरोध-क्षमता से संपन्न करने में सक्षम हैं। 'चांद' के 'फांसी अंक' के बाद प्रकाशित 'हिन्दू पंच' का 'बलिदान अंक' भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी पत्रकारिता के अविस्मरणीय योगदान का ज्वलन्त दस्तावेज है। अपनी ऐतिहासिक भूमिका के अतिरिक्त आज की पत्रकारिता के समक्ष यह इस दृष्टि से भी एक मानक और आदर्श के रूप में स्थित है कि पत्रकारिता केवल सम-सामयिक घटना से बंधी रहकर ही नहीं बल्कि अपनी परम्परा और संस्कृति में जड़ें रोपकर जनोद्बोधन समर्थ हो सकती है और देश-समाज की हकीकत को प्रतिबिम्बित करने का अपना कार्यभार बेहतर ढंग से पूरा कर सकती है।

हिन्दी पत्रकारिता के सम्मुख वर्तमान युग में अब पहले से कहीं अधिक जटिल और कठिन उत्तरदायित्व 'सुरसा' सा मुख खोले खड़े हैं। पहले समस्याएँ विदेशीशासन-जनित थीं किन्तु अब स्वशासन-जनित हैं, अब संघर्ष शत्रु से नहीं अपने ही बन्धुओं और अपनी ही संस्कृति के अपसंस्कृति बनने की विवशता से है। वर्तमान युग स्वातंत्र्य पूर्व का युग नहीं है न वैसे उदात्त आदर्श हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम प्रहर में जिस चिन्तन से भारत ही नहीं पूरा विश्व अनुप्राणित था उसके केन्द्र में मनुष्य को ही रखने का आग्रहपूर्ण प्रयास था। स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व की अवधारणा से विश्व आन्दोलित था, जिससे दो महायुद्धों के उपरांत भी अनेक राष्ट्रों ने स्वतंत्रता प्राप्त की, अनेक देशों में शोषक सत्ता के विरुद्ध क्रान्तियाँ हुई और 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के रूप में विश्व-बंधुत्व का एक प्रतीक स्थापित हो सका। मार्क्सवाद ने पूँजीवादी व्यवस्था को अपने एकाधिकार की सर्वस्व-ग्रासी मनोवृत्ति को परिवर्तित करने को विवश किया और मनुष्य की स्वतंत्रता का हरण करने की लिप्सा के प्रतीक साम्राज्यवाद के विरोध में जनतांत्रिक शासन पद्धति की ओर आकर्षण में वृद्धि हुई- यह वैचारिक क्रान्ति पिछली शताब्दी की वैचारिक पृष्ठभूमि का परिणाम थी। किन्तु बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मनुष्य की अस्मिता को ही आमूल ग्रास बनाने की आशंका बलवती हो गई है। उपभोक्तावाद

ने शनैः शनैः मनुष्य को भी उपभोग्य वस्तु में परिवर्तित कर दिया है। पूरा विश्व एक वृहद् बाजार बनता जा रहा है, जहाँ क्रय-विक्रय का उद्देश्य मात्र आर्थिक लाभ है। इस अर्थतन्त्र या अर्थदर्शन की कारा में संस्कृति मात्र बन्दिनी बन गई है। इस अर्थतन्त्र ने भारत को भी राहु की तरह ग्रास बनाना प्रारम्भ कर दिया है। दुर्भाग्य यह है कि यह विवशता हमारी अपनी आयातित या कहें निमन्त्रित विवशता है। इस विवशता ने हमारी सांस्कृति चेतना और चिन्तन की धारणा को ही कुन्ठित और शुष्क करना प्रारंभ कर दिया है। अर्थनीति की उदारता और दूरदर्शन में विदेशी चैनलों की भरमार ने धीमे-धीमे भारतीय संस्कृति की जड़ों को छूना प्रारम्भ किया है। इस संस्कृति की आध्यात्मिक शीलपरक सुगन्ध को भौतिकता आमूल आक्रान्त कर रही है। पूँजीवाद का लक्ष्य है, अधिक से अधिक उत्पादन और परिणामतः अधिकाधिक आर्थिक लाभ। इस लक्ष्य की उपलब्धि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की यथाशक्ति वृद्धि से ही हो सकती है क्योंकि बाजार मनुष्य ही उपलब्ध कराता है। अतः स्वाभाविक है, आध्यात्मिक उदात्तता की विलुप्ति और भौतिकता की अभिवृद्धि। इसी प्रवृति का परिणाम है कि बाजार पर नियन्त्रण कर लेने के बाद अर्थतंत्र मनुष्य को ही तोलने लगा है। पूँजीवादी अर्थतंत्र और साम्यवादी अर्थतंत्र दोनों ने ही अर्थ की सत्ता को ही केन्द्र माना था—मार्क्सवाद ने भी मनुष्य को अर्थतन्त्र का अनिवार्य पुर्जा बता कर भौतिक आकांक्षाओं को ही जगाया था। अतः ये दोनों ही अर्थ की सत्ता को प्रधान मान, मनुष्य को उसकी ही परिधि में घूमने वाला प्राणी समझते रहे हैं, जब कि भारतीय संस्कृति में अर्थ एक पुरुषार्थ है—जीवन के चार लक्ष्यों में एक। परन्तु इन चारों पुरुषार्थों में धर्म मुख्य आधारभूमि है और मोक्ष परम लक्ष्य। इन दो ध्रुवों के मध्य ही अर्थ और काम की साधना और उपलब्धि सम्भव है—दो योग भूमियों के मध्य भोगभूमि—धर्म की मर्यादा में ही अर्थोपार्जन है, मर्यादा में ही कामवृद्धि। ये संयत, नियंत्रित धर्म से मर्यादित अर्थ और काम मोक्ष के परम लक्ष्य के सोपान हैं, क्योंकि अर्थ और काम की कारा बंधन न उत्पन करे इसी से उसे धर्म द्वारा मर्यादित किया गया है जिससे मोक्ष के लिए आवश्यक निर्वेद और त्याग के धरातल पर पहुँचना सरल हो। इन चार पुरुषार्थों का आदर्श मनुष्य में भौतिक आकर्षणों के निरोध की क्षमता उत्पन्न करता है। भारतीय संस्कृति की यह आध्यात्मिक दृष्टि मनुष्य को भौतिक जगत में रह कर भी, पंक में कमलवत्, भौतिक नहीं बनने देती है। भारत में त्यागते हुए भोगने का आदर्श है- 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा।' किन्तु वर्तमान तथाकथित विश्वसंस्कृति जो उपभोक्तावादी अपसंस्कृति ही है, इस उदात्त संस्कृति को आक्रान्त कर रही है-धीमी किन्तु सधी गति से। इस नयी संस्कृति का परिणाम संचार माध्यमों से, जिसमें हिन्दी समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ भी सम्मिलित हैं, स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है। अवगुण्ठनमय, रहस्यमय प्रच्छन्न भारतीय सौन्दर्य अब पाश्चात्य नग्नता से पराजित हो रहा है। त्याग के स्थान पर अधिकाधिक धनार्जन की तृषा और लिप्सा विविध रंगों में प्रकाश्य है, त्याग भोग बन चुका है, आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचता 'काम' अब निर्लज्ज यौनाचार का मूक निर्देश है। अभी कुछ मास पूर्व हिन्दी पत्रिका 'इण्डिया टुडे' में पढ़ा था कि कुछ सस्ती हिन्दी पत्रिकाएँ विवाहित दम्पत्तियों के आपस में साथी परिवर्तित कर यौनाचार के विज्ञापन छाप रही हैं।

नि:सन्देह 'समन्वय' भारतीय संस्कृति का एक मूल स्वर है। इतिहास साक्षी है- भारतीय संस्कृति ने न जाने कितनी संस्कृतियों के ग्रहणयोग्य तत्वों को आत्मसात कर अपने को समृद्ध किया और अपने तत्व उन्हें प्रदान किए, किन्तु यह प्रक्रिया तब अपने भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल थी। वही 'समन्वय' की प्रवृत्ति अब 'अपसंस्कृति' के दबाव में ऐसा समन्वय कर रही है जिसमें अपनी अस्मिता को ही पूर्णत: नकार दिया जा रहा है। यह नयी संस्कृति ऐसी अपसंस्कृति है जिसका आखेट बने मनुष्य में न तो कोई साहित्य और कला की समझ है, न ही उसके प्रति उन्मुखता और न ही श्रेष्ठ मानवीय संस्कारों के प्रति कोई सम्मान।

इस परिस्थिति और इस धीमी गति से होने वाले मौलिक सांस्कृतिक परिवर्तनों के प्रति जागरुकता ही नहीं गहन विश्लेषणात्मक दृष्टि की पकड़ इस समय एक अनिवार्यता है। बीसवीं सदी के अन्तिम प्रहर में संवेदनशील भारतीय संस्कृति को इक्कीसवीं सदी को कैसे सौंपा जाय यह विचारणीय है। इस कठिन परिस्थिति में स्वाभाविक है स्मरण हो आना, इसी सदी के आरंभ की हिन्दी पत्रकारिता का, जिसने मनुष्य और मनुष्यसंस्कृति की रक्षा को 'स्वधर्म' माना था। आज जब समाज के पास कुछ भी शेष नहीं बचा है, जिसके आधार पर वह निर्भर हो कर सत्य का पक्ष ले सके–कोई अन्धविश्वास तक नहीं कि जिसके बल पर वह किसी आने वाले अवतार या मसीहा की प्रतीक्षा में स्वयं को तैयार करे, तब स्मरण हो आता है 'कलम के सिपाहियों' का। व्यवस्था को बदलने का काम राजनैतिक और सामाजिक संगठन करते हैं किन्तु संस्कारों का परिवर्तन और उन्हें अधिक मानवीय बनाने का काम साहित्यकार करते हैं। पत्रकारिता साहित्य का ऐसा अंग है जो जनमानस पर प्रतिदिन, प्रतिसप्ताह सीधे चोट कर सकता है।

प्रश्न उठता है कि जिस हिन्दी पत्रकारिता ने स्वातंत्र्यपूर्व राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन और आत्मसम्मान के बीज बोए थे, क्या अब भी उतनी ही जीवन्तता और प्रबोध सामर्थ्य रखती है ? क्या भारतीय संस्कृति की अस्मिता के संरक्षण में अब भी उतनी ही महत्वपूर्ण और नि:स्वार्थ सेवा कर सकती है ? अब उनका आधारभूत उद्देश्य क्या है ? मात्र व्यावसायिकता या उससे अलग हट कर भी कुछ ? स्वातंत्र्यपूर्व से स्वातंत्रोत्तर हिन्दी पत्रकारिता में जो आधारभूत अन्तर आया है, वह यह कि पत्रकाारिता अब 'मिशनरी' नहीं रह गई है। वह युग ऐसा था कि सेवा, त्याग और बलिदान के अतिरिक्त कोई कुछ सोच नहीं सकता था, परन्तु अब पत्रकारिता 'व्यवसाय' है और ट्रेड यूनियन संगठनों के कारण उसका यह व्यावसायिक स्वरूप और दृढ़ हुआ है। इस व्यावसायिक दृष्टि और उपभोक्ता संस्कृति की चकाचौंध को झेलते हुए हिन्दी पत्र कहाँ तक उन मापदण्डों पर चल सकेंगे जो उनके पूर्वजों ने स्थिर किए हैं, विचारणीय विषय है। विज्ञापन, जो बहुत बड़ी सीमा तक समाचार-पत्रों के आर्थिक मेरुदण्ड हैं, अश्लीलत्व की सीमा को इतनी सहजता से स्पर्श करते हैं कि एक विशुद्ध भारतीय मन चकित और स्तम्भित रह जाता है। पर इन विज्ञापनों की ही कृपा से बीस-बीस पृष्ठों के हिन्दी पत्र पाठकों को दो या तीन रुपये में उपलब्ध हो रहे हैं, और ये ही विज्ञापन प्रकाशन की एक बड़ी लागत का वहन करते हुए उन्हें लोगों तक उचित मूल्यों पर पहुँचाते हैं।

इसलिए ये समाचार-पत्रों की विवशता बन गए हैं।

पत्रकारिता का व्यवसायपरक रूप (कुछ लेखों और रिपोर्टों को छोड़ कर) उनके रिपोर्टरों की भाषा में भी ज्ञात होता है। कितने हैं जो सेवाभाव से पत्रों में रिपोर्टिंग करते हैं या लेख देते हैं ? वे इसे या तो आजीविका के साधन के रूप में देखते हैं या कुछ भी लिखा हुआ छपवाने की लालसा तृप्ति का माध्यम। ऐसे रिपोर्टरों को उँगली पर गिना जा सकता है, जो स्वयं को कष्ट दे कर, आतंक सह कर सत्य लिखने का साहस रखते हैं। अधिकांश समाचार सायंकाल पुलिस-चौकियों से एफ. आई. आर. के ब्यौरे से मिलते हैं- 'उचक्कों ने युवती को छेड़ा', 'सरे राह चेन खींची गई', 'कूंए में शव मिला', 'प्रेमी से दोस्ती, पति से रार', 'प्रेम प्रसंग के चलते हत्या', 'प्रेमी युगल अश्लील हरकत करते पकड़े गए'- ऐसे समाचार किस कोटि में आते हैं और किस उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, ईश्वर जाने।

विपरीत परिस्थिति होने पर भी हिन्दी पत्रकारिता की आत्मिक शक्ति घोर निराशाजनक भी नहीं है- क्योंकि प्रायः झकझोर देने वाले लेख और कुछ स्तंभ उसकी पुरानी आत्मा का स्मरण दिला जाते हैं, जो बताते हैं कि हिन्दी पत्रों की रचनात्मक भूमिका विलुप्त नहीं हुई है–भविष्य में पत्रकारों के लिए नयी और रचनात्मक भूमिका का प्रादुर्भाव हो रहा है, लेकिन पत्रकार का मन अभी आश्वस्त हुआ नहीं लगता है। उसे समर्पित पत्रकार के रूप में अपनी नयी भूमिका के प्रति आश्वस्त होना होगा, तभी वह महीयसी भारतीय संस्कृति की रक्षा के उत्तरदायित्व का वहन कर सकेंगे। वर्तमान युग में समाचार देखने, साक्षात्कार देखने, वार्ता देखने का व्यक्ति अभ्यासी हो रहा है, पढ़ने का कम। स्वयं पैसे देकर पत्र तो नहीं, हाँ, पत्रिका खरीदने वाले कम हैं। दैनिक पत्रों की स्थिति साप्ताहिक पत्रिकाओं की तुलना में संतोषजनक है। यदि पत्रकार अपनी स्थिति और प्रतिदिन लोगों से सीधे संपर्क कर पाने की अपनी सुविधा से लाभ उठा कर सांस्कृतिक पुनर्जागरण जैसे पुण्य कार्य कर सकें तो उनकी पूर्ण सार्थकता सिद्ध होगी। उन्हें उपभोक्ता संस्कृति की दुश्शंकाओं के विरुद्ध स्वर उठाने के अतिरिक्त सांस्कृतिक विचार भी देना होगा जो एक ओर स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व को तो दूसरी ओर साहित्य, कला और उच्च संस्कारों को नयी अर्थवत्ता प्रदान कर सकें जो 'हत्या' और 'प्रेमीयुगल अश्लील हरकत करते पकड़े गए' से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण समाचार और संदेश जन जन तक पहुँचा सकेगा। भविष्य वैचारिक पुनरावृत्ति नहीं, मौलिक अवधारणा की अपेक्षा कर रहा है और पत्रकार यह दुष्कर कार्य निश्चय ही सुकर बनाने की क्षमता रखते हैं- आवश्यकता है उस क्षमता को पहचानने और सक्रिय बनाने की।

पत्रकारिता : परम्परा

उर्दू दैनिकों की समस्याएँ

डॉ० याकूब यावर

संभव है उर्दू से सम्बन्धित वस्तुस्थिति और वातावरण ने हमें भयभीत कर रखा हो, संभव है यह हमारी न्यूनानुभूति हो, संभव है हिन्दी वालों द्वारा उर्दू के इतिहास पर अधिकार करने के पश्चात विजयोल्लास का प्रभाव इसका कारण हो, संभव है उर्दू वालों की निष्क्रियता और लापरवाही देखकर हम स्वयं निराश हो गए हों, संभव है आज के परिदृश्य पर हमारी दृष्टि भलीभाँति टिक न पा रही हो, संभव है राजनीतिक दाँव-पेंच का यह एक और चमत्कार हो परन्तु आज हमारा विचार यह है कि उर्दू भाषा पर बुरा समय आ पड़ा है और भारत का स्वतन्त्र होकर दो भागों में विभाजित हो जाना इस भाषा के लिए उचित नहीं हुआ। इस कड़वे सत्य को गले से उतारना अब हमारी विवशता है कि उर्दू भाषा पतन के उस अन्तिम विन्दु की ओर अग्रसर है, जहाँ से दो ही मार्ग निकलते हैं। या तो इस विन्दु से भाषा उत्थान की ओर यात्रा करेगी या फिर समाप्त हो जायेगी।

भाषा पतनोन्मुख हो तो इसका प्रभाव भाषा के प्रत्येक विभाग पर पड़ता है। अतएव उर्दू पत्रकारिता भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती थी। यही कारण है कि उर्दू पत्रकारिता अगणित समस्याओं से घिरी हुई है।

पत्रकारिता समाचार देने और पाने की क्रिया का नाम है। जब हम पत्रकारिता की बात करते हैं तो इन दोनों विभागों से इसका सम्बन्ध स्वयमेव प्रशस्त हो जाता है। यदि पत्रकारिता की कुछ समस्याएँ हैं, तो इसके कार्य सम्बन्धी साक्ष्य इन्हीं दोनों विभागों में दृष्टिगत होते हैं और यदि ये साक्ष्य मिल जायें तो हमारे उस भय को आधार मिल जाता है जिसकी चर्चा हमने की है।

पहले हम उर्दू पाठकों की वर्तमान परिस्थितियों पर विचार करते हैं। भारत की स्वतंत्रता के उपरान्त यहाँ के राजेनताओं के दोगलेपन ने एक ओर तो उर्दू के भारतीय भाषा होने की कसमें खाई और इसकी महानता के गीत गाए और दूसरी ओर इसे विदेशी भाषा साबित करने, इसकी जड़ें काटने और इसके आधार पर कुठाराघात करने को अपने कर्तव्यों का आवश्यक अंग बनाया। इससे वह दोहरा लाभ बटोरना चाहते थे। एक ओर वह विभाजन के पश्चात भी भारत न छोड़ने वाली जनसंख्या को क्रुद्ध नहीं करना चाहते थे, दूसरी ओर सीमा पार सरकारी भाषा बन जाने वाली उर्दू को भारत में पदच्युत करके बदला लेना चाहते थे। यह कार्य गत पचास वर्षों में बड़ी सफलता से हुआ। अधिकार प्राप्त विभिन्न राजनीतिक दलों में अन्यान्य विरोधाभासों के होते हुए भी वे सदैव उर्दू के सम्बन्ध में एकमत रहे। कभी वह इसे

देवनागरी में लिखने का परामर्श देकर 'विशुद्ध भारतीय भाषा' बनाकर इसकी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास करते, कभी विभिन्न राज्यों में अकादमियों की स्थापना करके उनकी निष्क्रियता द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते कि अब उर्दू समय का साथ देने में अक्षम है। कभी उर्दू साहित्यकारों को सम्मानों की घूस देकर उन्हें वह सब कुछ कहने और करने पर उकसाते जो उनकी लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक हो सकें, कभी विद्यालयों और महाविद्यालयों में इसकी शिक्षा के मार्ग में अड़चनें खड़ी करके नयी पीढ़ी को इस भाषा से विरक्त करने का प्रयास करते। और इन्हीं सब प्रयासों का यह परिणाम है कि वह उर्दू भाषा जो स्वतंत्रता के उपरान्त अपने पाठकों और बोलने वालों के बूते भारत की सरकारी भाषा बनाये जाने की दावेदार थी, आज अपने जीवन और मृत्यु के झगड़े में उलझी है।

उर्दू को समस्त जीवनोपयोगी विभागों से अधिकारच्युत करने का ऐसा सुव्यवस्थित और सामूहिक प्रयास गत अर्द्धशताब्दी से चल रहा है। अब यदि उर्दू जीवित है तो यह चमत्कार है। प्रशंसा करनी चाहिए इस भाषा की उस आंतरिक शक्ति की जो ऐसी भयानक परिस्थितियों में भी इसे जीवित रखे हुए है। यही नहीं, यह मृतप्राय भाषा अब भी जीवन के लगभग प्रत्येक विभाग में अपने अस्तित्व का प्रमाण देती रहती है।

गत पचास वर्षों में उर्दू पाठकों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम होती रही है। कारण अगणित हैं परन्तु हमारा सरोकार केवल वस्तुस्थिति से है। भाषा का सम्बन्ध धर्म से जोड़ना उचित नहीं है। परन्तु सत्य यही है कि उर्दू का सम्बन्ध सदैव मुसलमानों से रहा है। पहले भी और आज भी। मुसलमानों के अतिरिक्त यदि किसी ने इसे सीखा और प्रयोग किया तो इसलिए कि उर्दू जीवन की आवश्यकताओं का एक अनिवार्य अंग थी और इसके बिना काम नहीं चल सकता था। आज जब इसे जीवनोपयोगी नहीं रहने दिया गया तो मुसलमानों से हटकर अब केवल वह जनता उर्दू जानती है जो अपनी अन्तिम यात्रा की सभी तैयारियां पूर्ण कर चुकी है। उनकी संतानें उर्दू से अनभिज्ञ हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मुसलमानों की नई पीढ़ी उर्दू जानती है। नहीं, कदापि नहीं, इस वस्तुवादी समय में वह भाषा जिसका सम्बन्ध अर्थतंत्र से टूट कर बिखर चुका हो, केवल इसलिए नहीं जीवित रह सकती कि यह हमारी सभ्यता और धार्मिक मान्यताओं की पोषक है। दुखद यह है कि मुसलमानों की नई पीढ़ी भी उर्दू नहीं जानती और बहुत कम मुस्लिम परिवार रह गए हैं, जहाँ उर्दू का चलन बचा है। परन्तु यह बचे-खुचे वाले, हैं मुसलमान ही।

उर्दू पाठकों की यह दशा है तो दैनिक समाचार पत्र के पाठक आयेंगे कहाँ से ? उर्दू पत्रकारिता की सबसे बड़ी समस्या और अन्यान्य समस्याओं की जड़ यही है।

अब जरा उन लोगों और उन समस्याओं को देखते हैं, जो इन सीमित पाठकों तक इस भाषा में समाचार पहुँचाने का कार्य करते हैं। आज पत्रकारिता के संसार में इन्कलाब आ चुका है। समाचार के प्रचार-प्रसार के लिए टेलीप्रिन्टर द्वारा विभिन्न एजेन्सियों की सेवाएं उपलब्ध हैं, जो समस्त संसार के समाचार पलक झपकते ही समस्त समाचार-पत्रों को प्रेषित कर देती हैं। समाचार-पत्रों के मुद्रण में भी परिवर्तन आया है। लिथो और लेटर प्रेस से

निकलकर अब यह कला फोटो आफसेट की सीमा में प्रवेश कर चुकी है। किताबत और कम्पोजिंग का कार्य अब व्यक्ति की क्षमताओं से निकलकर मशीन के परिक्षेत्र में आ गया है। यह कार्य अब कम समय में, अधिक मात्रा में और सुन्दर रूप में कम्प्यूटर कर देता है। समाचार-पत्रों को उसके पाठकों तक समय पर पहुँचाने के लिए नये-नये साधन उपयोग में हैं। अब हवाई जहाज, ट्रक, जीप और स्कूटरों की सहायता से यह कार्य भलीभाँति हो रहा है। यह सब पढ़ने और जानने में बहुत अच्छा लगता भी है।

परन्तु हमें यह देखना है कि उर्दू पत्रकारिता इन सुविधाओं से कहाँ तक लाभान्वित होती है या होने की क्षमता रखती है। आइये, पहले विभिन्न समाचार एजेन्सियों और टेलीप्रिन्टर की सेवाओं को देखते हैं। एक अच्छा समाचार-पत्र अधिक से अधिक स्वदेशी और विदेशी समाचार एजेन्सियों की सेवाएं प्राप्त करता है और अपने पाठकों की आशाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप समाचार उन तक पहुँचाता है। पाठकों की संख्या लाखों और करोड़ों में हो तो इन सुविधाओं और सेवाओं का उपयोग कठिन नहीं रह जाता। इसलिए कि समाचार-पत्र के आय-व्यय का अनुपात ऐसा रहता है कि वह इन सेवाओं को सरलता से क्रय कर सकता है। परन्तु उर्दू के वह समाचार-पत्र जिनकी प्रसार संख्या लाखों में नहीं, हजारों और कभी-कभी सैकड़ों में होती है, इन महंगी सेवाओं से भला कैसे लाभान्वित हो सकते हैं। उसने बहुत साहस किया तो एक टेलीप्रिन्टर क्रय कर लिया और यू.एन.आई. (अंग्रेजी) या वार्ता (हिन्दी) की सेवाएं प्राप्त कर लीं। अब उसके समक्ष समाचारों की सीमित प्राप्ति के साथ एक समस्या और उत्पन्न हो जाती है, जो अन्य पत्रों के समक्ष नहीं होती। टेलीप्रिन्टर में आने वाले समाचार अंग्रेजी या हिन्दी में होते हैं। स्पष्ट है कि अब उर्दू में इन समाचारों का अनुवाद करने के लिए एक अनुवादक की सेवाएँ आवश्यक होंगी। अर्थात समाचारों का स्तर अब अन्य बातों के साथ-साथ अनुवादक की क्षमता पर भी निर्भर होगा। उर्दू समाचार-पत्रों के पास क्षमताओं को क्रय करने के पर्याप्त साधन होते तो और भी बहुत कुछ संभव हो सकता था। कठिनाई तो यही है कि वे सेवाओं को कम-से-कम मूल्य पर क्रय करना चाहते हैं और कम मूल्य में स्तरीय सेवाएं कैसे प्राप्त की जा सकती हैं। अतएव पहले ही चरण पर अप्रशिक्षित अनुवादकों ने समाचार का स्तर कम करने का जो कार्य कर दिया है, उसका सुधार फिर समस्त क्रियाक्रम में कहीं नहीं हो पाता और समस्त चरणों से गुजर कर समाचार इसी प्रकार पाठक तक पहुँच जाता है। उर्दू से दूर रहने का मन बना लेने वाला पाठक इससे कुछ और आगे बढ़ता है और उर्दू समाचार-पत्र पढ़ना बन्द कर देता है। क्योंकि दूसरी भाषा के समाचार-पत्रों में प्रतिमाह इतना ही मूल्य चुका कर वह अधिक स्तरीय समाचार प्राप्त कर सकता है, और जब दूसरी भाषा वह जानता है तो झिझक का कोई अर्थ नहीं रह जाता। वह अपनी भाषा और संस्कृति के नाम पर अपनी परिश्रम से कमाई पूँजी व्यय नहीं कर सकता। अतएव उर्दू समाचार-पत्रों के पाठकों का घेरा और सीमित होता जा रहा है और कदाचित अब केवल वे लोग उर्दू समाचार-पत्र पढ़ते हैं, जो या तो उर्दू के अतिरिक्त अन्य भाषाओं से अनभिज्ञ हैं या फिर उर्दू-प्रेम और अपनी आय के अनुपात से एक से अधिक समाचार-पत्र मँगाने की क्षमता रखते हैं। एक समाचार-पत्र पढ़ने

वाला उर्दू का साधारण पाठक अब अन्य भाषाओं के समाचार-पत्र पढ़ता है।

पत्रकारिता के आधुनिकीकरण का दूसरा चरण वह है जिसमें किताबत और कम्पोजिंग से समाचार-पत्र के मुद्रण तक का वर्णन होना है। दूसरी भाषाओं की तरह उर्दू ने लिथो से लेटर प्रेस और फिर आफसेट की यात्रा नहीं की, इस भाषा ने अपनी कुछ विवशताओं के कारण लिथो से आफसेट और किताबत से कम्प्यूटर कम्पोजिंग की यात्रा सीधी की है। अब यदि उर्दू समाचार-पत्रों की चिन्ताजनक परिस्थितियों पर एक सरसरी दृष्टि भी डालें तो आफसेट मशीनों और कम्प्यूटर जैसी महंगी मशीनों के क्रय का विचार भी कठिन है। यह सत्य भी है। इनके क्रय में आने वाली लागत से अलग हट कर यदि यह मान भी लें कि इसे किसी प्रकार क्रय कर लिया जायेगा तो भी इस समाचार-पत्र से इतनी आय संभव नहीं कि इन मशीनों पर आने वाले स्थायी व्यय को वहन किया जा सके। इस वास्तविकता के बाद भी उर्दू में कुछ ऐसे समाचार-पत्र हैं जो कम्प्यूटर कम्पोजिंग और आफसेट जैसी आधुनिक सुविधाओं से युक्त हैं और केवल कुछ समाचार-पंत्रों को छोड़कर लगभग समस्त पत्र किताबत और आफसेट सुविधाओं का लाभ उठा रहे हैं। बहुत कम उर्दू दैनिक ऐसे हैं जो अब लिथो से मुद्रित होते हैं। इसका एक कारण यह भी है कि लिथो में प्रयोग होने वाले पत्थर की प्राप्ति असंभव जैसी हो गई है और घिसे हुए वृद्ध पत्थरों से मुद्रण कर वह स्तर अब संभव नहीं हो पाता जो इन पत्थरों की जवानी में हुआ करता था। आपको उर्दू समाचार-पत्रों की दरिद्रता के वर्णन और आधुनिक सुविधाओं के उपयोग में विरोधाभास दिखाई दे सकता है। है भी। परन्तु तनिक गहराई से देखने पर अनुमान हो जायेगा कि इस पर्दे के पीछे कौन सी वास्तविकताएँ सक्रिय हैं। यह बात अपने स्थान पर सत्य है कि भारत में दो-चार उर्दू समाचार-पत्र अपने पैरों पर खड़े हैं और उनमें यह क्षमता है कि वह दूसरी भाषाओं के साथ प्रगति की दौड़ में सम्मिलित हो सकें परन्तु अन्य समाचार-पत्र ऐसे हैं जिन्होंने उर्दू पत्रकारिता को अतिरिक्त व्यापार के रूप में अपनाया है। उनके अँग्रेजी, हिन्दी या अन्य भाषाओं के समाचार-पत्र निकलते हैं और उन्होंने इसमें उर्दू को भी सम्मिलित कर लिया है। इसके लिए उन्हें अतिरिक्त व्यवस्था नहीं करनी पड़ती है। वही टेलीप्रिन्टर, वही कम्प्यूटर, वही आफसेट प्रेस यहाँ भी काम आ जाता है, केवल समाचार पत्र के लिए कुछ कर्मचारियों और कागज की आवश्यकता होती है, जिसे प्राप्त करना कठिन नहीं है।

तीसरा चरण, मुद्रित समाचार-पत्र को पाठक के घर तक पहुँचाने का है। यह चरण अपने स्थान पर अति महत्वपूर्ण है। आने-जाने के साधन इस चरण के महत्वपूर्ण अंग हैं। साधारणतया दूरगामी क्षेत्रों तक अपने समाचार-पत्र पहुँचाने का कार्य हवाई जहाज से और आसपास के ग्रामों और कस्बों के लिए निजी गाड़ियों का उपयोग किया जाता है। बात फिर वही कि इन साधनों का लाभ कम आय के साथ कैसे संभव है। न तो उर्दू समाचार-पत्र अपनी गाड़ियाँ रख सकता है और न दूरस्थ क्षेत्रों तक अपने समाचार-पत्र को फैलाने के बारे में सोच सकता है। उर्दू पत्रकारिता के संसार में इनका लाभ वही उठा रहे हैं जो इसे अन्य भाषाओं के साथ जोड़ कर अतिरिक्त व्यापार के रूप में अपनाए हुए हैं। उनकी गाड़ियाँ उर्दू समाचार-पत्रों

को भी दूरस्थ और दुर्गम स्थानों तक ले जाती हैं। परन्तु साधारणतया यह समस्त समाचार-पत्रों के लिए सम्भव नहीं है। इसका अगला चरण वह है जिसमें से होकर इन्हें द्वार-द्वार ले जाया जाता है। जब तक हाकरों में परस्पर एकता की कमी थी, यह कार्य कम मूल्य पर भलीभाँति हो जाता था। अब ये व्यवस्थित होकर अपनी सेवा का अधिक मूल्य चाहते हैं। परिणाम यह हो रहा है कि पाठक तक समाचार-पत्र महंगा पहुँचता है। मूल्य बढ़ाया गया तो समाचार-पत्रों की प्रसार संख्या में कमी आने लगी। फलत: समाचार-पत्र मालिकों ने मूल्य कम करके समाचार-पत्र को पाठक तक पहुँचाने का कार्य हानि के साथ करने का निर्णय लिया। इब इस हानि को वे विज्ञापनों से होने वाली आय से पूरा करते हैं। इसका परिणाम संतोषजनक निकला। उर्दू पत्रकारिता की चिन्ताजनक स्थिति भला इस झटके को कैसे झेलती ? इसके लिए आय का एकमात्र स्रोत पाठक ही थे और अकस्मात यह द्वार बन्द हो गया तो फिर जीवन और मृत्यु का संकट उपस्थित हो गया। उसने हाकरों से कुछ छूट माँगी तो हाकरों ने जनसाधारण के समक्ष उर्दू समाचार-पत्रों की अनुपलब्धता का रोना आरम्भ कर दिया। विवश होकर हाकरों की अपेक्षाओं की पूर्ति की गई। हानि उठाना वश में न था, अस्तु समाचार-पत्रों का मूल्य अन्य भाषाओं के समक्ष अधिक दिखाई देने लगा और अब उर्दू पाठक वर्ग जब कम मूल्य पर अच्छा समाचार-पत्र पढ़ सकता है तो अधिक मूल्य देकर एक निम्नस्तर का उर्दू समाचार-पत्र क्यों पढ़े। परिणाम वही, जीवन-मृत्यु का संघर्ष।

आज देश में फैली बेरोजगारी ने पाठक वर्ग को किसी सीमा तक समाचार-पत्रों की ओर आकर्षित रखने का कार्य किया है। पाठक इनमें वह विज्ञापन ढूँढता है, जिसमें सेवायोजन सम्बन्धी जानकारी हो। इन विज्ञापनों के दाता साधारणतया अंग्रेजी माध्यम में रुचि रखते हैं। अतएव ऐसे विज्ञापन शत-प्रतिशत अंग्रेजी में छपते हैं। पचास प्रतिशत विज्ञापनों से हिन्दी भी लाभान्वित होती है। परन्तु उर्दू समाचार-पत्रों में ऐसे विज्ञापन कभी नहीं छप पाते। अत: पाठकों को अपनी ओर खींचने का यह माध्यम उर्दू समाचार-पत्रों के लिए अर्थहीन हो जाता है।

अब विज्ञापन ही समाचार-पत्रों की आय का एकमात्र स्रोत हैं। बड़े और अधिक प्रसार संख्या वाले समाचार-पत्रों के लिए विज्ञापनों की प्राप्ति कोई समस्या नहीं है, क्योंकि सरकारी कार्यालयों के अतिरिक्त हर व्यापारी और उद्योगपति अपने उत्पादों को विज्ञापित करने के लिए इन समाचार-पत्रों को मुँह माँगा मूल्य देने को तैयार रहते हैं। अतएव ऐसे समाचार-पत्रों में विज्ञापनों का अनुपात पचास प्रतिशत या इससे भी अधिक होता है। परन्तु छोटे समाचार-पत्रों के साथ ऐसा नहीं है। उर्दू पत्रकारिता का सम्बन्ध इसी अति निम्न वर्ग से है। इनके लिए विज्ञापनों की प्राप्ति कठिन कार्य है। साधारणतया न इनके पास ऐसे कर्मचारी होते हैं, जो पूर्णरूपेण यह कार्य करते हों, न ये व्यापारियों और उद्योगपतियों को प्रभावित कर पाते हैं। उर्दू समाचार-पत्रों के बारे में जनसाधारण के विचार भी अच्छे नहीं हैं। इसका प्रभाव इन व्यापारियों पर सीधे पड़ता है। परिणामत: इनकी विज्ञापन-सूची में उर्दू का नाम नहीं होता। उन्हें यह विश्वास है कि उर्दू पाठक वर्ग तक उनके उत्पादों की प्रसिद्धि अन्य भाषाओं के

माध्यम से भी पहुँच जायेगी। इस प्रकार विज्ञापनों की प्राप्ति का यह द्वार उर्दू के लिए बन्द है। कभी-कभी द्वार खटखटा कर इसे खोला जाता है परन्तु बार-बार ऐसा करने से भीतर का व्यक्ति क्रोधित होने लगता है कि उर्दू उसकी आवश्यकताओं की पूरक तो है नहीं। अब रहे सरकारी विज्ञापन, तो यह अवश्य मिलते हैं इन सामाचार-पत्रों को। परन्तु इतनी सरलता से नहीं। सरकारी कार्यशैली कुछ ऐसी है कि उर्दू समाचार-पत्रों के लिए बजट में एक निश्चित धनराशि का प्रावधान कर दिया जाता है, फिर अधिकारीगण यह धनराशि अपने विवेकानुसार उर्दू समाचार-पत्रों को देते हैं। यह धनराशि कैसे आबंटित होती है, इसे हर वह व्यक्ति जानता है, जिसे सरकारी कार्यालयों में आने-जाने का अनुभव है। कुल मिला कर यह विज्ञापन इतनी प्रार्थनाएं करने और झुकने के पश्चात मिलते हैं कि अधिकार और भीख का अन्तर समाप्त हो जाता है। अब जिसमें भीख माँगने की जितनी क्षमता हो, वह इससे उसी अनुपात में लाभान्वित हो लेता है।

फिर भी उर्दू समाचार-पत्रों की आय का एकमात्र स्रोत यही सरकारी विज्ञापन हैं। अतएव जिसे इस क्षेत्र में जीवित रहना है, वह इसके लिए भाग दौड़ करता है। पाठक द्वारा आय की सम्भावना समाप्त हो चुकी है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि उर्दू समाचार-पत्रों के मालिक इसकी प्रसार संख्या बढ़ाना घाटे का सौदा समझने लगे हैं। इनकी दृष्टि में पाठकों की संख्या बढ़ाने से विज्ञापनों से होने वाली आय पर व्यय का अतिरिक्त भार बढ़ेगा, जिससे संतुलन बिगड़ जाने का भय है।

यह वस्तुस्थिति है, उर्दू पत्रकारिता में दैनिक समाचार-पत्रों की। एक संक्षिप्त लेख में समस्त समस्याओं पर विचार करना सम्भव नहीं है। फिर भी यह आलेख उन व्यक्तियों को विचार करने पर विवश करेगा जो उर्दू पत्रकारिता को लेकर भ्रान्तियों के शिकार हैं। हमारा आशय भी बस इतना ही है। अतएव हमने उन समस्याओं को नहीं छेड़ा, जिनका सम्बन्ध स्तरीय पत्रकारिता से है, समाचारों के क्रम से है, कार्यालय की कार्यशैली से है, कर्मचारियों की क्षमताओं और आवश्यकताओं से है, पत्रकारिता के प्रशिक्षण से है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक के चारों ओर अपनी-अपनी समस्याओं का घेरा है और ये समस्त समस्याएँ एक दूसरे पर इस प्रकार निर्भर हैं कि इन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता।

विराट समस्या और अन्य समस्याओं का आधार है, उर्दू में पाठक वर्ग की कमी। यह कमी बड़ी सीमा तक कृत्रिम है। समाचार-पत्रों की दुर्व्यवस्था और पाठकों की अरुचि ने मिलकर यह संकट खड़ा किया है। अतएव आशा की धूमिल-सी किरण अभी भी चमक रही है। इस समस्या का समाधान संभव है। समाधान यह है कि उर्दू पाठकों की संख्या बढ़े, समाचार-पत्रों के मालिक आवश्यकतानुसार प्रसार संख्या बढ़ाने का साहस करें। इसी से इन समाचार-पत्रों के बारें में साधारणजनों के विचार परिवर्तित हो सकते हैं। विचार बदलेंगे तो निजी व्यापारिक संस्थानों के विज्ञापन मिलेंगे और इस प्रकार उर्दू समाचार-पत्र अपने पैरों पर एक बार पुन: खड़ा हो सकेगा। यह सब सम्भव है। परन्तु प्रश्न यह है कि बिल्ली के गले में घंटी बंधेगी कैसे?

संक्षिप्त वार्ता

डॉ. वेद प्रताप वैदिक से डॉ. सुरेश्वर

हिन्दी पत्रकारिता को अपनी मांसपेशियाँ मजबूत बनानी पड़ेगी

सुरेश्वर : भू-बाजारीकरण की प्रक्रिया से हिन्दी पत्रकारिता पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?

वेद प्रताप वैदिक : भू-बाजारीकरण की प्रक्रिया, जो भारत में तेजी से लागू की जा रही है, उससे हिन्दी पत्रकारिता की स्थिति में सुधार भी हो सकता है और स्थिति बिगड़ भी सकती है। सुधार इस माने में कि दुनिया भर के दिग्गजों के साथ हिन्दी पत्रकारिता भी खड़ी हो जाएगी, या यों कहिये कि उसे उस कतार में खड़ा होना पड़ेगा। *इस प्रयास में पहले हिन्दी पत्रकारिता को अपनी मांसपेशियाँ मजबूत बनानी पड़ेंगी। दूसरी ओर स्थिति इस रूप में बिगड़ सकती है कि अभी तो उसे अंग्रेजी पत्रकारिता से भारत में ही लोहा लेना पड़ रहा है। भू-बाजारीकरण की प्रक्रिया में उसे अन्तरराष्ट्रीय पत्रकारिता से मुकाबला करना पड़ेगा। अंग्रेजी पत्रकारिता के आगे जब अपने ही देश में हिन्दी पत्रकारिता को दोयम दर्जा प्राप्त है तो अन्तरराष्ट्रीय पत्रकारिता के सामने हिन्दी पत्रकारिता की क्या गति होगी यह आसानी से समझा जा सकता है।*

सुरेश्वर : हिन्दी पत्रकारिता अंग्रेजी पत्रकारिता और अन्तरराष्ट्रीय पत्रकारिता के आगे इतनी लाचार न होने पाये, जितनी आज है, इसके लिए क्या और कैसा प्रयास करना चाहिये ?

वेद प्रताप वैदिक : इसके लिए हिन्दी पत्रकारिता को अपनी गुणवत्ता पर ध्यान होगा। अभी हिन्दी पत्रकारिता को उचित प्रामाणिकता नहीं प्राप्त है, इसलिए प्रामाणिकता बढ़ाने के लिए विशेष प्रयास करने होंगे। *हिन्दी पत्रकारिता में बहुत से अयोग्य व्यक्तियों का प्रवेश हो गया है, इससे गुणवत्ता और प्रामाणिकता दोनों प्रभावित होती है। अयोग्य व्यक्तियों के प्रवेश से हिन्दी पत्रकारिता की स्थिति बहुत बिगड़ी है और बिगड़ती जा रही है। इससे बचने के लिए यह भी सुनिश्चित करना होगा कि सुयोग्य लोग ही हिन्दी पत्रकारिता में प्रवेश करें।*

सुरेश्वर : पहले हिन्दी पत्रकारिता में भाषा की शुद्धता पर ध्यान दिया जाता था और साहित्यकारों के लिए भी बहुत सी पत्र-पत्रिकाएं आदर्श के रूप में होती थीं। क्या आपको नहीं लगता कि हिन्दी पत्रकारिता अपनी भाषा को को दरकिनार कर रही है या भाषा नयी तकनीक और पत्र-पत्रिकाओं की रंगीनियों में पीछे छूटती जा रही है ?

वेद प्रताप वैदिक : हाँ, यह बात सही है कि आजकल हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की भाषा अशुद्ध और स्तरहीन हो गयी है। अब भू-बाजारीकरण के खतरे में तो यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी पत्र अपनी भाषा में सुधार लायें। यदि हिन्दी पत्रकारिता इस ओर विशेष ध्यान नहीं देती तो हम स्थिति में बदलाव की बात नहीं सोच सकते।

सांस्कृतिकी

नये रंग की खोज में बदरंग हिंदी रंगमंच

कुमार विजय

हिंदी क्षेत्र में आज हिंदी रंगमंच की जो स्थिति है उसे देखते हुए हिन्दी रंगमंच पर कोई भी चर्चा छेड़ने से पहले भय-सा महसूस होता है। जिस तरह की खामोशी आज हिन्दी रंगमंच को लेकर हिन्दी-क्षेत्र और हिन्दी-जगत में छायी हुई है, उसे भंग करने का अपराध-बोध ा भी महसूस होता है, क्योंकि साठवें दशक में, जो हिन्दी रंग-आंदोलन शुरू हुआ था और बाद के वर्षों में साम्प्रदायिकता के साथ जारी रहा था, आज बिल्कुल हाशिए की चीज बनकर रह गया है। न तो हिन्दी क्षेत्रों में नाटक हो रहे हैं और न नए नाटक लिखे जा रहे हैं और न तो नाट्य और रंगमंच संबंधी कोई सुगबुगाहट और चर्चा सुन पड़ रही है। नाट्य और रंगमंच की अचर्चा की स्थिति को हिन्दी में धीरे-धीरे पत्रिकाओं के बंद होते जाने से भी जोड़ कर देखा जा सकता है, तो दूसरी ओर सीधा-सा कारण रंगमंचीय सक्रियता और गतिविधियों के अभाव को भी माना जा सकता है। जाहिर-सी बात है, किसी भी चर्चा-कुचर्चा का आधार संबंधित क्षेत्र की गतिविधियाँ ही बनती हैं।

हिन्दी रंगमंच की आज की स्थितियों के पीछे के जिम्मेदार कारणों में से एक निश्चित रूप से भारत में टी. वी. के उभार और दिनों-दिन प्रायोजित सीरियल-संस्कृति से होते हुए विदेशी उपग्रह टी. वी. चैनलों के हमले को माना जा सकता है। नवें दशक के प्रारंभ में जब टी. वी. पर सोप-संस्कृति का पदार्पण हुआ और तेजी से दूरदर्शन का नेटवर्क राजनीतिक सुविधाओं की दृष्टि से फैलाया गया, तब अचानक टी. वी. ने भारतीय जनमानस को पकड़ लिया। लोग जो अब से पहले तक शाम को लोगों से मिलने-जुलने, नाटक, सिनेमा, गोष्ठी-संगोष्ठियों तथा काफी-हाउसों, चायघरों में जाते थे, वे घर और ड्राइंगरूम की सीमाओं से बँध गए। वैसे भी भारतीय समाज के लिए घर बैठे टी.वी. पर मनोरंजन प्राप्त करने का यह नया आकर्षण था। भारतीय समाज तो टी.वी. के पर्दे से आकर्षित हुआ ही, दूसरी तरफ रंगमंच से जुड़े अभिनेताओं और निर्देशकों को भी टी.वी. ने एक नयी संभावना सौंपी। रंगमंच और खास कर हिन्दी रंगमंच के अपने कारण भी रहे हैं, जिनके चलते आम हिन्दी क्षेत्रों में रंगमंचीय गतिविधियाँ मृतप्राय हैं। इस संदर्भ में पीछे मुड़कर देखना प्रासंगिक होगा।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि हिंदी रंगमंच की वर्तमान स्थिति के पीछे

जो सबसे बड़ा कारण रहा है, वह शायद उसका शौकिया स्वरूप है, जिसके चलते कोई भी व्यक्ति नाटक में अभिनय और उसका मंचन कर सकता है। अनुभव से यह कहा जा सकता है कि जब हम कोई कार्य शौक के तौर पर करते हैं तो एक तरह की परम स्वतंत्रता का भाव हम पर हावी रहता है और उस कार्य-विशेष के प्रति जिम्मेदारी का भाव प्राय: नदारद होता है। हिन्दी रंगमंच के साथ भी यही हुआ। हालांकि साठ के दशक से जैसे-जैसे राष्ट्रीय नाटक विद्यालय से शिक्षित रंगकर्मी बाहर निकलकर कार्यशालाओं के जरिए और स्वतंत्र प्रस्तुतियों के जरिए रंगमंच को एक गंभीर और जिम्मेदारी वाले कर्म की तरह प्रतिष्ठित भी करते रहे हैं लेकिन शौकिया रंगमंडलियों और रंगकर्मियों का बराबर हिन्दी रंगमंच पर वर्चस्व रहा है। जिसका नतीजा यह रहा कि लगातार आयोजित होती रंग-कार्यशालाओं, नाट्य-चर्चाओं के बीच भी शौकिया रंगकर्मियों को रंगकर्म की गंभीरताओं और उसके लिए जरूरी अनुशासन की जरूरत का अहसास नहीं कराया जा सका। जाहिर-सी बात है कि जब हम किसी कार्य को गंभीरता से नहीं लेते तो उसके प्रति हमारे अंदर न कोई आस्था जन्म ले पाती है और न तो कोई आत्मीय लगाव पैदा हो पाता है। इस तथ्य को हिन्दी रंगमंच के संदर्भ में यूँ पहचाना जा सकता है कि टी.वी. के विस्तार और सीरियल-संस्कृति के पहले ही हमले में शौकिया हिन्दी रंगकर्मियों ने मैदान छोड़ दिया था।

याद करें तो नवें दशक के मध्य में अचानक रंगमंचीय गतिविधियों का ग्राफ बिल्कुल नीचे आ गया था। निश्चय ही टी.वी. जैसे व्यापक माध्यम ने पहले से ही दर्शकहीन रंगमंच के दर्शकों को बुरी तरह आकर्षित किया था लेकिन इससे भी बुरी बात यह थी कि हमारे रंगकमियों में इस स्थिति से मुकाबले की न कोई कल्पना पैदा हुई न तो साहस। ऐसी स्थिति यूँ भी अचानक आयी कि यह वह दौर था जब पिछले २५-३० वर्षों से रंगक्षेत्र में सक्रिय पीढ़ी बुढ़ा रही थी। यहाँ इस संदर्भ में चर्चा जरूरी है कि हिन्दी का शौकिया रंगमंच पार्ट-टाइमर अपेक्षाकृत कम पढ़े-लिखे लोगों का रंगमंच रहा है। अपनी स्वयंसिद्ध योग्यताओं वाले लोग यहाँ रंगमंच के स्थपति और नाट्य-निर्देशक होते रहे हैं। यदि अन्यथा न लिया जाय तो यहाँ यह तथ्य रखना प्रासंगिक होगा कि इस पीढ़ी ने अपनी अक्षमता को ढकने के लिए अपनी भावी पीढ़ियों के साथ कभी कुछ शे र नहीं किया, जिसका नतीजा यह रहा कि हिंदी क्षेत्रों के सक्रिय रंगकेन्द्रों में भी रंगकर्मियों के बीच से निर्देशक बिल्कुल नहीं उभरे, जो वरिष्ठ लोगों के बाद रंग संस्थाओं का नेतृत्व कर सकते।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में भी जिक्र हुआ है कि रंगमंच को चूँकि हमने गंभीरता से कभी लिया ही नहीं, इसलिए इस कला के मूलभूत तत्त्वों के प्रति न तो हम सामान्य रूप से सचेत रहे और न ही आने वाली पीढ़ियों को सचेत कर पाए। जिसका सबसे बुरा असर शौकिया हिंदी रंगमंच के अभिनेताओं पर हुआ। हिन्दी रंगमंच के अभिनेता का अर्थ यह है कि मंच पर यहाँ से वहाँ टहलते हुए संवाद बोलता हुआ पुतला। शौकिया हिंदी रंगमंच की यह सबसे बड़ी कमी रही है, जिसने कभी हिंदी क्षेत्र में विशुद्ध रंगप्रेमी दर्शक बनने ही नहीं दिया। ऐसी स्थितियों में जब दर्शकों को टी.वी जैसा सुविधाजनक माध्यम मिला तो उसमें उनका खो जाना

बहुत स्वाभाविक ही माना जायेगा।

हिंदी क्षेत्रों में चलने वाले रंगकर्म की एक बड़ी दिक्कत यह भी रही है कि पढ़े-लिखे रंगकर्मियों के प्रभाव से उन्होंने रंगकर्म की गंभीरता और उसके अनुशासन की प्रेरणा लेने के बजाय, उन तत्त्वों को ग्रहण किया जिनका इस्तेमाल फैशन के स्तर पर सुविधा से किया जा सकता था। जड़ों की खोज में हिंदी रंगमंच की प्रयोगशीलता का अंतिम हश्र यही हुआ। रंगमंच के छोटे-छोटे केन्द्रों, कस्बों तक में ऐसे प्रयोग होने लगे थे, जिन्होंने दर्शकों और रंगकर्मियों को समृद्ध तो नहीं किया बल्कि उन्हें कुंठित ज्यादा किया। नतीजा यह रहा कि जड़ों की यह खोज बीच में ही अवरुद्ध हो गयी। हालांकि जड़ों की खोज की इस यात्रा में अनेक उल्लेखनीय और सार्थक प्रस्तुतियाँ भी सामने आयीं, जिनका जिक्र आगे होगा, लेकिन हमारे शौकिया स्वरूप ने इन्हें गलत ढंग से लिया। यदि ऐसा न होता तो आज हिंदी रंगमंच की स्थिति शायद कुछ और होती और शायद छोटे समूहों में ही सही, हिंदी रंगमंच के अपने दर्शक होते। जिस रंगमंच के पास दर्शक होंगे, उसके लिए किसी भी अन्य माध्यम के समक्ष खड़े रहने में कोई दिक्कत नहीं होगी।

इस संदर्भ में यह सवाल भी है कि हम कैसे रंगकर्म के योग्य हैं ? हिंदी क्षेत्रों का समाज कितना और क्या डिजर्व करता है ? हमारी राजनैतिक, सामाजिक स्थिरता, अस्पष्टता, सामाजिक सोच में व्याप्त दोहरी नैतिकता , हर जगह पिछले रास्ते से प्रवेश की मानसिकता, क्या प्रतिबिम्बित करती है ? क्या ऐसा नहीं है कि इन्हीं सारे भटकावों का शिकार हमारा हिंदी रंगमंच भी आज है ?

भारतीय रंग-परिवेश के संदर्भ में यहाँ उल्लेखनीय है कि पारंपरिक भारतीय रंगमंच और लोक-विधाओं से रूढ़ियों का उपयोग आधुनिक रंगमंच में होता रहा है। लगभग २५-३० वर्ष पहले से ही आधुनिक रंगमंच के क्षेत्रों में जड़ों की तलाश का मुहावरा चल निकला था। हिन्दी रंगमंच और दूसरी भारतीय भाषाओं के मंचों पर भी अनेक उल्लेखनीय रंग-प्रस्तुतियों को याद किया जा सकता है।

रा.ना.वि. में कारंत द्वारा तैयार भारतेन्दु के नाटक 'अंधेर नगरी चौपट राजा', लाल किले के अवशेषों के बीच 'अंधायुग', कारंत द्वारा ही यक्षज्ञान में शेक्सपीयर (बरनम वन) और वंशी कौल एवं मुद्राराक्षस द्वारा तैयार नौटंकी में गोगोल (आला अफसर) आदि प्रस्तुतियाँ रही हैं। इनके अतिरिक्त भी हिन्दी क्षेत्र तथा गैर हिंदी क्षेत्रों में अनेक नाटकों को स्थानीय लोकतत्त्वों और रूढ़ियों के मुताबिक मंचन के प्रयोग पिछले बीस-तीस वर्षों में लगातार किए गए हैं। लेकिन आज के संदर्भ में, जब हिंदी रंगमंच या कि अन्य भाषाई रंगमंच की स्थिति कुछ बेहतर नहीं है, तब प्रश्न सबसे पहले यह उठता है कि आज नाटक संभव कैसे हो ?

नाटक के लिए जिस तरह के उर्वर परिवेश की जरूरत है, उस पर शायद आज पहले सोचने की जरूरत है, न कि इस बात पर कि शास्त्रों में रंगमंच को लेकर किन रूढ़ियों का उल्लेख मिलता है। रंगमंच की सक्रियता बढ़ेगी तभी शास्त्रीय रूढ़ियों का उपयोग भी होगा। शायद आज की सबसे बड़ी जरूरत टी.वी. और अन्य उपग्रह चैनलों पर व्याप्त अप-संस्कृतिमूलक

और तेज संगीत के मनोरंजन के मुकाबले रंगमंच की अपनी पहचान और उसके प्रति रंगकर्मियों और दर्शक-समाज में एक नयी आस्था पैदा करने की है। रंगमंच की अपनी पहचान तभी बनेगी जब वह प्रचलित मनोरंजन-माध्यमों से अलग और कहीं अधिक जीवित हो सके। जाहिर है कि इस प्रयोग में किसी भी तरह की किसी भी रूढ़ि को वर्ज्य नहीं माना जा सकता, लेकिन वहीं तक, जब तक कि एक निश्चित मंतव्य या परंपरा, विचार अथवा व्यवहार को प्रस्तुत करने में यह वाहक अथवा सहयोगी बनती हो। कला की सभी विधाओं में स्वत:-स्फूर्त ढंग से ऐसे प्रयोग हेते रहे हैं। रंगमंच में भी हुए हैं और होंगे। यहाँ आग्रह यह होना चाहिए कि एक निश्चित कथ्य के साथ रूढ़ियों का मिश्रण भी स्वत:स्फूर्तता और सहजता के साथ हो।

संपूर्ण हिन्दी रंगक्षेत्र के लिए यह एक सुखद समाचार ही होगा कि कारंत एक बार पुन:, १९९७ में ही, काशी में एक रंग-कार्यशाला का निर्देशन करने जा रहे हैं, जिसमें वह प्रसाद की कृति 'अजातशत्रु' की मंच-प्रस्तुति तैयार करायेंगे। काशी से कारंत का एक पुराना और आत्मीय लगाव रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग व मंचकला संकाय के छात्र रहे हैं वह। उनके साथ पढ़े उनके सहपाठियों में कथाकार काशीनाथ सिंह और रंग अध्येता, रंगकर्मी कुँवरजी अग्रवाल सरीखे उनके मित्र भी काशी में हैं। जब रंगकर्मी कारंत रा. ना.वि. से अपनी रंगदीक्षा पूरी करने के बाद स्वतंत्र रूप से रंगकार्यशालाओं को दीक्षित करने का कार्य कर रहे थे, तब १९७२ में उन्होंने उ.प्र. संगीत नाट्य मंडली के आमंत्रण पर यहीं एक कार्यशाला को निर्देशित भी किया था, जिसमें उन्होंने पहली बार जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' की तैयारी करायी थी और मंचन किया था। काशी नगर से अपने विशिष्ट लगाव और यहाँ की रंगमंचीय संभावनाओं को गंभीरता से लेने के कारण ही उन्होंने १९८४-८५ में जब 'भारत-भवन' में प्रसाद का दूसरा महत्वूपर्ण नाटक 'स्कंदगुप्त' तैयार कराया तो उसकी प्रस्तुति के साथ उन्होंने काशी की यात्रा भी की। मंचकला संकाय में बनाए गए भव्य मंच पर 'स्कंदगुप्त' की उस प्रस्तुति की याद अब भी यहाँ के रंगप्रेमियों को है। कारंत का यह काशी-आगमन इसी दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण अवसर होगा, एक घटना होगी। आज के समय में कैसी रूढ़ियों का कितना उपयोग मंच पर प्रासंगिक होगा, यह कारंत की इस प्रस्तुति से भी ध्वनित होगा। उम्मीद यह भी की जाती है कि 'अजातशत्रु' की यह प्रस्तुति पूरे हिन्दी रंगक्षेत्र के रंगपरिवेश में एक नयी आस्था पैदा करने में सक्षम होगी।

सांस्कृतिकी

गायकी की लोक-परम्परा ख्याल लावनी

डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी

ख्याल लावनी लगभग ३००-४०० वर्ष प्राचीन गायकी की परम्परा है। इसका आरम्भ १७०० ई. के आसपास स्वीकारा गया है। लावनी की यह परम्परा मूलतः केरल की थी। किन्तु इसे पुष्ट स्वरूप महाराष्ट्र के 'तमाशा' मंच पर प्राप्त हुआ। वहाँ से हिन्दी-क्षेत्र में आने के कारण इस विधा को 'मरेठी', 'मराठी' या 'मरइठ्ठी' भी कहा जाता है।

लावनी के सूत्रपात का श्रेय दो महापुरुषों को है- तुकुनगिरि एवं शाहअली। इनके अविर्भाव का समय भक्तिकाल के बाद का है। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारतीय जनता के बीच आई दूरी को पाटने का प्रयास पुनः आरम्भ हुआ। 'लावनी' इस दूरी को पाटने में सबसे उपयुक्त उपकरण बनी। ये दोनों महापुरुष 'चंग' बजाकर लावनी गाते थे और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। ये दोनों शिव और शक्ति के गायक थे। तुकनगिरि को कुछ विद्वान 'दसनामी' सम्प्रदाय से भी जोड़ते थे। शाहअली को सूफी के रूप में स्वीकार किया गया। ये वस्तुतः 'ब्रह्मलीनी' थे। इनके मत निर्गुणिया संतों के अधिक निकट हैं।

लावनी अथवा ख्यालगोई की दो परम्पराएँ विकसित हुईं-'तुर्रा' और 'कलंगी' ये दोनों परम्पराएँ महात्मा तुकनगिरि और शाहअली ने विकसित की। इन दोनों की आपसी होड़ चलती थी और प्रतियोगिता में अपने से श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास करते थे। जनश्रुति है कि "३००-४०० वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के किसी मराठा-दरबार में महाराज ने लावनी के गाने से प्रसन्न होकर सूफी फकीर शाहअली को सोने की रत्नजड़ित कलगी तथा महात्मा तुकुनगिरि को रत्नजड़ित तुर्रा (झब्बा) पुरस्कार में भेंट किया था। बस, इन दोनों साधुओं की शिष्य मंडली मे कलगी तथा तुर्रा गाने की जमातें जमने लगीं।'' ये शिष्य परम्परा धीरे-धीरे पूरे उत्तर भारत में फैली, विशेष स्थान बनाया इसने राजस्थान में। किन्तु मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और पंजाब में भी इनकी शिष्य परम्परा विकसित हुई।

इस विधा के दो विशिष्ट नाम प्रचलित हुए- लावनी और ख्याल। व्युत्पत्ति कोशकार ने लावनी की उत्पत्ति 'लापनिका' से मानी है। "मराठी विचारक सहस्रबुद्धे के अनुसार भी 'लावनी' शब्द 'लापनिका' से बना है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'लावणी' व 'लावनी' शब्द महाराष्ट्र और हिन्दी क्षेत्र में 'लवनी' करते समय गाया जाने वाला प्रचलित गीत है। इस तर्क को भी अस्वीकार कर दिया गया है। वस्तुतः 'लावणी' या 'लावनी' शहरी है, यह गांव से कभी

जुड़ा नहीं रहा है। इसके लावनी या लावणी नाम का सम्बन्ध लावण्य से है–ऐसा मराठी के आलोचक अच्युत बलवन्त कोल्हेटकर ने माना है। यही लावनी महाराष्ट्र से हिन्दी क्षेत्र में आयी।

इसी लावनी को लावनी से ज्यादा प्रसिद्ध ख्याल नाम मिला। 'ख्याल' शब्द लावनी के पहले से ही साहित्य के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त कर विविध अर्थों में प्रचलित था। सोचना, ध्यान, याद, क्रीड़ा आदि से सम्बन्धित अर्थ भक्ति साहित्य में काफी पहले से सार्थकता प्राप्त कर चुका था। लावणी की होड़, प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता, फटकेबाजी के साथ-साथ जब विभिन्न हिन्दी क्षेत्र के लोक नाट्य मंचों से इसका जुड़ाव बना तो 'लावनी' के साथ-साथ 'ख्याल' नाम अधिक प्रचार में आ गया। राजस्थान में ख्यालमंच है, मध्यप्रदेश का 'माच' ख्याल मंच के रूप में ही जाना जाता है, जिस पर लावनी को एकछत्र अधिकार प्राप्त है। उत्तर प्रदेश में भगत, स्वांग आदि में भी ख्याल नाम ही सार्थकता प्राप्त करता रहा है। भगत, स्वांग आदि का ही सम्मिलित नाम नौटंकी है। नौटंकी मंच पर जब तक ख्याल लावनी का गायन प्रचलित रहा है इसकी गंभीरता और गुरुता बनी रही।

लावनी गायन में विषयवस्तु और विकासक्रम की दृष्टि से अनेक आयाम आये। एकेश्वरवादी चिंतन पद्धति में इसके तुर्रा और कलंगी दोनो सम्प्रदायों के लोग चले। नाथपंथियों का भी प्रभाव तुकनगिरि पर था- शिववादी थे ही, कबीर का एकेश्वरवाद भी उनमें था। तुकनगिरि तुर्रा को भगवा रंग में रंगकर अपने चंग को सजाकर गायन करते थे। सूफी संत शाहअली मुसलमान थे और इस्लाम धर्म में हरा रंग प्रचलित है अत: वे कलंगी को हरे रंग में रंगकर चंग पर चढ़ाकर गायन करते थे। नाथपंथी मत के प्रभाव के कारण जहाँ ब्रह्मज्ञान की चर्चा तुकुनगिरि के गीतों में मिलती है, वहीं सूफी फकीर होने के साथ शाहअली नाथों, सिद्धों से भी प्रभावित थे इसलिए उन्होंने कलंगी को शक्ति के प्रतीक के रूप में अपनाया और अपने गीतों को भारतीय भावना से परिपूर्ण कर गायन किया। तुकनगिरि एवं शाहअली के समय और काफी बाद तक भी शिव और शक्ति की दार्शनिक व्याख्या लावनी गीतों में प्राप्त होती है, किन्तु अब प्रतिस्पर्द्धा में चलने वाली 'फटकेबाजी' ने अपना जो स्वरूप धीरे- धीरे विकसित किया उसमें दर्शन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का लोप होता चला गया। शिव और शक्ति का यह प्रसंग आज 'फटकेबाजी' में जिस रूप में प्राप्त होता है, वह यह है-

तुर्रा- अखाड़ा है रंगलालों का, बाजे चंग तुर्रे वालों का।

कलंगी- बजे कलंगीवालों का चंग, हुए मजनूं सुन दुश्मन दंग।

कलंगी वाले कलंगी को आदि शक्ति, अविवाहित और परम शक्ति मानते हैं। इस पर तुर्रे वालों का प्रश्न है-

तुर्रा: माया में है ब्रह्म, ब्रह्म में माया है सुन मूढ़मती।
बिना ब्रह्म के बता हमें तू अलग कहाँ तक रही सती।।

इस पर तुर्रा की खिल्ली उड़ाते हुए कलंगी वाले कहते हैं-

निराकार गर कहे तो झूठा, कोई नहीं उसका अवतार।

तुर्रा हुआ है कहाँ से पैदा, तुर्रा क्या चीज हैगा यार।।

'लवनी' में जहाँ दार्शनिक भावों-विचारों को स्थान मिला है उन्हें ख्याल की भाषा में वेदान्त कहा गया है- उदाहरणार्थ-

तू शुद्ध चैतन्य नित्य मुक्त और अचल सनातन अजर अमर है
भई अविद्या से जीवन संज्ञा, तो ध्यान सरबस गया बिसर है (उस्ताद नत्थासिंह)

भक्ति, अवतारवाद, पुराणकथाओं तथा उपदेशात्मक, ऐतिहासिक, इश्क सम्बन्धी, सिन्द्र, इस्लामी दर्शन संस्कृति, इतिहास को समाहित करने वाली रवायतें, नारी सौन्दर्य सम्बन्धी ऋतुवर्णन, नखशिखवर्णन सम्बन्धी पारिवारिक, सामाजिक एवं नित्य जीवन के क्रिया-कलाप लावनियों के विषय रहे हैं। यही नहीं, स्वदेशी आन्दोलन, स्वतंत्रता के आन्दोलन सम्बन्धी सत्याग्रह के गीत भी लावनीकारों ने लिखे हैं।

ख्याल या लावनी का लेखन सर्वाधिक इश्क के बारे में है। यह इश्क लौकिक भी है और पारलौकिक भी। तुर्रा और कलंगी दोनो पक्षों ने इश्क पर बेशुमार लिखा है। सूफीमत में इश्क मार्फत अत्यन्त महत्वपूर्ण है-

मजा कुछ इसी में आया जी।
किया मजाजी इश्क हकीकी यार को पायो जी।। (पं. हरिवंशलाल)

लावनी ने अपना पूरा काव्यशास्त्र विकसित किया है। लावनीकारों ने अपनी शिष्य परम्परा में क्रमशः छन्द ज्ञान दिया और यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होता रहा। इस प्रक्रिया को लावनीकार रंगत की पट्टी पढ़ाना कहते हैं, जिन्हें मश्क करके नए लेखक रंगतें लिखते हैं। इन रंगतों में हिन्दी पिंगल, उर्दू की मसनवी तथा संस्कृत के वृत्त और लोकछन्द आते हैं।

लावनी के नाम से भी सम्बोधित होने वाला २२ मात्राओं का 'राधा' छंद छोटी रंगत में आता है। ३० मात्राओं का ताटंक छन्द 'बड़ी रंगत' कहलाता है। वहरेतवील संस्कृत का सृग्विणी छंद ही है। उर्दू की गजलें, शेर लावनी में अपने नये नामों के साथ शामिल हैं। जहाँ गजलें हैं वहाँ नाम दिया 'रंगत गजल'। शेर को खमसा या खमचा नाम दिया। अनेक प्रकार के छंदों और धुनों को उल्टा-सीधा करके जो बनाया गया, उसे 'बची रंगत' नाम दे दिया गया।

इसके साथ ही रसों और अलंकारों का प्रयोग भी लावनी में लावनीकारों ने किया है।

तुही रूप की राशि विरंचि रची, चित और चपल चपला रछनी।
चम्पक बरनी मुनिमन हरनी, रतिनाथ विमोहिनी, शशिबदनी।।

अनुप्रास और उत्प्रेक्षा लावनी के सौन्दर्य को प्रकाशित करते रहे हैं। आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं पं. प्रतापनारायण मिश्र सरीखे साहित्यकारों का 'लावनी' को एक साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित करने में अनुपम योगदान रहा है। लावनी को न केवल साहित्यिक स्वरूप और उसका वैशिष्ट्य ही प्राप्त है, अपितु अनेक लावनीकारों ने अनेक साहित्यिक विद्वानों तथा अच्छे-अच्छे साहित्यकारों का मार्गदर्शन भी किया। पं. शम्भूदास (सं. १९०७), पं. अम्बा प्रसाद(सं.१९१७),ब्रह्मगिरि (सं.१९२०), तुलसीराम शर्मा निदेश(सं. १९५३),

गुरु मंगासिंह (सं. १८५०), सुखलाल (सं. १८६०) आदि लावनीकार इसी कोटि में आते हैं।

हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र की विशालता के कारण ही लावनी दक्षिण से उत्तर की ओर उन्मुख हुई तो पूरे हिन्दी क्षेत्र में पसरी और अपनी रचनाओं में उस क्षेत्र की तत्कालीन साहित्यिक भाषा को अंगीकार किया। लावनी के भौगोलिक इतिहास से स्पष्ट है कि यह शहरी क्षेत्र की और विशेष रूप से शहर की मध्यवर्गीय जनता की कला है, इसलिए नगरों की साहित्यिक भाषा को इसने अपनाया। यही नहीं इसके अलावा फारसी, अरबी, अंग्रेजी, उर्दू तक में लावनीकारों ने लावनियाँ लिखीं। मन की मौज में अंग्रेजी भाषा में भी कुछ ख्याल लिखे गये हैं। ऐसे भी ख्याल हैं जिनमें फारसी, हिन्दी और अंग्रेजी का एक साथ प्रयोग किया गया है।

फारसी: लुत्फ कुन लुत्फ लो वर मन अयदिलदार, शुदम व हिजरतख्वार।

हिन्दी: दयालू तू भयभंजन सुखसागर निज जन जान कृपाकर।
नाथ तव हाथ रहे नित सुयश अपार, शुदम व हिजरत ख्वार।।

अंग्रेजी: कैन यूँ गेट ईज यू डोन्ट नियर देयर इज माई डियर
आई यू लो माई फ्रेन्ड एण्ड यू आर फ्राम मी वेरी फार
शुदम व हिजरतख्वार।।

(डॉ. रामनारायण अग्रवाल की पुस्तक हिन्दी ख्याललावनी परम्परा से साभार)

राजस्थानी, ब्रज आदि भाषाओं का प्रयोग भी क्षेत्रीय लावनीकारों ने अपनी लावनियों में बखूबी किया है।

ख्याल में दंगलों की परम्परा रही है, इसके कई सोपान हैं। पहले 'सखी दौड़' होता है, इसमें एक पक्ष अपने इष्ट की वन्दना करता है फिर अपने दल की प्रशंसा करता है, इसके बाद दूसरा पक्ष अपना गायन प्रारम्भ करता है। प्राय: वन्दना एवं मंगलांचरण के समय संयम बरतने का रिवाज है किन्तु कभी-कभी कोई-कोई पक्ष इस समय भी पटकेबाजी का कार्यक्रम शुरू कर देता है। दूसरी परम्परा 'लड़ंत' की है, इस क्रिया-व्यापार में चौक से चौक लड़ाए जाते हैं, टेकें भी लड़ाई जाती हैं- मतलब एक पक्ष जब कोई टेक बोले तो दूसरे पक्ष की ओर से वैसे ही टेकें बोली जाती हैं। ख्यालों के बीच-बीच में दो-दो लाइनों की टेकें बीच में गायी जाती हैं। जब लगातार टेकों का लड़ाना चलता रहता है या कभी-कभी पूरे के पूरे ख्यालों के जबाब में ख्याल चलने लगते हैं तो उसे 'जबाबी-गाना' कहते हैं। 'फटकेबाजी' का भी प्रयोग होता है। ख्याल में जब कोई गर्वोक्ति होती है तो दूसरा पक्ष उसे काटकर उससे बड़ी गर्वोक्ति करता है और यह लगातार चलता रहता है, इसे 'फटकेबाजी' कहते हैं। फटकेबाजी में घात-प्रतिघात खूब होता है। 'तुर्रा' और 'कलंगी' वाले दंगलों में अपने-अपने निशान और मंडली की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिये बीच में प्रशंसात्मक और दूसरे को नीचा दिखाने वाले ख्याल भी गाते रहते हैं।

आगरा के आसपास दो नाट्य परम्पराओं का विकास अकबर के जमाने में हुआ। एक भगतियों की परम्परा थी जिसमें बहुरुपियायी वस्त्र पहनकर असाधारण वातावरण की सृष्टि की जाती थी। दूसरी परम्परा कीर्तनिया ब्राह्मणों की थी जो बच्चों को गोपियों के रूप में सजाकर

कृष्ण-चरित्र गाते थे। पहला रूप लोकनाटक के रूप में विकसित हुआ, जिसमें हिन्दू-मुसलमान सभी शामिल थे। ये भगतिये कहलाए। दूसरा रूप रासधारियों के रूप में विकसित हुआ। विकसित होकर भगत ने नया रूप धारण किया और पुराना रूप 'भडुआ भगत' हो गया। नया 'भगत' जो विकसित हुआ उसी ने ही राजस्थानी ख्याल मंच को जन्म दिया। यही परम्परा उत्तर प्रदेश में भी विभिन्न नगरों एवं कस्बों में फैली। हाथरस में यही स्वांग के रूप में विकसित हुई, कानपुर में नौटंकी के रूप में विकसित हुई। किन्तु राजस्थानी के ख्याल, आगरा के भगत और हाथरस के स्वांग तथा कानपुर की नौटंकी में शुरू से ही भेद यह रहा है कि आगरा, मथुरा, वृन्दावन व कानपुर में यह चौबोला गायकी को माध्यम बनाकर चला जबकि राजस्थान, हरियाणा पंजाब, मालवा आदि का यह रूप ख्याल गायकों की पृथक् धुनों और गीतों के माध्यम से विकसित हुआ जिसमें चौबोला था। उत्तर प्रदेश से बाहर इस मंच पर केन्द्रीय हिन्दी बोलियों को स्थान मिला।

ख्याल के मंच चतुर्मुखी अर्थात् चारों ओर से खुले हुए, त्रिमुखी अर्थात् तीन ओर से खुले हुए, मंडपीय अर्थात बांसबल्ली गाड़कर मंडप सजाकर बनाये गए मंच, अट्टालिका मंच- विशेष प्रतिष्ठित लोगों को ध्यान में रखकर बनाए गए मंच तथा तुर्रा कलंगी मंच- जिसमें दो तरफ ऊँचाई पर मंच बनाया जाता था, बीच में सीढ़ी से नीचे आकर चंग बजाकर अपना ख्याल प्रस्तुत करने का विधान है आदि- अनेक प्रकार के मंच बनाये गये। ख्याल की प्रस्तुति में पूर्वरंग और कथागायक द्वारा कथावस्तु की सूचना देने का प्रयोग होता था। पूर्वरंग की स्थापना संस्कृत के रंगमंच की तरह नहीं होती किन्तु दर्शकों को प्रदर्शन देखने के अनुरूप विकसित करने के लिये ऐसे वातावरण की सृष्टि करने के लिये पूर्वरंग का स्वनिर्मित विधान इन प्रदर्शनों में होता था।

उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर, जौनपुर से कानपुर तथा आगरा से सीधा व्यापारिक सम्बन्ध रहा है इसलिये गायकी की यह परम्परा इन जिलों में संक्रमित हुई और लोकप्रिय हो गयी। बाबा बनारसीदास, सत्यनारायण आदि के अतिरिक्त भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमधन ने भी लावनियाँ लिखीं और गायीं। यही नहीं मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जी ने भी लावनियाँ लिखीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुकनगिरि को मिर्जापुर का ही माना है। शुक्लजी के इस मत से कि तुकनगिरि मिर्जापुर के निवासी थे, सहमत होना कठिन है।

जौनपुर में भी आसी और नजफ की परम्परा रही है। आसी परम्परा के कलाकारों में रामस्वरूप, गुलाम हुसैन, मिश्रीलाल, मुहम्मद हनीफ मुख्य हैं। नजफ परम्परा में मंसूर, हसन, अब्दुल सत्तार, अब्दुल वहीद मुख्य हैं। लावनी रचनाकारों के रूप में हकीम जाफर, हकीम अलीहसन, माताप्रसाद, अनंतराम कुशवाहा, मन्ना मौर्य, हकीम कित्तन, असरफ शायर इत्यादि मुख्य हैं। मजेदार बात यह है कि ये कलाकार भी तुर्रा और कलंगी की लावनी गाते हैं। सारे देश के लोग अपने को तुकनगिरि और शाहअली की परम्परा से जोड़ते हैं जबकि ये स्वयं को आसी और नजफ की परम्परा का मानते हैं।

पूरी हिन्दी जाति के बीच पुष्पित, पल्लवित हुई सामाजिक सद्भाव की लावनी-गायन की परम्परा पिछले ३०-४० वर्षों से लुप्त हो चली है, यह चिन्ता का विषय है।

इस अंक के रचनाकार

अजामिल : कवि, चित्रकार, छायाकार एवं रंगकर्मी। कविताएँ सभी महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित। जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित 'त्रयी' के एक कवि। सम्प्रति 'समकालीन मुक्तिबोध' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन। सम्पर्क : ५६२ मालवीय नगर, इलाहाबाद।

अष्टभुजा शुक्ल : कवि एवं ललित निबन्धकार। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का प्रकाशन। सम्प्रति साहित्यिक पत्रिका 'अतिक्रमण' का सम्पादन। सम्पर्क : संस्कृत महाविद्यालय चित्राखोर, बरहुआ, बस्ती।

अमरीक सिंह दीप : चर्चित कथाकार। 'कहाँ जाएगा सिद्धार्थ' (कहानी संग्रह) के अलावा 'शाने पंजाब' व 'ऋतुनगर' (अनुवाद)। अब तक सत्तर से भी ज्यादा कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : १२०/४३२, लाजपत नगर, कानपुर-२०८००५

डॉ. इरावती : प्राचीन भारतीय नाट्य-कला पर विशेष कार्य। नाट्यालेखन और रंग निर्देशन। सम्प्रति : विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इतिहास एवं संस्कृति, ब.म.म.वि., राजघाट, वाराणसी

ओम भारती : युवा कवि, कथाकार एवं समीक्षक। 'एक पल का रंज' (कहानी-संग्रह) के अलावा 'कविता की आँख' एवं 'इस तरह गाती जुलाई' (कविता संग्रह) प्रकाशित। पैनी समीक्षाओं के लिए विशेष चर्चित। संपर्क : २२१०/५ए, राइट टाउन, जबलपुर-४८२००२

डॉ. ओम निश्चल : कविता-समीक्षा एवं काव्यानुवाद के क्षेत्र में एक सक्रिय हस्ताक्षर एवं भाषाकर्मी। 'शब्द सक्रिय हैं' (कविता संग्रह) एवं 'द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी : सृजन और मूल्यांकन' (आलोचना) के अलावा प्रयोजनमूलक हिन्दी से सम्बन्धित 'व्यावसायिक हिन्दी' तथा 'बैंकिंग वाङ्मय' (पांच खण्ड) का प्रकाशन। तत्सम शब्दकोश (सहलेखन) एवं 'द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी रचनावली (तीन खण्ड) का सम्पादन। सम्पर्क : जी १/५०६ ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली-११००५६

कुमार विजय : रंग-कला समीक्षक एवं मीडियाविद। कला एवं रंगकर्म की गतिविधियों पर पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर लेखन। सम्प्रति दृश्य माध्यम 'सिटी केबल' से सम्बद्ध। सम्पर्क : सिटी केबल, आज भवन, कबीरचौरा, वाराणसी।

डॉ. गायत्री शुक्ल : शिक्षिका, रचनाएँ पत्र- पत्रिकाओं में प्रकाशित। 'भारतीय युगीन काव्यादर्श एवं प्रेमघन का काव्य' विषयक शोध। संपर्क : प्राध्यापिका (हिन्दी), आन्ध्र एजुकेशन सोसायटी सीनियर सेकेन्डरी स्कूल, प्रसाद नगर, करोल बाग, नई दिल्ली-११०००५

डॉ. चन्द्रकला त्रिपाठी : सुपरिचित कवयित्री एवं समीक्षिका। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताओं, समीक्षाओं के अलावा कविता संग्रह 'बसन्त के चुपचाप गुजर जाने तक' तथा 'अज्ञेय और नयी कविता' (आलोचना) प्रकाशित। सम्पर्क : ८ टीचर्स फ्लैट, का.हि.वि.वि. परिसर, वाराणसी।

डॉ. चन्द्रबली सिंह : वरिष्ठ आलोचक। काव्यानुवाद के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य। 'लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य' (आलोचना) तथा 'हाथ' (नाजिम हिकमत की कविताओं का अनुवाद) प्रकाशित। जनवादी लेखक सघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष। सम्पर्क : १० विवेकानन्द नगर, वाराणसी।

ज्ञानेन्द्रपति : समकालीन हिन्दी कविता के जाने-माने कवि। 'आँख हाथ बनते हुए' और 'शब्द लिखने के लिए ही यह कागज बना है'- दो कविता-संग्रह प्रकाशित। सम्पर्क : बी ३/१२, अन्नपूर्णा नगर कालोनी, विद्यापीठ मार्ग, वाराणसी।

डॉ. देव : कवि, लेखक, भारत विद्याविद्। हंस, उत्तरार्द्ध, पहल जैसी अनेक महत्वपूर्ण पत्रिकाओं, शोध पत्रिकाओं में रचनाएँ तथा शोध पत्र प्रकाशित। 'मृत्युंजय की पदचाप' (कविता पुस्तिका), 'प्रामाणिक हिन्दी व्याकरण' प्रकाशित। 'आज : उद्‌भव और विकास' (तीन खण्ड) का संपादन। सम्पर्क : ५७६ महामनापुरी, वाराणसी।

देवेन्द्र इस्सर : सुपरिचित आलोचक, मीडियाविद एवं संस्कृतिकर्मी। हिन्दी उर्दू पंजाबी और अंग्रेजी में ३५ से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित, जिनमें उपन्यास और कहानी के अतिरिक्त समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और मीडिया टेक्नोलाजी विषयक आलोचनात्मक, गवेषणात्मक पुस्तकें शामिल। सम्पर्क : बी ३/१५३, जनकपुरी, नयी दिल्ली-११००५८।

धूमिल : समकालीन कविता के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर। उनके खास लहजे की प्रभावी छाप हिन्दी कविता पर आज भी बरकरार। जीवनकाल में एकमात्र कविता-संग्रह 'संसद से सड़क तक' प्रकाशित। 'कल सुनना मुझे' और 'सुदामा पांडे का प्रजातंत्र' दो अन्य कविता संग्रह।

डॉ. पुष्पिता : कविता, कहानी और निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में सक्रिय। अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद भी प्रकाशित। सम्पर्क : विभागाध्यक्ष, हिन्दी, बसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी।

प्रकाश उदय : हिन्दी, भोजपुरी में कविता, कहानी के क्षेत्र में एक पहचाना नाम। 'बेटी मरे त मरे कुंआर' (भोजपुरी कविता-संग्रह) प्रकाशित। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेखन। सम्पर्क : प्रवक्ता हिन्दी, श्री बलदेव डिग्री कालेज, बड़ा गांव, वाराणसी।

डॉ. प्रकाशमनु : कवि, कथाकार, समीक्षक। 'कविता और कविता के बीच' और 'छूटता हुआ घर' (कविता-संग्रह) के अलावा 'यह जो दिल्ली है' तथा 'कथासर्कस' (उपन्यास), 'अंकल को विश नहीं करोगे !' (कहानी-संग्रह) और 'कहो कहानी पापा' (बाल कहानियाँ) तथा अन्य कतिपय कृतियाँ प्रकाशित। संपर्क : ५४५ सेक्टर २६, फरीदाबाद (हरियाणा)।

प्रेमरंजन अनिमेष : युवा कवि। कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रकाओं में प्रकाशित। कविता के लिए १९९४ के कन्हैया स्मृति पुरस्कार से सम्मानित। सम्पर्क : जिजीविषा, विवेक विहार, हनुमान नगर पटना-८०००२०

बदीनारायण राव : लेखन मे हाल ही में प्रवेश। साहित्य के अध्ययनशील पाठक एव चिन्तक। पहली बार काशी प्रतिमान मे प्रकाशित। सम्पर्क प्रबन्धक (अग्रिम) इलाहाबाद बैंक, मण्डलीय कार्यालय, नदेसर वाराणसी-२२१००२

डॉ. बलराज पाण्डेय : कवि, समीक्षक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे कविताएँ एवं आलेख प्रकाशित। 'कहानी आन्दोलन की भूमिका' (आलोचना) प्रकाशित। सम्पर्क : रीडर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी।

ब्रजराज त्रिपाठी : कवि, चित्रकार। कई चित्र प्रदर्शनियों का आयोजन करके चर्चित। रेखांकन प्रतियोगिताओं मे अनेक बार प्रथम पुरस्कार से सम्मानित। सम्पर्क : कलाध्यापक, नवोदय विद्यालय, भोगाव, मैनपुरी, उ. प्र.।

बालेन्दुशेखर तिवारी : व्यंग्य-लेखन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित नाम। व्यंग्य से सम्बन्धित विवेचन-कर्म। कई पुस्तकें प्रकाशित। प्रतिनिधि व्यग्य रचनाओं का सम्पादन भी। सम्पर्क : हरिहर सिंह रोड, मोराबादी, रॉची-८३४००८, बिहार।

बोधिसत्व : आज की कविता का पहचाना नाम। 'सिर्फ कवि नही' (कविता-सग्रह) प्रकाशित। मूर्ति-संरचना में भी निष्णात। सम्पर्क : उपसम्पादक, अमर उजाला, कानपुर।

मदन कश्यप : सुपरिचित कवि, समीक्षक। 'गूलर के फूल नही खिलते' (काव्य पुस्तिका) के अलावा 'लेकिन उदास है पृथ्वी '(कविता-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : सहायक प्रबन्धक (राजभाषा), भारत वैगन, मौर्यलोक, खण्डगा पटना।

डॉ. याकूब यावर : सुपरिचित शायर। शायरी की एक किताब 'अलिफ' एवं लेखों का एक संग्रह 'इमरोज' प्रकाशित। अनेक अंग्रेजी उपन्यासों का उर्दू में अनुवाद। सम्पर्क : प्रवक्ता, उर्दू विभाग, बसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी।

रमेश कुमार त्रिपाठी : सुपरिचित हाइकू कवि। 'मन के बोल' एवं 'अनुभूति कलश' हाइकू कविताओं के संग्रह प्रकाशित। सम्पर्क : ५ नन्दनगर, बी.एच.यू. वाराणसी।

राजेन्द्र राजन : युवा कवि। पत्र-पत्रिकाओं में अनेक कविताएँ प्रकाशित। 'यह ऐसा समय है' तथा अन्य कविता संकलनों में कविताएँ संकलित। संप्रति 'सामयिक वार्ता' का सम्पादन। संपर्क जे ११/५० नई बस्ती, ईश्वरगंगी वाराणसी।

डॉ. रामदरश मिश्र : सुप्रसिद्ध कवि, कथाकार, आलोचक एवं निबन्धकार। दस कविता-संग्रह, ग्यारह उपन्यास, छह कहानी-संग्रह के अलावा ललित निबन्ध, आत्मकथा, यात्रावृत्त और आलोचना आदि विधाओं में अनेक पुस्तकें। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : आर, ३८ वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-११००५९

रामदेव सिंह : सुपरिचित कथाकार। कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एवं चर्चित। साहित्यिक पत्रिका 'कारखाना' के कथा-विशेषांक के अतिथि सम्पादक। संपर्क ११११ सी. डी. इण्डियन इन्स्टीट्यूट कॉलोनी, मुगलसराय, वाराणसी -२३२१०१

डॉ. रामविलास शर्मा : हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक, साहित्यकार, मार्क्सवादी चिन्तक एवं प्रख्यात भाषाविद तारसप्तक के एक कवि। इतिहास, दर्शन, राजनीति, हिन्दी भाषा और भाषा विज्ञान, आलोचनात्मक तथा साहित्यालोचन सम्बन्धी अनेक पुस्तको के अलावा अनेक निबन्ध सकलन, कविता संग्रह, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, रेखाचित्र एव आत्मकथात्मक कृतियाँ प्रकाशित। अंग्रजी मे भी अनेक पुस्तकें। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। सम्पर्क सी ३५८, विकास पुरी, नई दिल्ली-११००१८।

डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी : नाट्य समीक्षक। 'नाटक के रंगमचीय प्रतिमान', 'रस और रस परम्परा' पुस्तको के अलावा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नाट्य समीक्षाएं प्रकाशित; सम्पर्क : हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्याम कश्यप : सुप्रसिद्ध कवि, समीक्षक एवं इतिहासविद्। 'जनयुग', 'दैनिक जागरण', 'दैनिक भास्कर' तथा 'लोकमत' ग्रुप के समाचार पत्रों से वर्षो तक सम्बद्ध। 'पहल' के फासीवाद विरोधी विशेषांक के सम्पादन के अलावा सहयोगी सम्पादन-मण्डल के साथ 'परसाई रचनावली' का सम्पादन; 'गेरू से लिखा हुआ नाम' (कविता-संग्रह), 'मुठभेड़' (आलोचना) प्रकाशित। सम्पर्क : सी ३/१३ माडल टाउन-३, दिल्ली-११०००९

डॉ. सुरेश्वर त्रिपाठी : पत्रकार, लेखक एवं छायाकार। कई वर्षो से 'काशी प्रतिमान' अखबार का सम्पादन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ एवं छायाचित्र प्रकाशित। पीत पत्रकारिता के विरुद्ध मुहिम छेड़ने वाले पत्रकार। सम्पर्क द्वारा काशी प्रतिमान, बी १/८४ डी, अस्सी, वाराणसी।

डॉ. सोहन शर्मा : कवि, कथाकार, आलोचक एवं भाषाकर्मी। 'बर्फ का चाकू', 'विकल्प के पक्ष में', 'अपनी जगह पर' (कविता-संग्रह) 'गीली लकड़ियों का गट्ठर', 'आधे उखड़े नख की पीड़ा' (कहानी-संग्रह), 'मीणाघाटी' (उपन्यास) एवं 'भारतीय बैंकिंग व्यवस्था और राज भाषा हिन्दी' शीर्षक ग्रन्थ सहित अनेक पुस्तकें प्रकाशित। सम्पर्क : ए/१२, दीपसागर, रीजेन्सी होटल के सामने, अन्धेरी (पूर्व) मुबई-४०००६६।

हरिओम राजोरिया : युवा कवि एवं रंगकर्मी। 'यह एक रास है' (कविता-पुस्तिका) प्रकाशित। आज की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में कविताएँ तथा कुछ कहानियाँ प्रकाशित। सम्पर्क · लम्बरदारगली, विदिशा रोड, अशोक नगर, गुना-४७३३३१।

हरे कृष्ण झा : महत्वपूर्ण कवि। मैथिली एवं हिन्दी मे कविता और आलोचनात्मक लेखन। पत्र-पत्रिकाओं मे कविताएँ प्रकाशित। 'धूप की एक विराट नाव' (कविता-पुस्तिका) प्रकाशित, अनुवाद में गहरी रुचि एव संलग्नता। लम्बे अरसे तक सृजन-विरत रहने के बाद इधर लेखन मे पुनः सक्रिय। सम्पर्क मार्फत- चन्द्रेश्वर प्रसाद यादव, रघुनाथ टोला, अनीसाबाद, पटना-८०००२

हेमंत शेष : हिन्दी के महत्वपूर्ण कवि। 'जारी इतिहास के विरुद्ध', 'घर-बाहर', 'आप को यह जानकर प्रसन्नता होगी', 'नींद में मोहनजोदड़ो', 'अशुद्ध सारंग', 'वृक्षों के स्वप्न' (सभी कविता-संग्रह) प्रकाशित। संप्रति 'कला प्रयोजन' का सम्पादन। सम्पर्क सी ८ पृथ्वीराज मार्ग सी स्कीम, जयपुर-३०२००१

काशी प्रतिमान के आजीवन सदस्य

१– श्री ईश्वर चन्द्र, बी १/५७ ए, अस्सी, वाराणसी।
२– श्री ब्रजराज त्रिपाठी, बी १/८४ डी, अस्सी, वाराणसी।
३– संजय बुक सेन्टर, गोलघर, वाराणसी।
४– श्री भूपेन्द्र मिश्र, के ६२/७२, बुलानाला, वाराणसी।
५– श्री अजय कुमार मोदी, डी ११/७, कोतवालपुरा, बांसफाटक, वाराणसी।
६– श्री रमेश दुबे (पूर्व मंत्री–महाराष्ट्र सरकार), ६ बी, लक्ष्मी स्टेट, वर्मा नगर, अंधेरी पूर्व, मुम्बई।
७– डॉ. वी. एस. त्यागी, आर–६, हैदराबाद कालोनी, का.हि.वि.वि.।
८– राजेश एजेन्सी, होटल अनूप बिल्डिंग, गिरिजाघर, गोदौलिया, वाराणसी।
९– श्री रविशंकर शुक्ल, बी–१, जोधपुर कालोनी, का. हि. वि० वि., वाराणसी
१०– श्री राकेश कुमार सिंह राघव, द्वारा श्री छोटे सिंह, ग्रा.–नरौली, मो. मक्कूपुरा, मुरादाबाद।
११– श्री कृष्ण कुमार शुक्ल, २६ ए, रामगंज, पक्का तालाब, फतेहपुर।
१२– श्री ओमप्रकाश, ग्रा.–गुलाबपुर, पो.–जफराबाद, त.–बिन्दकी, फतेहपुर।
१३– श्री राजेन्द्र प्रसाद पटेल, ग्रा.–चन्देलन का पुरा, पो.–डीहा बरछना, इलाहाबाद।
१४– श्री राजाराम गुप्ता 'चंक', म.नं.–६०/६३, चंदियाना, फतेहपुर।
१५– श्री अभय कुमार गुप्ता, आकर्षण परिधान सेन्टर, चौगलिया, फतेहपुर।
१६– श्री रामस्वरूप जायसवाल, स्टेशन रोड, बांगरमऊ, उन्नाव।
१७– श्री ज्ञान प्रकाश जायसवाल, राजेन्द्र क्लाथ स्टोर, बांगरमऊ, उन्नाव।
१८– डॉ. एन. जी. चक्रवर्ती, मेसर्स ग्रे एण्ड कम्पनी, जी.टी. रोड, फतेहपुर।
१९– श्री नन्दकिशोर, २६ ए, रामगंज, पक्का तालाब, फतेहपुर।
२०– श्री मनोज कुमार रस्तोगी, द्वारा रामा बान स्टोर, जी.टी. रोड, बाकरगंज चौराहा, फतेहपुर।
२१– श्री कृपाशंकर, बी–२, आवास विकास कालोनी, सीतापुर।
२२– श्री धुन्नी सिंह, क्षेत्र पंचायत प्रमुख ऐराया, ग्रा.–अल्लीपुर बहेरा, पो.–ऐराया फतेहपुर।
२३– श्री मोतीलाल गुप्त, स्प्रिट बिक्रेता, चौक खागा, फतेहपुर।
२४– श्री राजेश सिंह चौहान, प्रांतीय अध्यक्ष : उ.प्र. भा.कि.यू., हथगांव, फतेहपुर।

बायोटेक्नोलोजी इन्टीग्रेटेड एग्रो फोरेस्ट्री प्रोजेक्ट

योजना	मूल्य प्रति बाण्ड	बाण्ड की संख्या	वार्षिक आय (रु)																		
			१ वर्ष	२ वर्ष	३ वर्ष	४ वर्ष	५ वर्ष	६ वर्ष	७ वर्ष	८ वर्ष	९ वर्ष	१० वर्ष	११ वर्ष	१२ वर्ष	१३ वर्ष	१४ वर्ष	१५ वर्ष	१६ वर्ष	१७ वर्ष	१८ वर्ष	कुल आय
कृषक बायोटिक बाण्ड	५०००	ए ५०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	११५००												१७५००
गृहलक्ष्मी बायोटेक बाण्ड	५०००	बी ५०००	–	–	–	–	–	–	२५०००												२५०००
रिटायरमेंट बायोटेक बाण्ड	५०००	सी ४०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	३२५००					४५०००	
स्वरोजगार कायोटेक बाण्ड	५००० ४०००	डी	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	६००००					६००००	
शिशुविकास बायोटिक बाण्ड	५०००	ई ५०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१७५०	१७५०	१७५०	१७५०	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	१२२०००	१५००००
दीर्घ जीवन बाण्ड	५०००	एफ ५०००	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	२५००००	२५००००

हिमखंड
ठण्डा केश तेल

धरोहर

सामयिक पत्रों में राम-भक्ति की बाढ़

शिवपूजन सहाय

श्री रामनवमी के अवसर पर अनेक पत्रों में राम-भक्ति का वर्णन दृष्टिगोचर हुआ है। हिन्दी के सामयिक पत्र प्रायः रामनवमी और कृष्णाष्टमी के अवसर पर राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का गुणगान किया करते हैं। वीर-पूजा अथवा आदर्शपूजा की भावना से निःसंदेह राष्ट्रीयता पुष्ट होती है। किन्तु, ईश्वर-भक्ति और अन्धविश्वास में छत्तीस का नाता है। हमारे देश के ईश्वर-भक्तों को यह भी सुझाने की जरूरत है कि भगवद्भक्ति निर्गन्ध कुसुम के समान है। भक्ति की आड़ में मनमानी करना भगवान को धोखा देना या ठगना है।

वस्तुतः जिसे भक्ति कहते हैं, वह कोई और ही चीज है। तिलक लगाना, पर्दे की आड़ में रसोई जीमना, किसी को भी अपना बासन-बसन न छूने देना, गोमुखी में पहर-भर हाथ डाले रहना, मनुष्य के स्पर्श से घृणा करना, यहाँ-वहाँ बचते फिरना- केवल यही राम-भक्ति की निशानी नहीं है। घंटा हिलाने, तुलसी-जल चढ़ाने, राग-भोग अर्पित करने और दोनों जून आरती उतारने से, यदि सचमुच रामजी प्रसन्न होते, तो रामभक्तों की भीड़ से भारत का इंच-इंच भर जाता। देखने में आता है कि रामभक्त के सब बाहरी चिह्न मौजूद हैं; पर भीतरी गुणों का सर्वथा अभाव है। फिर भी राम-भक्ति की ठेकेदारी बनी ही हुई है। शायद इस युग में रामजी भी बदल गये हैं।

सामयिक पत्रों को सुयोग पाकर जनता के ध्यान में यह बात लानी चाहिए कि असली राम-भक्ति क्या है। हम सगे भाई से बेईमानी और दगाबाजी करते हैं, तो भी हम आदर्श भ्रातृवत्सल राम के भक्त होने का दावा करते लज्जित नहीं होते। हम घर में अपनी पत्नी को सताते हैं, तो भी एकपत्नीव्रती राम के भक्त कहलाते नहीं सकुचाते। हम जबर्दस्ती निर्बल की धन-धरती हर लेते हैं, तो भी अनाथ-नाथ दीनबन्धु राम के भक्त बने फिरते हैं। हम पराई लुगाइयों पर डीठ लगाते हैं, तो भी अहल्योद्धारक राम के उपासक कहलाने से नहीं हिचकते। हम अदालतों में झूठ-फरेब का मकड़-जाल बुनते है, तो भी सत्यसिन्धु राम के भक्त का बाना धारण किये फिरते हैं। हम एक-एक बिस्वा जमीन के लिए घोर-से-घोर पाप कर गुजरते हैं, फिर भी सर्वस्वत्यागी राम के दास कहलाते ही हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य दुनिया में और क्या होगा ?

देहातों में लोग ढोलक-झाल लेकर जब रामायण गाने बैठते हैं, तो गला फाड़कर आकाश फाड़ देते हैं- रामायण का अर्थ करने लगते हैं, तो वेदांत बघार कर धर देते हैं-समझते हैं कि घड़ी-भर के राम-गुण गान से सारे पुरखे तर गये; मगर घर में जो असहाय विधवा को सताते हैं-बूढ़े माँ-बाप को कुवाच्य कहते हैं-भाई से बखरा-बाँट करने में साफ गंगा पी जाते हैं--अनेक दुर्व्यवहारों से अपनी विवाहिता को कलपाते हैं--किसी का गल्ला फुँकवाते और किसी का खेत कटवाते हैं--मामूली से मामूली स्वार्थ साधने के लिए गाय की पूँछ और भागवत की पोथी उठा लेते हैं- बूढ़ी, निकम्मी गौओं को कसाई के घर की राह दिखा देते हैं, उसका हिसाब नहीं लगाते। चाहे लाख कुकर्म करें, रामायण गा दिया--भजन-प्रभाती गा दिया--रामजी की छठी में रण्डी नचा दिया--गंगा नहाकर तिलक लगा लिया, बस भवसागर से बेड़ा पार हुआ--मुक्ति ससुरी घर के ताक पर रक्खी है। धन्य है हमारी रामभक्ति!

रामभक्ति की ओट में आज सारे देश में जो अत्याचार हो रहे हैं, उनसे कोई अन्जान नहीं है, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को लोगों ने मिट्टी का खिलौना बना लिया है। उनके आदर्श चरित्र का महत्व गया चूल्हे-भाड़ में। सिर्फ अपने पापों पर पुचारा देने से मतलब है। भला, वह समर्थ महापुरुष थे, उनका अनुकरण कौन कर सकता है। ऐसी भावना और ऐसी बुद्धि रखते हुए भी, यदि हम रामभक्त हैं तो समुद्र में विन्ध्याचल के तैरने में कोई सन्देह नहीं है। (१९२८ ई०)
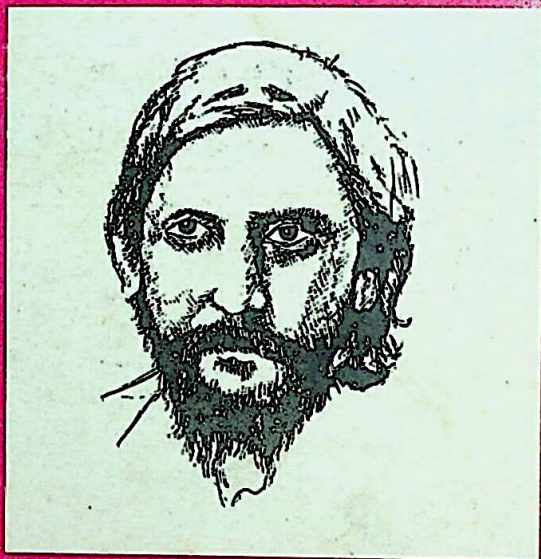
यह सच है

यह सच है :–
तुमने जो दिया दान दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन - ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है-
यह सच है !
बार बार हार हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार में नया,-
उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है-
यह सच है !

—निराला

निराला
जन्मशती पर
प्रणतिपूर्वक